ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित
उड़िया उपन्यास का हिन्दी रूपान्तर



प्रथम संस्करण : 1975
द्वितीय संस्करण : 1978
तृतीय संस्करण · 1983

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक · 378

माटीमटाल (भाग : दो)
(उपन्यास)
गोपीनाथ महान्ती

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/45-47 कनॉट प्लेस,
नयी दिल्ली-110001
तृतीय संस्करण : 1983
मूल्य : 40/-
मुद्रक
अंकित प्रिंटिंग प्रेस,
शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण शिल्पी : अवधेश कुमार

MATIMATAAL (Novel) by Gopinath Mahanti. Translated by Shankar Lal Purohit. Published by Bharatiya Jnanpith, B/45-47, Connaught Place, New Delhi-110001. Printed at Ankit Printing Press. Third Edition. Second Part. Rs. 40/-

माटीमटाल

भाग : दो

चैत चढ़ आया। चातक ताक रहा है मेघ की ओर, केला की स्त्री को डाकिये का इन्तजार है। शायद ले आये वही चिट्ठी जिसका वह मन-ही-मन सपना देखती है—'कुछ खाने को रखा है? मै जाता हूँ।' कभी-कभी हलका कोहरा दिख जाता, बरामदे मे खड़े होकर लगता कि बाड़ी के उस पार मानो दूर तक सब कुछ तैर रहा है, बीच-बीच मे किसी सपन-गढ़े बोहित की तरह का अनजाना गाछ। और कभी-कभी वनवासी मेघ ढँकते से दीख जाते, जिन्होंने कभी छतरी की थी राम-लखन-सीता के सिर पर। फिर जैसे वह बात उसे याद आ जाती। फिर धू-धू धूप झुलसने लगती, चैती हवा मे धूल उडती, केला की स्त्री लौट आती घर के भीतर। चिट्ठी आती नही, केला भी नही आता।

काम न हो तो भी काम गढना जानती है बुढिया सास। हाथ खुजलाने रहते है, रुकते ही नही। खपर-खपर पाँचो कोठरियाँ बुहारने में लगी होती, फिर दरवाजा। दिन मे कम-से-कम दो बार। भीनो को मजूरनी लगवाकर लिपवाती। परन्तु दरवाजा वह खुद ही लीपती। लो, दिन-भर का काम हो गया। धान के कोठाल के नीचे, ढेरी के नीचे, घर के कोनो में, छानी के नीचे छान-बीनकर देखती, कहाँ मूसो ने माटी खोद डाली, कहाँ बिल्ली ने मैला कर दिया है। साफ़ करने बैठो तो ढेरों काम है। कुछ नही तो चीजो को यहाँ-से-वहाँ, वहाँ-से-यहाँ, इधर-उधर ही करना—इस तरह भी काम खड़ा किया जा सकता है। और फिर कुछ विशिष्ट काम होते हैं—भिगोना, पीसना, बाँटना, बडी पारना। डाले-के-डाले बडी के सुखाकर रखे है, और भी बनायी जा रही है। सूखा नारियल पेरकर तेल निकाला जा चुका है। फिर अब नया काम मिला है, आम की फाँक मे राई भरकर अचार बनाना, पनकी पर सवार होकर बैठ पडी तो चल पडा काम-ही-काम, समय ही नही मिले। अनगिन बरसों का तरह-तरह का अचार-खटाई आदि हण्डियो में भर-महेजकर रखा हुआ है, और भी रखा जा रहा है। सहजन की फलियो का अचार,

टमाटर का अचार, वेर का अचार, नीबू का अचार। और आम का अचार तो पता नही कितनी भाँति का। अब भी हाथ रुका नही है। इसके अलावा रोज का बँधा-बँधाया काम। खाली दोनो समय गोरू-सेवा मे जुटने से ही समय कट जाये। उसपर फिर पूजा-परब-त्योहार।

दूब के दो-चार तार और वेर के पत्ते सहेजने से लेकर पैर पसारे जाँघ पर बत्ती बनाने, पचामृत तैयार करने, ब्राह्मण भोजन कराने, उन्हे विदा करने तक। कभी खुरपी लेकर बाडी की ओर निकल पडती बुढिया। झुककर बथुवे की जड़, मिरच की जड की मिट्टी को भुरभुरी करती। एक-एक पौधे की, चाहे कितना ही छोटा या बडा हो वह पौधा, जैसे सबकी अलग-अलग आवश्यकताएं हैं। और वह उन्हे पूरा कर रही है। कही कुलबुलाते कीडो की भरमार है, कहीं किसी पौधे की जड मे मुट्ठी-भर माटी लगनी है। इनमे से कौन-सा पौधा बेकार है? सब तो जरूरी है। फिर खेती की खोज-खबर रखना—यह भी रोज का एक जजाल ही है। अपना हलवाहा-जगुवाल तीन, फिर बटाईदार, खेत मे बाडी-बगीचा, आम, नारियल, कहाँ क्या लगेगा, कहाँ क्या चाहिए—इन सब कामो से लेकर मजूरों के घरेलू झझट-झगडो तक की खबर जानने-समझने तक; बिना समझे नही चलता। कोई रूठ गया है, खाना नही खाया, किसी के घर मे अशान्ति भभक रही है, मन को ठीक किये बिना उसके हाथ-पैर नही चल पाते।

बुढिया सास पर मानो हरी घास की परत-पर-परत जाल हो। जाल जकड़े है, छोडती नही। फिर भी, चाहे जितनी घनी हो, बुढिया उसे भी किये है नित-हरी, रसवाली। स्वामी कब के मर चुके, बेटा आदमी बनते ही परदेशी हो गया। बहू थी, वह निकली बाँझ। ठाकुरजी की कितनी-कितनी मिन्नते की पर उन्होंने सुनी नहीं। अबतक आस छूटी नही है। अकेले सूने जीवन को कैसे उन्होंने अपना लिया है—केला की पत्नी यह सब सोचकर आश्चर्य करती।

"आ री बहू, दो-चार कण्डे ही थाप ले। अभी न कण्डों का उपकार नही समझ रही हो, बरसा मे जब झडी लगी होगी, जलावन नही मिलेगा और लोगो के घर तीन वेला चूल्हा नही जलेगा, तब कण्डो का क्या कम आदर होगा!"

"क्यो इतना कुछ करती हो माँजी?" केला की पत्नी कई बार आपत्ति करती, "तनिक लेट जाती तो पैर ही मल देती। हर घडी इतनी मेहनत—क्यो, बेमतलब···? दो पेट के लिए दोनों जून दो मुट्ठी कुछ उबालकर खा लिया, बस। क्या होगा इतना काम करके?"

"काम कहाँ है बहू? माटी खोदती हूँ या पत्थर तोडती हूँ—इसे भी क्या काम कहा जाये! भगवान् ने हाथ-पैर दिये है तो आदमी को उन्हे हिलाना पडेगा ही! आँखें दी है तो देखेगा ही! अच्छी-बुरी बात कुछ आँखों के आगे आयी तो क्या कोई चुप बैठा रहेगा, प्राण के रहने तक? दो पेट से क्या और दो सौ से क्या होना

है ? जिन्दा रहने पर आदमी डोलेगा-चलेगा कि नही ?"

केला की पत्नी कुछ कहती नही। सास बड़ी-बड़ेरी ठहरी ! उनके साथ तर्क वह कर नहीं सकती। परन्तु जब वे शास्त्र-पुराण पढ नीति की बातें समझाने की चेष्टा करती है, किताब पर झुकी उनके चश्मा लगी आँखें और सुन्दर सौम्य चेहरे को देखकर केला की पत्नी के गहरे मन का घनीभूत व्यर्थता-बोध धू-धू कर जल उठता है। कभी-कभी ओट में बैठी हाँ-हूँ भरते-भरते उसकी आवाज भरी-मोटी सुनायी पड़ती। इसके बाद फिर एकदम चुप्पी। वह पल्लू से मुँह ढाँप गुड़मुड़ होकर बैठ जाती।

और कभी-कभी वह काठ हुई-सी बैठी रहती। जीवित पिण्ड को छोड़ चेतना मानो कहीं उड़ जाती।

चैत पूरा होते-होते कभी-कभी उसकी आँखें दूर के धुँधले आकाश में घूमती-फिरती रहतीं। दोपहर-ढले की बेला में, जब सुबह का काम शेष नही रहता या साँझ का काम आरम्भ नहीं हुआ होता उसकी सारी अपूर्णता, सारी व्यर्थता का बोझ उठाये उसकी यह सचेत घड़ी उस पर मानो छा जाती।

और तब उसके सुलगते मन में तिर जाता—सास का पुराण बाँचना, उसके साथ-साथ उनकी टिप्पणियाँ सुननेवालों के मन्तव्य, "और नही तो क्या, भला यह नहीं और क्या ?" जानते-बूझते भी अपना ध्यान वहाँ से हटा लेती। हृदय सच मान लेने पर भी मन कहता—नही, यह सच नही है। यह सच क्यों होगा ? उसके दुख का चित्र या उसका जोड यहाँ कहाँ ?

उस दिन वे और दिनो की भाँति सारला महाभारत पढ रही थी, और अनेको बड़ी-बूढ़ियाँ सुन रही थी।

' वे समझा रही थी, "ये सुना तो जुधीपठरजी महाराज जुध मे उतरने से पहले कैसे एक-एक के गले लगते हैं जाकर, ताकि जुध न छिड़े, कोई अनिष्ट में न पडे। क्या कहा उन्होंने—भीषम, दरोण, किरपाचारजजी, करण, जाने कितने-कितने लोग वहाँ थे ! वे सबके-सब तो परम ज्ञानी पुरुष थे, सारी बातें जानते थे; जानते थे कि वे मरेंगे, यह बात भी कही। तो भी अपना मारग छोड़ने को कोई राजी नहीं हुआ ! जानते-बूझते उसमें एक-एक आगे बढे और गिर पड़े। जीजी ! उन्हे ही कहा जाता है आदमी। अस्वथामा अमर वर पाये था, तो भी क्या सनमान मिला ? इतना बड़ा छत्री, उसे लडाई मे एक दिन भी अगुआ बनाकर नही भेजा, दुरजोधन ने खुद कहा—'अरे तू तो मरने से डर गया सो त्रिजीवी होने का बर माँगा था, तू भला छत्रीपण के जोग है ?' सब समझा दिया है। इस संसार को चकमा देनेवाला आदमी आदमी नही। इसी मे रहकर अपना कर्त्तव्य करने से लोग सनमान करेंगे, भला कहेंगे। और साथ मे ठाकुरजी में लगन रखी तो मुकती मिल जायेगी।"

अचानक उसी समय केला की पत्नी के दिमाग मे रट्-राट् कर कुछ जैसे टूट गया हो। उसने अपनी गोल-मटोल बाँह को हाथ से टटोला। आहिस्ते-आहिस्ते दबाने लगी। इसके बाद ताकने लगी दीवार पर टँगी हँसती हुई सिनेमा की अभिनेत्री की तसवीर की ओर। फिर उसकी आँखें जाकर ठहर गयी घुटनो पर बैठे गोपाल के चित्र पर, वही, जिसे वह बिछौने पर सोये-सोये कई बार देखती और मन-ही-मन सोचती। तभी अचानक उसके मन मे एक तरह की सनक-सी सवार हुई—उसका भी एक बेटा हुआ था, कोई उससे उसका बेटा छीन ले गया है। आँगन की ओर देखा, लाल-लाल गोंडीवाण फूल गुच्छे-के-गुच्छे दीवार पर झूल रहे है। उन लाल फूलो के रग ने मानो उसकी चेतना मे क्षण-भर में ही जैसे आग जला दी हो। अपने माथे के बालो को खोलकर बिखेर दिया, देह से धोती खिसकाकर रो उठी और छाती पीटने लग गयी।

उसी अवस्था मे वह कूदकर उठी और पछाड़ खाकर लोटते-पोटते ऊँची आवाज़ मे पुकारने लगी। पलक-भर मे सास ने पुराण पढना बन्द कर दिया। दौड आयी सब-की-सब। देखा कि केला की पत्नी ने एक नयी स्थिति पैदा कर दी है।

ये क्या हुआ उसको! आँखें लाल, मुँह लाल, चेहरे की मुद्रा कुछ अलग तरह की। सच, जैसे वह कोई मुखौटा पहने हो। आँखे चढ गयी हो जैसे, मानो उनमे शून्यता भरी हो।

"बहू, बहू! क्या बात है?"

रुलाई बन्द हो चुकी। पर कोई बात कहने पर वह सुनती ही नही। गरदन मरोड़कर एकटक देखती बैठी है। इसके बाद दाँत पीसती हुई भयंकर चेहरा बनाकर वह दहाड़ उठी। चीखने लगी, "मेरा बेटा दे, मेरे बेटे को दे, कुलखनी! नहीं तो तेरा वस सूना कर दूँगी। कहाँ छुपाया है बता! दे, लाकर दे।"

उसकी उग्र मूर्ति देखकर पीछे हटती-हटती चीखती-चिल्लाती सब स्त्रियाँ इधर-उधर भाग छूटी। हल्ला मच गया। बस्ती में, घर-घर में, खुसर-फुसर होने लगी। लोगो ने चर्चा की—यह क्या हुआ? कभी हूँ-चूँ नही, अपने सुख-दुख मे मुँह सीये पडी थी अपने घर मे ही, अब क्या हुआ उसे कि हगामा खड़ा कर दिया है। बेटा उसे हुआ कब जो कोई उसे ले गया?

पदी की माँ जब से उस दृश्य को देखकर आयी तब से उसका माथा धमक रहा था। वह घर से फिर निकली भी नहीं। चेमा की माँ डर के मारे काठ हो गयी, वह भी नही जा सकी। घर बैठकर केला की माँ के दुख मे वह केवल हाय-हाय करने लगी। और कई लोग गये, बूढ़ियाँ, बहुएँ, बेटियाँ। छोटे बच्चो को सावधान कर दिया गया। घर से बाहर नहीं निकलने दिया गया। कुछ देखे बिना ही चारों ओर एक अफ़वाह फैल गयी कि केला की पत्नी को किसी अपदेवता ने

पकड रखा है या कोई डायन या चुड़ैल उसमें प्रवेश कर गयी है।

"पाँच-गछा के पास जो वरगद है न, वहाँ कितने लोगों की वहाँ के भूत से भेंट हुई है," आरत अमीन ने बताया, "किस जुग से कह रहा हूँ कि काटकर उसका सफाया कर दो।" आरत अमीन कन्धे पर गमछा डाल निकल पड़े थे। भूत के डर से हाथ में लोहे की कील थी, कहते हैं हाथ में लोहा रखने से भूत कुछ नहीं कर सकता। बोले, "वही वरगद समझ रखो राज-भर के भूत-प्रेतों का अड्डा है। शास्त्र कहते है—अन्धकारे महाघोरे भ्रमन्ति प्रेतरूपिण —यानी अधिक अन्धकार पड़ जाये तो प्रेत लोग एक-एक रूप लेकर आदमी का मन भरमाते हैं। पुराने घने पेड़ में उनका वास होता है। इसीलिए पुराने घने पेड देखकर मुझे तो कैसा-कैसा लगने लगता है। और उस पीपल के पेड़ को क्या मामूली समझते हो? एक डाल ही तो कटी, वह पेड तो अभी भी घना है—"

धनुवाँ केवट ने कहा, "क्या सिरफ पेड़ों पर ही उनका वास है? अरे, मन्दिर में, कुएँ में, बाँस के वन में, कहीं माटी तले, नदी के पेट में इधर-उधर कहाँ-कहाँ बिखरी है देवी-देवताओं की मूर्तियाँ। किस पीढी में किस महात्मा ने उन्हें गढा होगा, भोग-भाग की व्यवस्था की होगी। सो तो अब और रहा नहीं। पर वे देवता तो है। उल्कापुर के बाँध में बड़ा जाल डालने पर काले पत्थर की दसभुजी दुर्गा-मूर्ति निकली थी! कितनी सजीव मूर्ति! आदमी-भर ऊँची। अरे वहाँ जिनकी टीले पर थापना की गयी हैं। माटी खोदते-खोदते नीचे से केवल पत्थर-ही-पत्थर की मूर्तियाँ! जिधर देखो बस मूर्तियाँ! जमीन खोदते-खोदते क्या नहीं मिल जाता!"

"सच! बात बिलकुल सच है!" चन्दरा अहीर ने कहा, "बरगद की जड और बेंतों में इधर-उधर लिपटी पडी है देवताओं की मूर्तियाँ, जगह-जगह। कौन उनकी खोज-खबर लेता है? बनी तो पूरी श्रद्धा के साथ बनी, अब वो जमाना गया, अब कौन किसे पूछता है? माटी के नीचे तो ढेर-की-ढेर मूर्तियाँ हैं, किसने उसका हिसाब रखा है?"

बूढे बासू पट्टनायक भी निकले थे। कहने लगे "ये सब मन की कल्पनाएँ है, सारी मूर्तियाँ अगर प्रकोप दिखाती तो आदमी का रास्ते चलना कठिन हो जाता। यह तो सारा देस-का-देस ही है मूर्ति और मन्दिरों का। माटी के नीचे-ही-नीचे देवता, आदमी के पैर पडते तो दोष नही लगता! अरे यह सब कुछ नहीं।"

"तो फिर उसे और कुछ हुआ है, तुम ऐसा सोचते हो?"

"मेरे सोचने में क्या रखा है, या तुम्हारे सोचने में क्या है? जो हुआ है, हुआ है। जाकर देख आओ।"

"नहीं, नहीं, एक-एक कर पकड़ता है।" बिका मुदुली ने डरते-डरते कहा, "जो आँख से देखा, उसे झूठ फिर कैसे कहेंगे? किसी का प्रेत होगा या कोई

देवता होगा। वे तो मनचारी हैं, जिधर मन किया चल पड़े। यह देह है तबतक तो कोई वडा है, कोई छोटा है। इसके छूटने पर, फिर मनइच्छा रमण करो, मनचाहे काम करो, और क्या ?''

वासू पट्टनायक खँखारकर बोले, "हाँ-हाँ—"

केला के घर के दरवाज़े के सामने रास्ते पर पुरुषों की भीड़ थी। बाहरवाली कोठरी में औरतें। झुण्ड-की-झुण्ड होकर हिम्मत-साहस बाँध दरवाज़े से अन्दर के बरामदे में जाती। कोई-कोई दल तो तनिक दूर से ही बहू को देखता, फिर लौट आता। बरामदे पर खुली पड़ी थी महाभारत की ताड़पत्री पोथी, शेष पर्व, उसके पास थोड़ा हटकर अचेत पड़ी थी केला की वह बुढ़िया माँ, जबड़े जकड़ गये थे। उन्हें उठाकर पानी के छींटे मार-मारकर अड़ोस-पड़ोस की औरतों ने चेत कराया और बाहर की कोठरी में लाकर बिठा दिया था। बुढ़िया बीच-बीच में हबक रही थी। आँखों में धार वह रही थी। पोथी, चश्मा, सब सहेजकर रखे जा चुके थे। एक दल उन्हें समझा रहा था—"धीरज धरो, ठाकुरजी को याद रखो, सब ठीक हो जायेगा, झाड़-फूँक करनेवाला आयेगा, पूजा-ऊजा होगी, तुम चिन्ता क्यों कर रही हो ?''

साँझ होती आ रही है, घर का काम पड़ा है, किसी का उधर ध्यान नहीं। इधर बहू सिर को आगे-पीछे झटक रही है, हाथ-पैर छटपटाकर थिरक रही है, जीभ निकालती है, दाँत नाना ढंग से दिखा रही है। कभी नाग की तरह फों-फों फुकारती है, कभी धमाधम नाचती है, किलकारी मारकर चीख उठती है। कभी रोती है, कभी चिल्लाती है—"दे-दे, मेरा बेटा दे! कहाँ छुपाया है, लाकर दे, नहीं तो वंश नाश कर दूँगी।" सिर के बाल खुलकर फैल गये हैं—चेहरे पर, पीठ पर। कभी उन्हें नोचती है, मुट्ठी में भर-भरकर मुँह में ठूँस लेती है, गले में लपेट लेती है। आँचल कमर से नीचे लटक रहा है। बिछावन नीचे फेंक देती है, और उसके साथ-साथ घर के बोतल, टीन, कपड़े-लत्ते, चित्र भी। कभी-कभी किटकिटा-कर हँस पड़ती है और आँगन-भर में उछल-उछलकर ताली बजाती घूमती है। लगता है, उसपर कोई आत्मा उतर आयी है।

केला की पत्नी माती हुई है। अपनी पहली चीख के बाद जब औरों पर उसकी प्रतिक्रिया उसने देखी तो उसके मन की वहक और भी गहरी हो गयी। जिस सहजता से नित्य जीवन में वह इतने दिन तक सब कुछ करती आयी थी, अचानक उसे लगा जैसे वही उसका बन्धन-बेड़ी था। उसने वह तोड़ दिया है, वह मुक्ति पा गयी है। एक-एक आवाज़ में उसका उल्लास बढ़ता ही गया। लगा, जैसे उसके भीतर बहुत दिनों से कुछ अन्दर-ही-अन्दर दबा पड़ा था, इस आवाज़ में वह मुक्ति पा रहा है। खुद को आप ही उकसाने-बढ़ाने पर उसका मन आगे बढ़ता चला गया। जब उसने देखा कि भीतर के आँगन में लोगों की भीड़ बढ़ गयी है।

और सबके चेहरों पर, आँखों में कौतूहल की, विस्मय की, भय की छाया है, और वह छायाएँ आकर मिलती हैं उसी के पास, सभी लोग उसे भिन्न समझ रहे हैं, उसमें घबकर रहने है तो वह और भी बढ़ चली। उसे विश्वास-दम्भ पैदा हुआ कि वह वह नहीं है और कोई है। उसका हावभाव, कार्य-चलन आदि इन जीते-जागते निकम्मे लोगों से भिन्न है। बहुत दिनों से मन का असुर भूखो मरा है। बँधे तूफ़ान की तरह यौवन लिये वह ससुराल आयी थी, तूफ़ान अब हो गया है आग की लपट और वह अपने आपको फाँय-फाँय जला रही है। बहुत दिनों से कामना थी कि वह पुत्रवती हो। उसे विश्वास हो रहा है, रह-रहकर विश्वास मन-ही-मन कौंध भी जाता है—वह बनी तो थी पुत्रवती। ऐसा था उसका बेटा। यह ससार कहीं से जाकर उसे छुआ आया है। यह सोचकर गरज उठता है तूफ़ान। धीरे-धीरे कार्य-कारण का विचार और बुद्धि उबटती जा रही है। बिखरे-बिखरे खयाल और भ्रान्ति की माया में उसका मन घूम रहा है नाना स्तरों, नाना सतहों पर। उसकी खूब मांसल देह उसकी चेतना के आगे मानों उसी खयाल में हवा में मिल गयी है, वह केवल खयाल-ही-खयाल है, उसके व्यवहार में है केवल मुक्त, गरम लू से भरी धूप की लहर, उत्तेजना। हाँ, वह कोई और ही है; जो पहले थी, वह नहीं है!

वह अतृप्त आत्मा, पंचभूतों से स्वयं को खींचकर, एकत्र हो, खोज रही है अपनी खोयी सन्तान को। बहुत याद आती है, कितने दृश्य याद आते है। उन्हीं यादों के बीच वह खोजती-फिरती आकर यहाँ पहुँची है। ख़बर मिली कि इन्हीं लोगों ने कहीं लुका-छिपा दिया है उसे। दिख रहा है, इस सिरे से उस सिरे तक बालू का उजाड़ फैला है। दूर पर पानी। सब जगह जैसे घूमते-फिरते वह खोज रही थी। और जो घने बाग-बगीचे दीखते, पहाड़ों की कतारें, इतने गाँव-घर, नारियल—माया की तरह सब दिख जाते आँखों के आगे। अँधेरी रात में तारों-भरा काला आकाश, चाँदनी में छलछलाता पानी, फिर उस पार सरसोंफूलिया माया का कोहरा, जिसमें से सुनायी पड़ जाती जलहंसों की कलरव ध्वनि, काला-काला बोहित की तरह क्या-कुछ तैर आता। काली छाया की तरह लोग पतवार से रहे हैं, जैसे कि वह देखती आयी है श्रीमन्दिर की भीत पर, सब जगह तो वह थी, खोजती फिर रही थी अपनी सन्तान को। अधर-ही-अधर में बहती-तैरती चली आयी थी बादलों के बीच, नीचे देखती-देखती; इधर-उधर मन्दिर के शिखर उठे हैं, सहारे से टिकी छात, पेड़ों की फुनगियाँ, और कहीं सटे हुए पेड़ों की छतरियाँ—सब एक होकर बन गयी है छायादार फ़र्श। और कभी-कभी गरजती वर्षा-आँधी में मिलकर खोजती रोती-रोती फिरी है वह। बच्चों की भीड़ देखी है पर अपने बच्चे को नहीं देखा। रास्ता दूर तक जाते देखा है, लोगों को आते-जाते देखा है, पर कहीं कोई उसके बच्चे को गोद में लिये नहीं मिला।

यहाँ उसके खोजने-खाजने का समाधान होगा, यह उसकी चेतना बता रही है। शत्रु से अपने बल पर वसूल कर लेगी वह अपना पावना। उसकी सन्तान उसे मिलेगी, और फिर वह चली जायेगी।

कोई धूप-धूना लाकर रख रहा है। किसी ने लाकर पना-छेना रखा, तो किसी ने मन्दार के फूल। कुछ लोगो ने लम्बे पसरकर प्रणाम किया। ये लोग उसकी शरण आये हैं, ताकि वह इनमे किसी का अनिष्ट न करे। धूप का धुँआ भँवर डालता कमरे मे घूम रहा है। उसने साँस द्वारा खींच-खींचकर उसे ग्रहण किया। उसे याद आया कि वह गन्ध आहारी, पवन आहारी है। सिर हिला-हिलाकर देह को थिराया-नचाया। अपने आप उसकी उत्तेजना बढती गयी थी। इसके बाद माथे मे चढा धूनी का धुँआ, उसकी उत्तेजना और बढी। इसके बाद सुना कि बाहर रास्ते पर ढोल ढाँव-ढाँव बज रहा है, ढोल के साथ महुरी चिरचिरा रही है। उसे खयाल आया, अबकी उसे नाचना पडेगा, जैसे कि उसने देखा है 'बुझा' का नाच। उसे लगा जैसे जी भरकर वह नाची है सदा, एक तीखी किलकारी भरकर वह सारे आँगन मे नाच-नाचकर घूमने लगी। कभी छलांग-भर कूदती, कभी कमर पर हाथ रख एक पैर उठा, एक पैर से नाचती। सिर के बाल बिखरकर लोट रहे है, आँख फाडे देख रही है, जीभ लपलपा रही है, चेहरे की पेशियो को नचा रही है। कहाँ से आ गयी उसके पैरो मे विचित्र ताल, देह की लहरो मे छन्द! ढोल बजा, केला की पत्नी नाची। बाजा थमा, उसका नाचना रुका। देखा, आँगन भरा है। लोग खचाखच। कितने ही आकर हाथ जोड रहे हैं। कोई धरती पर सिर रगड़ रहा है। लगा, जैसे वह इन्हे जानती है, किसके मन मे क्या दुख या चिन्ता है—सब मानो उसके सामने स्पष्ट है। उसका मन उदार हो मौन सहानुभूति और आशीर्वाद उँडेलने लगा। इसके बाद अचानक उसे वह पुरानी धक-धक याद आ गयी। जन्तु की तरह गरजकर वह चिरचिरा उठी, "दे मेरा बेटा, ला दे रे, नही तो तेरा बस नष्ट कर दूँगी रे कुलच्छनी!" पैर पसार, घुटनो से नली तक हथेली फिराते-फिराते सिर झटक-झटककर, जीभ निकाल, दाँत दिखा वह उनचास पवन उठते रोगी की तरह विह्वल शब्द कर चक्कर मारने लगी। गेल्ही की माँ, कन की माँ हाथ पकडे-थामे उसके मुँह के पास आयी। गेल्ही की माँ ने पूछा, "कौन हो माँ, तुम?"

बेला की पत्नी के मन का बहकना मानो पूरा हो गया, एक ही प्रश्न से। अब उसने सामने खड़े लोगों को देखा, और उसकी चेतना में एक धारणा उठी—ये सब मनुष्य हैं, वह स्वयं मनुष्य नही। अपने-अपने घर-बार के धन्धे मे बँधे-गुँथे होकर छोटे-छोटे आदमी है ये लोग, उससे डर रहे हैं, वह इन लोगो के दल की नही है, स्वतन्त्र है।

कन की माँ ने पूछा, "तुम कौन हो माँ, कहाँ से आयी हो? इनका आसरा क्यों लिया? कौन हो माँ तुम?"

कितने चेहरे झुके आते हैं उत्तर सुनने के लिए। मन-ही-मन सोचने लगी, कौन है यह ? बेटा खोयी माँ, यहाँ उसके बेटे को कोई छुपाये है, वह खोज रही है, बेटा लिये बिना वह नहीं जायेगी।

इसके अलावा और क्या परिचय होगा ?

कोई परिचय देने की जरूरत नहीं, गोपन ही रहे यह रहस्य, उसे अपने खोये बेटे की आवश्यकता है। बेटा चाहिए।

"कौन हो माई तुम ?"

"दया करो हे दयामयी ! कौन हो तुम, बोलो ! क्या किये तुम शान्त होओगी? क्यों इस गरीब की बहू को कलबल करती हो ?"

"कौन हो माई तुम ?"

"कौन ? कौन ? कौन ?"

ये इतनी टिमटिमाती आँखें प्रतीक्षा में बैठी हैं, चेहरे उसी की ओर उठे हैं। क्या दरकार है इन्हें इसके परिचय की ? उसका बेटा ला दें, नहीं तो मुँह में अंगारे उँडेल देगी। बाघिन की तरह नोच-खसोटकर, दुख-क्रोध सबको मिलाकर जी दहलानेवाली चीख के साथ वह चिल्लायी—"मैं कौन हूँ, इससे तुम्हें क्या मिलेगा ? मुझे मेरा बेटा ला दो। नहीं तो खाऊँगी—खाऊँगी—एक-एक कर इस गाँव के सबको खतम कर दूँगी।"

भय से चेहरा सूखा एक-एक कर सब पीछे हट गयी। पीछे-से कौन-किधर चुपके से चल दी। दबे गले में बातचीत, फुसफुसाहट, एक साथ होने तक सू-सा खट-खाट की आवाज आ रही है।

"चल री, चलें। डायन-डाकन के मुँह के सामने कौन आये ? वह पीछा पड़ी तो खा जायेगी।"

"अई, पेट में दरद उठ आया, मैं आ रही हूँ।"

"जी, छोटा बच्चा छोड़कर आयी हूँ, उठ गया होगा।"

"साँझ घिर आयी है, घर पर कोई नहीं है आज, यहाँ मेरी कोई जरूरत तो है नहीं।"

"नहीं-नहीं, यह और किसम की है, देखती नहीं खाली 'बच्चा ला दे बच्चा ला दे' कह रही है।"

"बच्चा छोड़कर माँ मर गयी। बस खोज रही है बेटा। तब से खोज रही है। किस गाछ पर आसरा किये थी ? बाड़ी की ओर सेंहुड़ा गाछ में होगी ? इसे देखा और चढ़ बैठी। अब क्या होगा, पता नहीं। भगवान् रक्षा करें, बेचारी केला की पत्नी की।"

आये हुए लोग धीरे-धीरे लौट गये, नये लोग अधिक नहीं आये। फिर भी एकाध आ-जा रहे थे।

खबर पाकर चौंकती चली आयी धान-कूटनी बुढ़िया सिपरा की माँ। पहलवान की तरह गठन है उस बुढ़िया का। सो उसका नाम ही है हनुमत बुढ़िया। आकर देखते ही बुढ़िया ने सबसे कहा, "देखती क्या हो, वह कितना परेशान हो रही है। लोहे की सीक चूल्हे की आग में तपाकर लाओ और उसकी देह में दाग दो, लाल मिरच का धुआँ दो, चाहे कोई कैसी भी हो, छोड़कर भाग पड़ेगी—"

ठीक तभी दरवाज़े पर आकर खड़े हुए सिन्धु चौधरी। उनके पीछे-पीछे छवि और छवि की माँ। सिन्धु चौधरी ने देखते ही कहा, "ऐसी क्यों हो रही है बेटी? तू तो घर की लक्ष्मी है। चित्त को थिर कर, हरि का नाम ले। जिस कारण से मन इधर-उधर सोचकर हिल उठा है, वह सब मन से पोंछ डाल। यह सब और कुछ नहीं, अपने आपको पागल करने का काम है। भागवत में कहा है—"

स्पष्ट भाव से सिन्धु चौधरी भागवत गाने लगे—

हरि विमुख प्राणी येते। से थान्ति पशुक सगते।
ताहा कु मोहे विष्णु माया। विषय रसे वढ़े स्नेहा॥
देह कु वस्तु भावे मणि। वइरि मित्र न प्रमाणि।
भ्रमइ शोक मोह पथे। अज्ञान भ्रम बुद्धि ग्रासे॥
तेणु ससार मोहे पड़ि। दु:खे सकटे थान्ति जड़ि।
हरिबोल—"

और फिर चारों ओर से स्वर उठा—"हरिबोल।"

जीवन में जब कष्ट आता है तब भागवत और हरिबोल। उस हरिबोल के उपरान्त सब आवाज़ें आप-ही-आप चुप पड़ गयीं। आँगन में लोग बैठ गये हैं, झुण्डों में। पुरुष और स्त्रियाँ, सभी जातियों के पास-पड़ोसी। यहाँ-वहाँ एक-एक लालटेन जल रही है। कई लालटेनों में मोर आ गया है।

उस सिरे पर सिन्धु चौधरी खड़े हैं। पार्श्व में स्त्रियों के साथ मिलकर छवि और उसकी माँ है। ड्योढ़ी के पास बरामदे में केला की पत्नी बैठ गयी है। सिर झुकाये, गरदन झुकाये बैठ गयी है। मानो भागवत के पद सुनकर उसका सिर झुक गया हो। अब और हो-हल्ला नहीं, हुम-हुम भी नहीं। उसी बात को सबने अचम्भे में भरकर देखा। उस अप्राकृतिक परिस्थिति में सबके मन में दृढ़ ईश्वर-विश्वास भर गया हो, और यह विश्वास जम गया हो कि उस पद से वास्तव में 'यम' चला जाता है।

सिन्धु चौधरी ने कुछ देर चुप रहकर फिर कहा, "बाल सँवार, कपड़े-लत्ते ठीक कर, मुँह धो ले, ठाकुरजी का नाम ले। पिछली बात को और न सोच!"

वह वैसे ही चुप बैठी है।

सिन्धु चौधरी ने फिर कहा, "कोई है क्या, उसे ज़रा ठीक-ठाक कर दो, कुछ खाने-पीने को भी दे देना।"

औरतों ने एक-दूसरे की ओर देखा। कोई नहीं निकली।

इसके बाद देखा, अकेली आगे बढ़ रही है छवि। साँस रोके सब उस मूर्ति की ओर देखते रहे। सबके चेहरे पर भय की छाया। मानो वह किसी जीवित गोखर नाग की ओर बढ़ रही हो। अकेली, निर्विकार! वह पन्द्रह-बीस डग का रास्ता कितना लम्बा दिख रहा है। मानो कोई स्वप्न देख रही हो। स्वप्न में क़दम-क़दम बढ़ाये चल रही हो, रुक-रुककर। पास जाकर धीमे से छवि ने कहा, "यहाँ ऐसे क्यों बैठी हो भाभी! कैसा रूप बना लिया!"

छवि ने उसका आँचल उठाकर देह ढाँप दी। माथे के बालों को मुट्ठी में भर-भरकर पीठ की ओर कर दिया। कहा, "घर में चलो, ये माथे के बालों को ठीक करना है।" धीरे-से हाथ पकड़कर ऊपर उठाया। केला की पत्नी पत्थर की तरह बैठी थी। छवि ने हाथ पकड़ा तो धीमे-से उठकर खड़ी हुई। फिर हलचल मची, अबकी आशंका भर गयी, पता नहीं क्या करेगी! कुछ नहीं किया, मानो वह खड़ी-खड़ी कोई स्वप्न देख रही हो। छवि उसकी बाँहों को हथेली का सहारा देकर उसे घर के अन्दर ले गयी। बोली, "कोई आना तो ज़रा, बिस्तर खाट पर डाल देना सो—"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "कोई औरत जाये उसके पास। बहू का जतन तो करना होगा, खाली देखने से क्या होगा?"

अबकी और पाँच-सात औरतें गयीं। बिछावन फैलाया गया, केला की पत्नी को खाट पर लिटाया गया, पखा झला गया। वह चुपचाप पड़ी रही।

"अब सो जा।" छवि की माँ ने कहा।

दरवाजे से सिन्धु चौधरी बोले, "हाँ, पहले नींद दरकार है। ठाकुरजी ठीक कर देंगे—"

"आँख मीच लो भाभी," छवि ने स्निग्ध स्वर में कहा। उसके चेहरे की ओर ताकती रही केला की पत्नी, फिर उसने अपनी आँखें मीच लीं। सच और सपन के बीच झूल रही थी उसकी चेतना। उसका चुपचाप पड़े रहने को मन कर रहा था। एक-एक कर सब चली आयीं। दरवाजे पर थी बुढ़िया शिखरा की माँ। उसके साथ सपना की माँ थी। वह केला की माँ की साथिन है, लम्बी हड़ीली औरत। आर्त्त अधीन की स्त्री ने बाहरवाली कोठरी से पूछा, "रात में कौन रहेगा, घर की व्यवस्था कैसे-क्या होगी?" वग़ैरह।

केला की माँ को सँभालने की व्यवस्था हुई। गाँव के लोग बाहर बैठ उपाय के बारे में सोचने लगे, मानो यह गाँव-भर की समस्या हो।

सिन्धु चौधरी, छवि और उसकी माँ लौट आये।

खाट पर लेटी-लेटी केला की स्त्री आधे चेतनावस्था में सोचने की चेष्टा कर रही थी। सिर में जैसे पहिया घूम रहा है। विश्वास ही नहीं होता कि इस तरह

सब थम जाता है। कभी-कभी लगता जैसे कुछ गड्डमड्ड हो गया है, और कभी-कभी ऐसा लगता मानो वह वह नहीं। पुरानी सनक याद आते-आते फिर सिर मे पहिया घूमने लगता। बस आदमी ही आदमी ! वे चेहरे सब सिलवलाते दिख जाते। उसके साथ याद आ जाना है—केला का चेहरा, सास का चेहरा। किसी चेहरे पर ध्यान के अटकते ही सिर मे फिर गोलमाल लग जाता। कभी कुछ-कुछ याद आने की तरह लग रहा है, मानो जान-बूझकर बहुत दूर आगे आ गयी है, फिर याद आते है वे ही प्रश्न—तुम कौन हो? कौन? कौन? कुतूहलमय चेहरे विभग-विकृत दिख रहे है। किसी के सारे चेहरे पर सिर्फ आँखे-ही-आँखे, किसी के सिर्फ दाँत, किसी की नाक, चिबुक नीचे झूल गयी है। कौन कितने प्रकार के है। और दिख रहे है चेहरे सिन्दूर से लिपे-भरे, जिस तरह लिपा होता है देवी की मूर्ति पर, देवी-पेड के तने पर। और दिख रहा है कि वे काली साड़ियाँ, रगीन साड़ियाँ पहने आ रही है। पुन सब कुछ उबल-उफनकर वह जाता है बाढ़ की तरह। कितने रूप, कितनी छायाए है!

"मेरा तो जी करता है मै यहीं रह जाऊँ, माँ!" छवि ने कहा।

"नहीं, बेवकूफी होगी बेटी, तू नहीं जानती।"

"नहीं, तुम क्या जानो!" सिन्धु ने बात काटकर कहा, "बेचारी के सिर मे कुछ हो गया, बस लोगो ने उसे पागल ही बना दिया!"

छवि की माँ कहने लगी, "पागल। तुम कुछ जानते हो! तुमने भागवत पढ़ी इसलिए वह चुप रह गयी, केवल डर से, नहीं तो वह चुप होती! देखना, वह फिर कैसे क्या करती है। यह क्या इतने मे ही पूरा हो जाता है?" इसके बाद उसने कहा, "धर्म भी तो कुछ है। जो दूसरो के नाम पर झूठ रटते है, उन्हे भी तो फिर कोई देखता है? अपने किये करम का फल, जिस राह से हो, मिलेगा ही!"

"छि छि, तुम यह सब क्या कहती हो?"

"नहीं, मैं क्या कुछ जानती हूँ? दोपहर मे बैठक जुटती है। गाँव की औरतें जमा होती है।"

"फिर तुम्हारा मन कीचड घाँटने को होता है?" असहिष्णु होकर सिन्धु चौधरी ने कहा, "तुम्हे मेरी सौगन्ध, वे सब बातें न छेड़ो।"

छवि की माँ चुप हो गयी। फिर भी इतना कहा, "ठीक है, ठीक है, धरम तो है!"

"ठाकुरजी को पुकार, बिचारी बहू ठीक हो जाये।" सिन्धु ने कहा। छवि की माँ ने कोई उत्तर नहीं दिया।

खबर पाकर अपने प्रधान सीधे भागा-दौड़ा गया झाड़-फूंक करनेवाले को खोजने। उसने मन-ही-मन मान लिया था कि केला की स्त्री को भूत लगा है। उसने सुन रखा था कि पुहाणपाड़ा का सिध पात्र नामी ओझा है। निष्ठा से रहता है।

झाड-फूँक करता है, भूत छुडाया करता है। कितने ही रोगों की काट है उसके मन्त्रों में। माँ शीतला के आने पर भी लोग उसे ही बुलाते हैं। पाटेली गाँव से पुहाणपाडा की राह दो कोस तो होगी ही।

बड़े तडके ही बाउरी बस्ती के मुर्गे ने बांग दी तो केला की पत्नी हड़बडाकर बिछौने से उठ गयी। सारी रात नाना अनुभूतियों मे कटी है। कभी पलकें मुँद गयी हैं, कभी वह अँधेरे मे ताक रही है, परन्तु हर दम माथे में धक-धक लगी है। नाना रूप, नाना कल्पनाएँ एक जगह घुल-मिलकर उसके मन को झुलसा रही हैं। बाद में नीद मे मातीसी उठी। फिर जैसे पुरानी सनक लौट आयी हो। उसने आवाज लगायी, "ई लो, देना मेरा बेटा, नही तो तेरा बस नाश कर दूँगी।" अँधेरे घर मे अब धुंधली-सी पौ फट रही है। अपनी आवाज उसे ख़ुद की ही खोखली लगी। उसमे बल नही, वरन् सन्देह भरा है। परन्तु कानों मे वे शब्द पडते ही उसे लगा जैसे उन शब्दो का उसी प्रकार से व्यवहार करना ही पडेगा जिस प्रकार उसने देखा है कि 'बूझा' करनेवाला किया करता है। एक आवाज पर दूसरी आवाज। फिर एक, फिर और, और। इसके बाद सिर को हिला-हिलाकर घूमर भरने लगी।

दूसरी कोठरी मे शिखरा की माँ, सपनी की माँ जाग पडी। सपनी की माँ बढती जा रही थी, शिखरा की माँ ने फुसफुसाकर उसे रोका। इसके बाद भोर हुई। सुबह उगी। केला की पत्नी पैर पसारे सिर घूमर-घूमर करने बीच-बीच मे वही बात चिल्लाकर कहती। लोग जब देखते तो केला की पत्नी अधिक उत्तेजित हो जाती, नही तो एक कमरे में सिर झुकाये बैठी रहती, सिर घुमाती रहती। फिर जब दरवाजे पर धूप खिलमिला रही थी, उसने देखा, कोई अनचीन्हा आदमी आ पहुँचा है। उमर चालीस के लगभग होगी। कसी-कमायी देह, बडा गोल चेहरा, मोटी-मोटी आँखें, मानो पत्थर से तराशी गयी हों, चौडे लिलार के बीच सिन्दूर का लम्बा टीका, माथे पर लम्बे-लम्बे अरणे बाल, कान मे मन्दार फूल खोंसे। वह एक हाथ में लिये है चिमटा, दूसरे में ताँबे का छोटा-सा लोटा, लाल धोती बाँधे है, कन्धे पर लाल गमछा। चिमटा उठा, भयकर चेहरा बना वह अनचीन्हा आदमी गरज उठा—"कौन है तू? बोल! अभी जाना हो तो जा नहीं तो देख मैं क्या करता हूँ।" उसकी नजर के सामने केला की पत्नी जैसे मुरझा गयी, छाती के अन्दर धप्-धप् होने लगा। धमकाकर बोली, "दे मेरा बेटा, तब जाऊँगी, नहीं तो खाऊँगी, खाऊँगी—"

"ले, खा—" सिध पात्र ने कहा। ताँबे के लोटे से पानी लेकर कुछ मन्त्र पढा और गुस्से में पत्थर फेंकने की तरह उसपर पानी छिड़का।

यह जरूर कोई भयंकर पदार्थ होगा, केला की पत्नी ने सोचा। बूँद-बूँद कर पानी के छींटे उसकी सारी देह पर पड़ते ही वह चिल्लायी—"ओह! ओह!"

"जायेगी या नहीं ?"

बहुत सारे लोग मजा देखने जमा हो गये थे। उसने रोप दिखाकर कहा, "नहीं।"

सिध पात्र मन्त्र पढ़ रहा था, कर्कश स्वर मे बोला, "अभी यहाँ से उठाये बिना मैं भी एक कदम नहीं सरकता। वरना तुम सब आदमी को मरने लगो तो यह सृष्टि ही नहीं रहेगी। अरे, तुम्हारे भी दिन थे, जब तुमने ऐश-आराम किये, वह समय खतम हो गया, चला गया। अब अपने करम लेकर उद्धार पाओगे या कुछ दिन भटकते हुए कष्ट भोगने पर सब मिटेगा, एक बार और जन्म लोगे या मोक्ष पा जाओगे, जो भी हो कुछ भी अपने हाथ की बात नहीं, तो हमारे साथ क्यों झकझक लगाने आये ! ये भी कोई बात हुई ?"

वह गुमसुम बैठी है, इस गरम पत्थर के जैसे आदमी के सामने। थोड़ा-थोड़ा विचार आ रहा है, सचमुच वह क्या भूत है ?

"जाती है या नहीं ?" सिध पात्र झल्लाया।

"ना, मैं नहीं जाती।"

"अच्छा, तब मेरा दोष नहीं। लाना तो चूल्हे में से सीक।" सचमुच ही हाथ मे लोहे की सीक लिये एक आदमी लाकर दे गया। सीक के दूसरे सिरे पर राख लगी है। सिध पात्र ने मन्त्र गुनगुनाते हुए उस लोहे की सीक को गमछे से पकड़ा और कहा, "इस देह को कील दिया है, अब तू इस देह मे कभी नहीं आ सकेगी। तू बहुत जजाली है, अब आँख मूँदकर पहले तुझे भागना पड़ेगा। नहीं तो लोटा-भर पानी तुझे साथ ले जाने देता।" कहते-कहते रोमांचित हो उसकी देह फूल उठी। पत्थर-जैसी आँखें दहकती आग की तरह जल उठीं। फन्-फन् करती नाक, होठ-से-होठ भिचा, खिंचा जबड़ा, उस चेहरे का ताव मानो उसके कोमल मुँह को झुलस दे रहा था। उन आँखों की ओर देखते-देखते उसे लगा जैसे वे आँखें और भी बड़ी हो गयी हैं। वह बायें हाथ में सीक लिये है। दाहिने हाथ की हथेली को हिला-डुलाकर नाना मुद्राएँ बना रहा है। केला की पत्नी की देह मे जब झिम-झिम होने लगी तो सिध पात्र की आवाज आयी, "कीलता हूँ, कील दिया है अबकी बार, जा भाग !" उसके चम्पाफूली गोरे खुले हाथ पर सिध पात्र ने चाँय से गरम लोहे की सीक का सिरा घोपकर उठा लिया था। मरण चोट खाये साँप की तरह छट-पटाकर वह इधर-उधर उछल-कूदती चीख पड़ी और फिर पछाड़ खाकर धड़ाम से मूर्च्छित-सी गिर गयी। चारों ओर से सुनायी पड़ा, "पानी लाओ, पानी लाओ—"

रास्ते पर, बाड़ी मे, भीत पर चिमटे से ठोंक-ठोककर पूजा की विधियाँ पूरी कर सिध पात्र लौट गया। और पीछे-पीछे गोठ-भर लोग। वह उस दिन का बड़ा आदमी था।

दोपहर में छवि, छवि की माँ, गुरु की माँ आकर पहुँची। उस कोठरी मे केला की पत्नी सोयी है। भीतर बरामदे में केला की माँ भागवत बाँच रही है। चुपचाप बैठी है वस्ती की स्त्रियाँ। गुपचुप धीमी बात-चीत चल रही थी। सबका थमा-थमा-सा चेहरा। मानो किसी के मुँह पर किसी के प्रति कोई असूया का चिह्न न था। सब उस एक ही गोठ के आदमी। यहाँ वे ही लोग बैठे है, जो परस्पर एक-दूसरे मे द्वेष करने रहते है, परस्पर कुत्सा रटते रहते है। कमर पर हाथ रखे एक-दूसरे की ओर गालियाँ उडेला करते है। पर यहाँ जैसे माया ने सब कुछ ढाँप लिया है। भगत महारणा की स्त्री बैठी है, कपिल महारणा की स्त्री के पास-ही-पास सटकर, जिस चाँद की नाँद बनी है फिर से, और गेल्ही की माँ, कन की माँ वगैरह भी है। इसी प्रकार की कितनी ही गाँव-भर की नागर नवेलियाँ। कोई न बडी, न छोटी, एक ही दल मे सब मिल गयी है। बडा विचित्र है यह गाँव, छवि की माँ सोच रही है, कभी एक साथ मेल-जोल, मानो एक ही घर के लोग हों, और फिर कभी फाटमफाट, झगडने को तैयार।

चुपचाप सुख-दुख की बातें हो रही हैं। किसके घर में किसे बुखार हुआ था, उसकी तबीयत कैसी है ? किसने कौन-सी तरकारी बनायी है, किसकी बहू कैसी है, किसकी सास कैसी, कौन कहाँ गया था लौटा कि नही, किसका बेटा परदेश में है, चिट्ठी दी है या नहीं ! उसी के बीच पान की देन-लेन, फुसफुसाकर स्नेह की बातें हो रही हैं। जो आ रही है ठाकुर-दर्शन की तरह घर के अन्दर जाकर केला की पत्नी को देख आकर एक-एक कर उसी पुराने दल में शामिल होती जा रही है। सोती रहे वह, जितना सोयेगी उतना ही अच्छा।

और भागवत पढ रही है केला की माँ। चेहरा सूख गया है, साँवला, पतला चेहरा अधिक मुरझाया-सा लग रहा है। आँखों पर डोर बँधा सफेद फ्रेम का ऐनक। भीड मे रहकर भी लगता है मानो वह ऊँचाई पर है, सबसे दूर है। वह दुर्बल चेहरा गम्भीर और तेजस्वी लग रहा है, सबकी सहानुभूति मानो वही जम गयी है।

छवि केला की पत्नी की खाट के पास जाकर हँसती हुई खडी हो गयी। केला की पत्नी अपने चेहरे पर धोती ढाँप हू-हू रो उठी। उसका माथा सहलाते-सहलाते छवि ने समझाया, "छि:, ऐसे नही हुआ करते, तुम्हें क्या हुआ है ?"

फिर वे वहाँ से लौटने लगी, कितनी आयी कितनी गयी, केला की पत्नी ने सोये-सोये ख़ुद को सम्हाला।

केला के घर मे जैसा, गाँव-भर में भी वैसा। भूत चला गया है, भूत के साथ-साथ लोगो के मन से ज्वाला ही बुझ गयी है। चैत की बढती धूप की तपिश मे मानो उन्होंने शरत् के आकाश की झलक पायी हो, पृथ्वी शान्त···!

ढोल ढाँय-ढाँय बज उठा, शुरू हो गया ठाकुरानी (देवी) का माजना। आर्त

अमीन की स्त्री ने अगुआ हो मुडी-नारियल ढेर कर भोग चढ़ाया, फिर बच्चों को बुलाकर थाल-भोग खिला दिया। किसी ने कहा नहीं, कोई बुलाने गया नहीं; इधरवाले घर से एक, उस घर से एक इस तरह से मकीर्तनियाँ सांग आ-आकर मांझ तक जुट गये, मृदग बजने लगा, सकीर्तन बोलने लगे; न कोई इस दल का था न कोई उस दल का, कौन आया, कौन नहीं—इसका भी हिसाब किसी ने नहीं किया। बस सकीर्तन चल रहा है, अन्धकार को ढकेलता हुआ। दल में से कहीं से लोचा नायक, कहीं से किर्णई ओझा चेहरा विकृत किये गरदन फुलाये धीरे-धीरे मेल के भीतर चल पड़े।

"आरे नदिया नवदीपने हइल जनम अँ अँ अँ अँ—

मायुणिया अपर्तिया ने मिलकर पकड़ी हुई पेट्रोमेक्स घने बरगद में झुला दी।

जुजेष्ठी धोबी ताली बजा रहा था, शाम गोब्धेश्वर अपना दल लिये ढोल महूरी के साथ प्रतीक्षा में बैठे थे, मृदग थमे तो वे चढ़ेंगे, हरि माहू पालथी मारे बैठा हुआ सिर हिला रहा था। कुछ हटकर आसन पर बैठने की तरह सिन्धु चौधरी बैठे थे। ऊपर-ही-ऊपर एक डाल से दूसरी पर उछल-कूद कर रहे थे गाँव के बन्दर!

दोपहर, सिन्धु चौधरी टहलने निकले थे। हाथ में पान का डब्बा, खुला बदन, कन्धे पर पुराना गमछा।

ऐसे कभी-कभार यादें आ जातीं—जैसे पुराने दिनों की चाकरी-जीवन की बातें। पुरानी आदत के अनुसार हाथ-पैर कुलबुला उठते। ऐसे समय घूमना ही घूमना। धूप हो, वर्षा हो, सब इस देह पर से गुजरती। सेटलमेण्ट के अधीन—वही पुरानी नीति, 'छोड़ो पितृकार्य, करो राजकार्य।' और गाँव के सिरे पर का घना बरगद—वह मानो चाकरी के दिनोंवाली छावनी की याद करा देता है, आज इस गाँव में बरगद के नीचे कुछ दिन बाद और किसी गाँव में, वहाँ भी कोई घना बरगद। छोटी झोपड़ी, घास साफ कर गोल-गोल छोटे-से कुछ तम्बू, कितने लोगों की भीड़, एक अलग दुनिया की चहल-पहल—वहाँ भी भात बनाते, आदमी खाते-पीते-सोते।

खिला है पलाश, खिली है पातिधी, पाटली, गुलमुहर और जामुन के सिरे पर लाल कोपलों का मुकुट। चिलचिलाती धूप में फूलों की लाली मानो रास्ता दिखाती ले जाती है उस अतीत की ओर, घर से बाहर की ओर, जहाँ दूर रहकर भी घर अपने घर-जैसा लगेगा, वहाँ हाण्डी में कलौंस लगते न लगते उसे फेंककर नयी जगह चला जाना पड़ेगा। तब फिर याद आते हैं वे लोग जो साथ-भाई बने

उस जगली के सिर पर के मटके दो दिख रहे हैं, पिछली की गरदन से ऊपर का भाग। अबकी उसने मुड़कर देखा, फूल और पत्तों की लम्बी-चौड़ी लहरियों के बीच मानो वह कोई और ही प्रकार का फूल हो, किन्तु वह आदमी है, वह फूल से भी बढ़कर है। ये धनु की तरह भौंहें, मानो किसी ने आँक दी हों; ये आँखें किसी आदमी की नही, सचमुच जैसे हिरनी की आँखें हों, कितनी सरल, कितनी सजल। वे हँस पडी, मानो कुरैया फूल की महक और भी बढ़ गयी, पत्तों का सब्ज रग और फूलों का दूधिया रग और भी अधिक बढ़ गया। बाकी और भी खिल उठी मानो फूलों की लहरों के इधर-उधर उन्हें चाहकर देखने के लिए दो आदमियों के चेहरे हैं—इसीलिए इस परिवेश की सृष्टि हुई लगती है, अन्य किसी कारण नहीं। सुनायी पडती जा रही है मधुमक्खी की भिनभिनाहट, और कहीं नीचे किसी पहाड़ी नदी की कलकल ध्वनि। अगले दोनों मटके नीचे के ढलान में अदृश्य हो गये, पिछला चेहरा वैसे ही है, प्रतीक्षा में···प्रतीक्षा कर रहा है।

गहरी साँस छोड़कर सिन्धु चौधरी ने आगे की ओर देखा, सूखती जा रही घास पर कोई गाय चर रही है, मटमैली। पजर के हाड चमड़ी में उभरे हुए हैं। बीच की ओर मुडे हुए सींगों की जोडी। पूँछ से पीठ बुहारने-बुहारने एकमन करने में लगी है। उभरी हड्डियों की ठठरी पर तितलियाँ बैठती हैं; वह न इधर, न उधर, सिर्फ घास की ओर नजर गडाये है।

और उधर हाँफता-धाँपता आ रहा है कोई एक अत्यन्त हास्यास्पद अष्टावक्र की गति से, उसके ऊपर-ही-ऊपर कुछ मैनाएँ हलचल करती उड रही हैं। वह कोई मटियाले रग की गोह है। उसके मुँह पर या देह में कहीं भी कोमल नरम भावों का रग या लहर नही दिखती।

केवल माटी ही माटी।

हवा में घिसटती-घिसटती उड़ रही है लाल पाटली की पंखुड़ियाँ, पाटली के फूल ढेर-के-ढेर सूख रहे हैं।

आकाश की बाढ़ में मटमैला हण्डी-धोया पानी, नीचे धूल की भँवरें और जली माटी के बीच में हरी-भूरी कुछ-कुछ घास। क्रमशः पिछली बातों को ओटकर मानो चेतना पर एक-एककर विराम पड़ रहे हैं। लगता है, यह देह बदलते-बदलते आकर किस अवस्था को पहुँच गयी, इसमें अब और उद्वेग नही होगा, छूत नहीं लग सकती इसे, साथ-साथ मन भी। काठ की तरह, धीरे-धीरे अलसाया-सा समय टालता चल रहा है यह व्यक्ति। हरियाली सूख गयी है।

कहीं से उड़ता-उड़ता आकर पहुँचा एक बगुला, सारे मैदान में कीड़े चुगता फिर रहा है। कुछ समय पहले नही था, अब वह मानो सचमुच यहाँ का निवासी है। समय होने पर ऐसे ही कहीं से वरदान आ पहुँचेगा। कर्ता उद्धार करेंगे।

वहाँ बरगद के नीचे कौन बैठे हैं? वे देखकर खड़े हो गये हैं। उन्होंने हाथ

जोड़े। पास जाना ही पड़ा। अर्पति पघान ने वेवसी दिखाकर कहा, "इतनी कड़ी धूप, किधर पधार रहे है साआन्तजी ?"

"नहीं, यों ही घूमते हुए···"

"कितना सुन्दर स्कूल चल रहा था साआन्तजी, आपकी दया से कितने वच्चे आदमी वन गये, और भी कितने होते···"

सिन्धु चौधरी ने चेहरा मोड़ा और हथेली फिर मरोडकर एक मुद्रा वनायी—जिसका अर्थ था—"थी तव, ठीक थी, न हुई न सही, इससे क्या फ़र्क पडता है ?"

अर्पतिया ने सिर झुका लिया। कहा, "दोप हो गया है साआन्तजी ! आप पिता है, हम वेटे। पिछली वातें गयी। हम अपना कसूर मान लेते है, आप पहले की तरह पढायें।"

सदा अहीर ने कहा, "यही वात कहने के लिए हम सव मिलकर आपके पास आनेवाले थे।"

यदु वराल ने कहा, "आप झूठ न मानें साआन्तजी, वात तय हुई थी कि हम सव जायेंगे। वच्चों के माँ-वापो पर जोर डाला गया है, वच्चे नही जायेंगे तो पचायत बैठेगी, उनके घरवालों को जुरमाना देना पड़ेगा।"

सिन्धु चौधरी ने पूछा, "वही सव परामर्श कर रहे थे क्या यहाँ पर ?"

अर्पतिया ने कहा, "उस वात का तो फ़ैसला हो चुका है। यह तो और एक वात आ पडी है।"

मागुणिया ने कहा, "वोल दे न !"

अर्पतिया ने कहा, "कोई लुका-छिपीवाली वात नही है जी, साआन्तजी ! हम कल फूलशरा जा रहे हैं। वन्धमूलवाले वट महान्ती के वेटे रवि वावू है। वे पास कर चाकरी-वाकरी में विना पड़े उतर पड़े है गाँव को तैयार कर आदमी गढ़ने के लिए। फूलशरा में काम शुरू है। अनेक सारे घर होते हुए भी गाँव-भर को वना दिया है एक घर। सारी ज़मीन सवकी, गाँव में कोई गरीव नही, अमीर नही, न कोई ज़ात है न कोई पाँत, सब जैसे एक कुटुम्ब हो गये हैं। इसीलिए सोचते है, जायें—"

छन्न से लगा सिन्धु चौधरी को। सव मानो उनका ही उपहास कर रहे है। मुँह से निकल पड़ा, "वाघ वनकर गये तो नही मार सके, इसीलिए क्या अव साँप वनकर जा रहे हो ? अच्छा जाओ, जाओ—"

अर्पतिया ने मानो चोट खाकर मुँह मोड़ा हो। मागुणिया ने मुँह फेर लिया। सदा अहीर और यदु वराल सिर झुकाये बैठे रहे। किसी के मुँह मे ज़वान नही। अपनी वात की जीत देख सिन्धु चौधरी उल्लसित नही हुए वरन् अपने मन की वात वाहर कर वह क्लिष्ट रूप लेकर मन के अन्दर लौट आयी, दुख देने को। हिचकते हुए उन्होंने कहा, "नही तुम्हारे उनके कुछ झगडा हुआ था न, वहाँ मेले में। वे लहूलुहान हो गये थे। तुम लोग फिर वहाँ जाओगे, क्यों? क्या जरूरत है ?

जिसे जो रास्ता दिखायी दे, अच्छा या बुरा, हमारा-तुम्हारा क्या आता-जाता है? सभी तो घर-बार छोड़, पेट के लिए अपनाये धन्धों को छोड़-छाड़कर, देश का सुधार करने लग जायेंगे नहीं !"

अर्पतिया ने कहा, "उस मेलण के मैदान से ही तो हमारे सिर में घाम उगी जी, आँख खुल गयी। हम जरा-जरा बात पर पायचे टोकते हैं, आँख रंगते है, और निर्दोष आदमी पर इतनी बड़ी चोट हुई। वे चाहते तो हमें सीधे 'मामूघर' भिजवा देते। पुलिस ने भी उनसे कितनी कहा-सुनी की पर उन्होंने किसी का नाम नहीं लिया। फ़रियाद तक नहीं की और न कोई मुकदमा किया। क्या आदमी हैं साआन्तजी! इस कलजुग में भी ऐसे आदमी होते हैं !"

मदा अहीर ने कहा, "ऐसे को ही तो महापुरुष कहते हैं। तभी न चारों ओर देखते-ही-देखते धूम मच गयी है। भातपाड़ा बाउरी बस्ती में बूढ़े गोवरे भोई ने 'बूझा' करके बताया कि सतजुग आ रहा है, फूलझरा में जो कुछ हो रहा है वह सतजुग की बात है।"

यदु बराल बोला, "केवल फूलझरा में ही लोगों को नहीं मिलाया बल्कि सुभद्रापुर के धोबई काका, भिकारी महान्ती-जैसे लोग, वे भी उनके साथ हो गये।"

सिन्धु चौधरी बोले, "हाँ, लोगों में कानाफूसी हो रही है—सचमुच, पर लोग तो बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहते है, कौन-सी बात कहाँ-कैसे सुलझेगी, यही देखना है। परन्तु मैंने सुना है कि वे लोग सिर्फ़ मेहनत कर रहे हैं, उन्होंने यह प्रण किया है कि सबको मजूर बनाकर छोड़ेंगे। उनका कोई एक नया समाज है। मैंने इस बात पर उतना विचार नहीं किया। पहले तो सब एक नया काम करने के लिए हुंकारकर निकल पड़ते हैं···और उसके बाद फिर सब ठण्डे पड़ जाते हैं। तुम्हें रास आयेगा तो? ठीक से सोच लिया है तो?"

"ठाकुरजी के दरसनों को जितने लोग जाते है क्या सभी वैरागी बन जाते हैं, साआन्तजी?" मागुणिया ने कहा, "ना, हम कभी हो सकेंगे उनकी तरह? पर प्राण पुकारते है, अतः जाने को तैयार है, शायद उनको देखकर ही हमसे कुछ हो सके।"

"मन को थिर करने से क्या होगा जी, यह मन जब परसन्न होता है तो अभय वर देता है, और जब परसन्न नहीं होता तब झकझोर देता है। योगी रघुनाथ गीत गाता है—उसी तरह का तो। असल बात हमारे अन्दर हैं, हमारे लिए तो यही हुआ कि कोप पर वरदान मिला, "नारद बीणा बजाते-बजाते जहाँ पहुँचे, रावण भी लड़ता हुआ जाकर वही पहुँच गया।"

अर्पतिया ने कहा, "हम गुस्से में अन्धे हो गये थे, बीच में पड़ गये वो। तभी हमारी आँखें खुली, हमने इतनी बड़ी आतमा को पहचाना। अपने लिए सब दौड़ते

हैं, पराये की ख़ातिर कोई निकलता है ? ऐसी ही अगर हमारी मति रही तो हमसे कुछ क्यो नही होगा ?"

सिन्धु चौधरी अवाक् देख रहे थे। यही तो है वह अर्पतिया, मागुणिया, गाँव का हुडदग-वल, विच्छू-दल। हो क्या गया है इन्हे ?

सिन्धु चौधरी बोले, "अच्छी वात है, परोपकार करने पर मन हो तो सब जगह किया जा सकेगा। जहाँ जुटोगे वही होगा। कहा-सुनी में क्या रखा है ? इसी गाँव में, क्या सारे घरो मे एक दिन चरखे नही चल रहे थे ?"

"कहाँ रह गया वह समय ?" यदु वराल ने कहा, "कहाँ गायव हो गयी वह घड़ी ? कितने लोग जीवन को तिलाजलि देकर काम मे लग पडे थे, जेल गये, भिखारी वन गये।"

सदा अहीर ने कहा, "इधर घर जलानेवाला साहव आग लगा रहा है, धर-पकड़कर अन्धाधुन्ध मरवा-पिटवा रहा है, उधर गठरी के गठरी खद्दर पीठ पर लादे लोग गाँव-गाँव भटक रहे है। छूआ-छूत नही रहेगा, झूठ-पाप रहेंगे नही, राम-राज्य आयेगा।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "उसी के लिए तो स्वराज्य आया, क्या नही आया !"

अर्पतिया ने कहा, "स्वराज आया, देखते-देखते कितनी उन्नतियाँ हो गयी, कितने काम-धन्धे खुल गये, लोग पैसेवाले बने, शहर कैसे वढते गये। सब तो हुआ पर पता नहीं क्या विगडकर रह गया। सबका मन अपने स्वार्थ की ओर झुक गया और वढता गया काला वाज़ार, घूसखोरी, झूठ, अन्याय, अदावत—"

"किसने किया यह सब ?" सिन्धु चौधरी ने पूछा, "इसके लिए दायी कौन है ? हमारी-तुम्हारी तरह के लोग ही तो ? लोगों मे लोभ वढा, फसाद वढा। इसके लिए कौन जिम्मेदार है ? आत्मा की शुद्धि किये विना, सिर्फ गुरु-वचन सुनने से आदमी त्राण नही पा सकेगा।"

अर्पतिया वोला, "उस आत्मा की शुद्धि की ख़ातिर तो ठाकुरजी के मन्दिर में जाने की जरूरत पडती है। जाकर देखने पर मन मजबूत होता है, वरना पुआल की आग की तरह हम सब भभक उठते हैं। भक् से जलें और फिर फक् से फुस कर बुझ जाते है।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "जानते हो तो ?"

अर्पतिया ने कहा, "मन के अन्दर उथल-पुथल मची है, हम सूअर की तरह दिन काटते है, उधर वे गढ रहे है एक नया रास्ता। उसी रास्ता की ही तो हमें दरकार है।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "अरे वावू, रास्ता तो सदा चारो ओर पड़ा है, चलता कौन है उसपर ? आदमी तो जव देखो 'लुब्धक-वन्धन' में पड़ा छटपटा रहा है, केवल मेरा वेटा, मेरा घर, मेरा भला, यही चिन्ता है। इसी के लिए मोह भरा है।

उससे कोई मुक्ति पावे, तब न औरों के लिए काम करेगा, देश के लिए काम करेगा, यह 'मैं'-पन को काट चुके हो न पहले ?"

मागुणिया ने कहा, "सो कौन काटेगा ?'

सिन्धु चौधरी ने कहा, " 'मैं'-पन काटे बिना अपने को घेरकर ही तो दिन जायेंगे। भला काम फिर कैसे किया जा सकेगा ? जैसे देखो, पुराने कार्यकर्ताओं में से जो टाल गये उनकी बात अलग है, पर कुछ को देखोगे कि उनमें क्षमता के लिए खींचा-तानी चल रही है। अच्छा इस बात को ही लें पहले। तुमने तो घर-द्वार की माया तोड़ी, चाकरी-वाकरी छोड़ी, अपने जीवन की ओर से लापरवाह रहे, पीठ पर लाठी बरसे या छाती पर गोली लगे, गुद जेलखाने में पड़े-पड़े चाहे सड़े, किसी बात की परवाह किये बिना आग में कूदे, पर, इसके बाद फिर तुम्हें क्या हुआ कि तुममें अपनों के बीच कलह शुरू हुई। कोई कहता है, मैं आगे, मेरी बात में सब चलें, मेरी बात रहे। दूसरा कहता है, नहीं, नहीं वैसा नहीं, लोग-बाग मेरी बात पर चलें—"

अर्पतिया ने कहा, "हूँ, बात तो वही है, सब कहते हैं मेरी सुन, मेरी सुन, मुझे मान—"

सिन्धु ने कहा, "जो जड़ से ही मतलब रखकर, सिर्फ़ भेष बदलकर इस काम में घुसता है, उसकी बात अलग है, वह तो समझो कि ठग है, छल-कपट में बातें करेगा, ताक-फ़िराक़ में लगा रहेगा, सुराग खोजता होगा। जिसने स्वयं को कार्यकर्ता कहकर स्वयं को गढ़ा है, समझ लो कि दीक्षा ली है, यज्ञ-आहुति दी है, वह भी उसी तरह जग-हँसाई क्यों करवा रहा है ? क्योंकि, बाहर जितना भी नाचे-कूदे, क्या होना है ? मन के अन्दर को शोधित किये बिना कभी-न-कभी वह स्वार्थ, वह लोभ बाहर आता ही रहेगा। जो कुछ भी करने निकलो, पहले इसी पर नज़र रखो।"

यदु बराल ने कहा, "इसे तो योगी और ब्रह्मज्ञानी कर पायेंगे। क्या हम कर सकेंगे ?"

"न सको तो चुपचाप बैठो ! बगुला-भगत बनने क्यों जाओगे ?"

"बगुला-भगत नहीं जी," अर्पतिया ने विरोध करते हुए कहा, "वो कभी भी नहीं होगा। इन प्राणों के रहते नहीं हो सकता !"

मागुणिया ने कहा, "जो हो गया सो हो गया, अब और कोई रास्ता नहीं है।"

यदु बराल ने कहा, "आत्मशुद्धि की बात जो कि आपने कही, साआन्तजी, वह बिलकुल सच है, पर वह धीरे-धीरे होगा, पहले कुछ काम करने की ज़रूरत है। इस घट से जबतक जीव नहीं जाता, तबतक 'मैं'-पन छूटेगा नहीं। बैठे रहे तो बैठे ही रह जायेंगे। आदमी फिर काम कब करेगा ? अच्छा करने के लिए निकल

पड़े तो भूल करते-करते भी काम हो जायेगा, कुछ तो होगा ही।"

सदा अहीर ने कहा, "जिसके द्वारा जितना हो सके। भगवान् ने तो अपनी मरजी से सबको बनाया है। आप बच्चों को सिखाते है, आखिर माँड़ते-माँड़ते भूल करते-करते ही तो फिर ठीक से लिखेंगे। वैसे ही।"

अर्पातिया ने कहा, "हम इस माटी-गोबर मे पैदा हुए लोग है। कीड़े, गू, मवाद —सब है इस देह के भीतर। छह रिपु है, किसी मे कम, किसी मे ज्यादा। फिर भी इस पिण्ड मे परमेश्वर है। इस पाखण्डी हिरदे मे किसी के लिए ही सही, सनेह तो है, अपने बच्चों को तो वह लाड करता है, पत्नी को देखकर तो हँसता है। उसी सनेह को बढ़ा लेने पर क्या वह परायों का उपकार नहीं कर सकेगा ?"

सोच-सोचकर कहने की तरह अर्पातिया कह रहा है, सिन्धु चौधरी अवाक् होकर देखते रहे, और सोचने लगे :: तभी तो कहा करते हैं कि दृढ तरे या मूढ तरें। वे लोग तो मानो बन्दर की तरह चिपकाये है एक ही बात को। कितना भी युक्ति-तर्क करो वे सब काटने को तैयार है। मन उड़ा है—जायेंगे-ही-जायेंगे ये लोग।

जाकर करेंगे क्या ? पूछने पर शायद कह न सकें।

मन मे कही छन्द भर गया है, दृढता आ गयी है। मानो कि 'काम करूँ-करूँ' इस तरह का एक उद्वेग भर गया है उनके अन्तर मे। रुँधा-घुटा उद्वेग, रास्ता ढूँढ रहा है।

आदमी का नया रूप खिलकर बाहर आ रहा है, चाहे इस घडी-भर के लिए ही क्यों न हो, वह नमस्य है।

आर्पातिया ने कहा, "हम फूलशरा जा रहे है। आदमी होकर कितने दोष हमने नहीं किये, बस आपका आशीर्वाद मिलता रहे।"

किसी को सम्बोधन किये बिना शून्य की ओर देखते हुए सिन्धु चौधरी कहने लगे, "जाओ, नया रास्ता देखने को मन करता है, देखो !"

अगर चोरी-चारी करोगे नही, पराया गला काटना नही है, अगर वास्तव में दूसरे के लिए प्राण रोते है, वास्तव मे मन है जगत् के मगल करने की ओर, अगर हृदय को सत पर रख सकोगे, तब जो भी रास्ता पकडोगे वही ठीक है, तब किसी की परवाह नही, या किसी से भी डरना नही।"

पारिपार्श्विक अवस्था को ग्रहण करने तक वे चले जा चुके थे। उनकी तन्मय आँखें छाँव-छाँव-सी दिख रही थी।

उन लोगों ने झुककर प्रणाम किया, फिर सिर झुकाये एक-एक कर बढ़ गये।

चले तो गये, पर उनका मन करता है कि और भी कहते, और भी कुछ कहते। दीप-से-दीप तक प्रकाश उछला है। सचमुच क्या उन्होंने चाहा था कि वे आकर दीप जलायें।

आलोक, सिर्फ आलोक है। वह पात्र नहीं या माटी का दीपक नहीं। स्वयं वह शिखा अपने अन्दर भी जल रही है, सन्देह जला जा रहा है, अँधेरा मिटा जाता है।

ध्यानस्थ होकर उस सूने दृश्य की ओर ताकते रहे। दूर, नदी की धार, नदी में कछार के सहारे भरे-भरे झुरमुट धूप में झलमलाकर हवा में खिंच जाते हैं, और उसी तरह बड़े-बड़े पेड़। खुले मैदान पर धूप का नाच नाच रहा है। भरे-भूरे पत्ते उड़ते जा रहे हैं, झुण्ड-के-झुण्ड। चेतना में सनातन समय का स्पर्श मिल रहा है, आँखों में महाकाल का ध्यान।

छोटा आदमी आगे चल पड़ा है। दल-के-दल होकर। कितने सिद्ध, कितने मुनि, कितने कवि उसके काफले में आगे गये हैं। वह विचार खिल गया है, प्रकाश में झलमल कर दिया है इस दुनिया को। हटा नहीं, चल रहा है।

भागवत का पद याद आया, हृदय पुलक में भर उठा। उन्होंने उस रूप को देखा, रथ में महाप्रभु (जगन्नाथ) विराजमान हैं।

एक के खींचने से वह रथ नहीं चलेगा, सबके खींचे आगे बढ़ेगा। कोई एक-एक कर खींचे नहीं, एक ही जोर पर सबके हाथ हों। नीचे वे ही नर-नारायण, ऊपर उन्हीं की अजेय आत्मा का प्रतीक। धन उनके हाथों का गढ़ा द्रव्य है, मूल्य वहाँ जीवन का अधिक है। देवता के माथे पर सुशोभित है थोड़ी-सी दूब, नहीं तो वह ठाठ पूरा नहीं होगा, विजय का जुलूस शुरू नहीं होगा। वह अनन्त जीवन और साधारण आदमी का प्रतीक है। वहाँ श्रम और सेवा ही धर्म है; झाड़ू लेकर चाण्डाल बनने में ही गौरव है। सारी सृष्टि ही उस देवता की परिकल्पना में विश्व-रूप है, जितने श्रमिकों के अगणित हाथ हैं उन्हीं की बाहु हैं; जितने भूखे-नंगों के तड़पते पेट हैं, उनके पेट उनकी क्षुधा ही उनकी महाक्षुधा है।

आदमी बढ़ता जा रहा है, बढ़ता जायेगा, उसे रोकने की शक्ति किसमें है!

हलकी नींद टूटती आ रही है।

रथ नहीं, वे लोग नहीं। जीवन छलक रहा है, हाथ-पैर सलमला रहे हैं। वे भी होंगे नये युग के नये अवतार! गाँव में जो नालायक थे, नगण्य थे, वे काम करेंगे, वे इतिहास गढ़ेंगे, उनकी बचपने की हरकतें देह के मैल की तरह झड़ जायेंगी, कोई याद नहीं रखेगा।

युग-युग में वे लोग ही गये हैं इतिहास गढ़ने के लिए। निपट मूरख होकर चले गये थे, कालिदास बनकर लौटे, तानसेन बनकर, सिद्ध और बुद्ध बनकर। वे लोग ही नये जीवन की पुकार सुनकर बह गये और नये बनकर लौटे थे। देश पर विपद के समय वे ही लोग बाहुबल थे, अपना गरम रक्त बहाकर मातृभूमि की चरण-वन्दना की थी, उन्होंने ही शान्ति की स्थापना की, धरम रखा था।

और वे खुद? सज्जन, पढ़े-लिखे, बुद्धिमान्, सफेद झकाझक। पढ़ा है, गाया

है, सोचा है, केवल बैठे-बैठे कि कौन-सा रास्ता अच्छा है, कौन बुरा। बैठे-बैठे बाल जूट हो गये हैं, बातें हांकी हैं, सुनने के लिए लँगड़े, लूले, बूढ़े, बुढ़िया, रोगी आदि कितने-कितने।

बस केवल कुछ लोग बैठे-बैठे, बातें करेंगे हँसते हुए।

आश्रम बना, नकली दाढ़ी-मूंछ लगा गेरुवा पहन नकली बाबाजी बनकर मन्त्र गुनगुनाये है, केन्देरा बजाकर करुण संगीत गाया है, और फिर गिर पड़े हैं, राख-खाद बन गये। उनपर गड़ी हैं सुन्दर समाधियाँ। उन्हे फाड़ा है पीपल के पेड़ ने। ढह गये ईंटो के ढेर के बीच से सियार ने मारी है पहर की चीख। वे भी पहर-की-पहर पुकार लगाते थे और चाहते थे कि नाम रह जाये युगों-युगों के लिए।

गाँव के छोकरे चले गये है, वे ही अर्पतिया, नाराणा, धूपा, मूपा, रामा, भीमा, नवा, वड़दा, बिशिया, रतना, सदा, गोविन्दा वगैरह कितने ही। माँ-बहू छोड़कर, घर-द्वार छोड़, जुग के नगाड़े बजा तूफ़ान के खिंचाव में चले गये थे वे लोग। गये थे, जायेंगे, फिर आयेंगे इस धरती पर खेत की नयी फसल की तरह।

१९२१ ने पुकारा था। शुकुटा बाउरी गांधी महात्मा का नाम जपते-जपते, लाठी के कोंचने से मरा। शिव चौधरी जेल से मरे-जैसा ही लौटा था, बाकी देह खाली थी सो आते ही उसे भी फेंक दिया। आरत पण्डा कहाँ गया पता भी नही चला। देश के लिए अपने माथे मे इतनी हित-कामना भरकर मन-ही-मन 'देश-देश' कहते छलछलायी आँखों से, आप चैन से गये सेटलमेण्ट के अमीन बनकर जमीन नापने। भले आदमी!

और लोग जीवन को तिलान्जलि देकर बने विप्लवी। कोई मरा गोली खाकर, कोई झूल गया फाँसी के तख्ते पर, कोई मरा जेल में। कपिला बन गया राजा कपिलेन्द्र देव। उन लोगो के लिए न था रायबहादुर या खाँ बहादुर का ख़िताब, दीवान बहादुर की पदवी पाना; उनके पास रुपये न थे, ऊँचे-आलीशान कोठे रहने के लिए न थे, मोटरकार न थी चढ़कर सैर-सपाटे के लिए, और न थे ठाठ इन्द्र से बढ़कर।

गाँव का वही नालायकों का दल, वह विच्छी के पत्ते-जैसे लोगो का दल, वे लोग कुछ नही बन सके।

बस केवल इतिहास बन गये, नीरव, अथल, अकूल। केवल देश को आगे-पीछे एक झटका-भर दिया था। पुरानी प्राचीर तोडने के लिए एक और धक्का, एक और ठोकर। पुराना अन्धकार काटने के लिए और एक लुआठे की आग, चाहे उसकी शिखा कितनी ही छोटी हो।

वे ही नवा, नखिया, परिया, हरिया, मूपा, धूपा, शिवा शुकुटा—गाँव-भर के नालायक!

फूलशरा गाँव में—

तपती दुपहरी, पुराने कचहरी-घर के पिछवाड़े में वे लोग कतार में बैठे थे, पास-पास, सटकर। वई मलिक, अर्पित पधान, मागुणि बेहरा, धोबेई मिश्र, नुबुरा मलिक, गंगा हलवाई, कुरुपा बउरी, उमा पशायत, रघु जेना तथा दस के और आठ लोग।

केले के हरे पत्तों पर मोटे ललवाँने भात। उनके बीच में भूरी कुल्थी की दाल का गड्ढा। धोबी घाट के पट्टे के टुकड़े की तरह आम के अचार ने मुँह निकाल रखा है। पत्ते के किनारे पर ढेर सारा बथुवे का साग, अमिया की चटनी, कटहल की तरकारी, करेले की भजिया और हृष्ट-पुष्ट कच्ची हरी मिर्च, नमक। बरामदे के उधर काँव-काँव कर रहे तीन कौवे पंख फड़फड़ा रहे हैं, प्रतीक्षा कर रहे हैं। कटहल के पेड़ पर और भी कौवे बैठे हैं। मरियल कुत्ता देह टेढ़ी किये विनय भाव दिखाता प्रतीक्षा कर रहा है। थोड़ा हटकर पूँछ टेके आम के पेड़ के तने पर गिलहरियों की जोड़ी ची-ची करती दौड़-धूप कर रही है। सामने पुराने पेड़ों की छाया पड़ रही है।

जगुआ की माँ परोस रही है। रवि के पास रुककर बोली, "कैसा बना है रे बेटे? कैसा लगा?"

"क्या पूछती हो मौसी! हाथ चाटते रह जायेंगे, यह अमृत!" ऊपर झलमलाकर दिख रहा है आनन्द। कहा, "अमृत तो मुँह में है, तुम्हारे हाथ में। अहा!"

"हजारी उमर करें रे, बेटे!—"

ये ही है उसके बलवीर बेटे, मानो उसकी सूखी बालू पर नदी की धार बह रही है। जीवन पूर्ण हो गया।

बिशिया पाण (डोम) थाली-भर भात लेकर परोसने आ पहुँचा। चारों ओर से आवाज़ें आयीं, "ला भई, बिशी, दे रे बिशी!" बिशिया ने झट-झट परोसते-परोसते सारी थाली पूरी कर दी।

गंगा हलवाई ने कहा, "कैसा बदल गया बिशिया। अहा बेचारा! पट्टनायक के घर हलवाहा बना खटता रहता था। क्या देते थे, उसे वे ही जानते। लँगोटी भी फटी-फटी थी। खटकर आने के बाद उसे बाड़ी के दरवाज़े पर खड़ा कर कुत्ते की तरह पुकारते और कहते—अबे ओ बिशिया, ला तेरा तसला। अब कौन कहेगा कि यही वह बिशिया है? अब हमारा ही साथी भाई। आयें पट्टनायक देखें—"

"बनाया कहाँ, साथी-भाई?" रवि ने उलाहना दिया, "तुम्हारे मन से तो वह भेदभाव मिटा लगता नहीं, नहीं तो मुँह से ऐसी बात क्यों निकलती? सचमुच जैसे बहुत बड़ी दया ही की हो, क्यों हम तो वैसे ही है, पहले अपनी ढपली बजाने को बेताब है। नहीं तो इतना हरिजन-उद्धार का हल्ला मचता या पंक्ति-भोजन

कराकर फ़ोटो उतरवाते ?

धोबेई मिश्र ने कहा, "बात तो सही है। पुराना पाप धो-पोछकर सब आदमी भाई-भाई बनें—यह कौन ऐसी बडी बात है कि जिसके लिए इतने ढोल पीटे जायें ? इस बात को बडी कहने तक तुम्हारा मन इस अवस्था को सहज-साधारण-सच के रूप मे ग्रहण नही करेगा। यह हरिजन-सवर्ण-आदिवासी-अनादिवासी का हो-हल्ला चलने तक असली भेदभाव बढता चलेगा।"

रवि ने कहा, "अब और उन पिछली बातो को मत कहो। एक भूल को सुधार दिया, मैला धो दिया, चलो अब सीधी राह पर। अब उस बात को दुहराकर अपनी लाज न बढाओ, पीछे की ओर मत देखो।"

अर्पातिया ने हँसी मे कहा, "पीछे की ओर देखे बिना क्या मजा ? पाटेली गाँव के पटनाहक की बात को ही लो ना। दादा थे नाहक, किसी की बेटी विदा होती तो पाठ बोलते, ॐ भगवान् विष्णौर···"

अर्पात का श्लोक सुनकर सब हँस पडे। अर्पात कहता गया, "उनके बेटे कहलाये नायक, पढ़-लिखकर नकल-नवीस बने, उनके जमाने मे उनके घर के आगे एक पट रखा गया, वे कहलाये पटनायक—

हँसी के शोर मे सब उठ खड़े हुए। जूठे पत्ते मोडना-उठाना, "दो, मै उठाये देता हूँ' 'अरे मै ले जा रहा हूँ।'" आदि चला।

धोबेई मिश्र ने कहा, "नाम के बाद की उपाधि मिटनी चाहिए पहले। युग-युग का सारा अहंकार, सारे भेद-भाव की गठरी यही है—मिश्र या महान्ती, नायक या पट्टनायक, दास या जेना—"

रवि ने कहा, "कौन कहता है, उस कूडे की टोकरी को ढोने के लिए ?"

मिश्र ने पुकारा, "विशि भाई, ओ विशि भाई—"

रवि ने बुलाया, "विशि भाई !"

सबने कहा, "विशि भाई !"

विशिया आकर खडा हो गया। कैसे नया-नया-सा लग रहा है, और कौतुकपूर्ण अजीब-अजीब-सा, गुदगुदा-सा, कोमल-सा। सब उसकी ओर देखते से खड़े है। चाकी पर चाकी की तरह पान के बीडे पर मागुणी बेहेरा का मुँह चल रहा है। अर्पातिया मुँह बाये है, मानो हँसी रोके हुए है, रघु जेना गला खँखार रहा है, गगा हलवाई की तर्जनी अँगुली और अँगूठा अपने पेट पर चिकोटी भरने कुछ खोज रहे है, उमा पशायत तिरछा देख रहा है रवि की ओर। रवि है हँसता-सा।

"विशि भाई, विशि भाई—"

मानो उसी पर एक परीक्षा हो रही है। वे देख रहे है। सारी दुनिया की निगाह है।

सचमुच क्या—?

ना, यह झूठा आडम्बर है ? ऐसे और लोग भी बुलाने आये थे, बुलाने आये थे पहले भी, जब कँपकँपाती झड-बरसा की अँधेरी रात में उन्हे मुफ़्त मे बेगार की जरूरत पड़ती। तब वे घिघियाते थे, फुसलाते थे, धमकाते थे।

और तब भी लोग बुलाने आये थे, जब उनके ही लोगों को सीढ़ी बनाकर, उनके कन्धे पर चढ, बगुले की तरह सफ़ेद-धारी वन दुनिया के सामने खड़े होकर फूलों का हार गरदन तक बढ़ाने की जरूरत पड़ी थी।

इसके बाद फिर कोई बुलाने नही आया। केवल दारू का घड़ा लुढ़का दिया। बस ख़ाली हरिजन, हरि का भरोसा।

अब है गांव से दूर हटकर—बगीचे के उस ओर खेतो के पास कही, या उजाड़ के बीच टूटे-फूटे झोंपडे दो-चार, कही मशान, कही गँदला नाला, जो जगह और किसी के काम की नही। फटे चीथड़े, गन्दगी की ढेर। सुबह उठते-न-उठते पेट मे उथल-पुथल मच जाती। बाढ आये चाहे हैज़ा, पहले उधर ही आयेगा। खाद की कुरी पर अतर छिड़कने कभी-कभार कोई आते। मीठी-मीठी बातें कहते कि तुम हरिजन हो, तुम अब अछूत नही रहे। उन बातो से खाली हण्डी मे चावल भरेंगे क्या, या टूटे घर नये होंगे ? ख़ाली आदमी की आशा।

पर यह 'भाई' पुकार वैसी नही। यहाँ एक ही हण्डी, एक ही घर है। आदमी आदमी को पुकार रहा है, छाती से लगा रहा है। सच वह इनका भाई ही तो है, उमर में सबसे बडा है। एक ही घर खडा होगा, टूटेगा तो टूट जायेगा। पराया नही। आदमी भाई-भाई हैं।

विशिया जी खोलकर हँस पडा।

और एक दिन फूलशरा गांव मे कचहरी-घर के पश्चिम की ओर हरी बाड़ के उधर दिखायी पडा—बाड के सहारे-सहारे आगे-पीछे होकर दो लाल पगड़ी एक-दूसरे का पीछा करती-सी आ रही हैं; उनके पीछे कोई मोटी हरी टोपी। कुरुपा बाउरी ने गगा हलवाई को हाथ दिखाकर कहा, "आज यह क्या अपूरब—"

गगा ने उत्तर दिया, "खुद ही पता चल जायेगा कि—"

कुरुपा ने कहा, "देश स्वाधीन होने के बाद कम-से-कम ये रंग तो बदलना जरूरी था, वरना देखो तो सही, बिलकुल पहले की तरह—अकारण पुरानी बातें याद पड़ रही हैं, वही धर-पकड, वही सब कुछ—"

गगा ने कहा, "भग, उल्लू ! लाठी अगर लाठी न होगी तो क्या बशी होगी ? तू लाठी का भाव करेगा तब न लाठी तेरी ओर आयेगी, वरना तुझे क्या डर ?"

कुरुपा ने डरने का दिखावा कर कहा, "कौन जाने बाबू, अपनी बात तुम

जानो, मेरी तो धकधकी हो रही है। लाठी से महादेव डरें, मैं क्या चीज हूँ ? लाठी के पीछे गोली—"

गंगा ने कहा, "अच्छा, अच्छा, रख रहो। इतना न होता तो रात में सो भी सकता ? बेचैन होता जा रहा है, नहीं तो और···अरे, आये हैं कोई जरूरत की बात पूछने, वो देख—"

वे आ पहुँचे। दोनों कान्स्टेबल ने चबूतरे पर झोला और लाठी रख दी। जूते खोलने के लिए झुके तो दिखा कि पीठ पर पोशाक पसीने में तर-बतर हो रही है। कर्मचारी खुले पैर फैलाकर खड़ा हो जेब से मैली-सी रुमाल निकाल पसीना पोंछने लगा।

कान्स्टेबल को आवाज दी—"अरे ओ, तीन सौ दो, दियासलाई है क्या ?"

तीन सौ दो नम्बर का व्यक्ति तबतक एक पैर से पट्टी खोलने के काम में व्यस्त था। संख्या सुनते ही पैर सटा ऊपर तनकर खड़ा हो गया। इसके बाद झपटकर खोज डाला अपना झोला, गिनने की तरह सम्हाल-सम्हालकर क़दम बढ़ाते हुए कर्मचारी की ओर जाकर हठात् ख़ुद को रोक खड़ा हो गया। बोला, "दियासलाई नहीं है, सर !"

कुरुपा बाउरी झटपट जाकर एक मोटा-सा लुआठा ले आया और कर्मचारी की ओर बढ़ाकर खड़ा हो गया। कर्मचारी ने जेब टटोलकर बीड़ी निकाली और मुँह में खोंस ली। गरदन आप ही पसर गयी लुआठे से बीड़ी लगाने के लिए; परन्तु कोयों को टेढ़े-टेढ़े उठाकर सामने की ओर देखा कि सब खड़े होकर उसे देख रहे हैं तो हठात् उनका मन बदल गया, बीड़ी फिर जेब के अन्दर चली गयी। स्वेच्छासेवी कुरुपा अपने हाथ में जलते लुआठे की आँच का यद्यपि अनुभव नहीं कर पा रहा था, परन्तु उनके तमतमाये चेहरे और जलती आँखों का ताव अनुभव कर रहा था। उमर चालिस के पास होगी, पर पचास बरस की तरह चेहरे के रूखे-सूखे भाव। परायेपन की-सी भंगिमा, खीझा हुआ चेहरा। उतने में ही वह पीठ फेर मुड़कर चला गया। पीछे से कर्मचारी ने कहा, "थोड़ा भी शऊर नहीं, कब ये लोग भद्रता सीखेंगे !"

धोबेई मिश्र ने होठ काटे। कहा, "सभ्य लोग तो सारे जाकर शहर में हैं। भला कितनी बार आप लोग पधारते हैं जो हम भद्रता सीखें ?"

कर्मचारी ने कहा, "आप लोगों ने जो किया है न, अब तो आना ही पड़ेगा। ठीक है, अरे यहाँ कोई कुरसी-फुरसी नहीं है ?"

धोबेई मिश्र मुसकरा उठे।

गंगा ने पूछा, "आपका कौन गाँव है हुजूर ?"

मागुणी अर्पति ठी-ठी हँस पड़े।

बिछावन काँख में दबाये रवि आ पहुँचा। बोला, "आइए, बैठें आप !"

"ओह, अरे आप !" बिछावन पर बैठकर कहने लगे, "आपका माथा तो ठीक हो गया लगता है, अब वहाँ पट्टी जो नहीं दिखती। इधर हमारा माथा ख़राब कर दिया।"

रवि ने हँसकर कहा, "क्यों क्या हुआ ?"

"यहाँ इतना दल बनाना-गढ़ना क्या चल रहा है। मैं पूछता हूँ, फिर से यह क्या नया ढोंग छेड़ा ? भातहण्डी का सामलाती (सहकारी), हल-बैलों की सामलाती, ज़मीन-जायदाद की सामलाती, काम-काज की सामलाती, आदमियों का गुट और सामलाती, एक जिधर चला, बस चल पड़ा गोठ-का-गोठ उधर, धनवानों की तो छाती में धुडक-धुडक कि ये क्या गुट साज रहे हैं, कहीं हमारी धन-दौलत न छीन लें, हमारी जमीन जबरदस्ती न दाब बैठें। रिपोर्ट-पर-रिपोर्ट। अच्छा, मैं कहता हूँ एक बात, आप तो पढ़े-लिखे हैं, आपके बड़े भाई पुलिस में सब-इन्स्पेक्टर हैं, आपके पिता पुराने खानदानी आदमी हैं, आप इसमें क्यों पिल पड़ें हैं !"

रवि ने उत्तर दिया, "बस इतनी मामूली-सी बात पूछने आप आये हैं इतनी दूर ? मन हुआ एक-साथ चलते हैं, आप भी चाहें हमारे साथ मिल जायें। जो पैदा करेंगे बाँट-चूटकर खायेंगे, अपने लिए सहेजेंगे नहीं। जो खा जायेंगे खा जायेंगे, जो रहेगा सो देश के लिए। स्वयं ही पका-खाकर हाण्डी तोड़ देंगे—"

सब हँस पड़े। कर्मचारी हँस न सके। बोले, "यही तो विप्लव है !"

रवि ने कहा, "यह तो आप लोग पहले से ही कहते थे।"

"कब ?"

"कल की ही बात तो है, जब महात्मा गांधी सबको एकमेक कर सूत कतवाते थे, नहीं, उससे भी पहले, जब बुद्ध ने लोगों के मुँह से कहलवाया—संघ में ही शक्ति है—या उससे भी पहले, जब रामचन्द्रजी ने···"

बाधा देकर कर्मचारी ने कहा, "आपको बातों में जीता न जा सकेगा। हूँ, इस तरह चला तो आप भी एक दिन मन्त्री बनेंगे, तब आपके जाने के रास्ते में हम सारी व्यवस्था करेंगे, आप कानून गढ़ेंगे, हम जारी करायेंगे —"

अबकी बाधा देकर रवि ने कहा, "आप वह दु:स्वप्न देखें ही नहीं। हम तो हलवाहे-मजूरे लोग ठहरे, मन्त्री की गद्दी का हमें लोभ नहीं है, जिसने पूछने के लिए भेजा है उनसे कह दें कि हमने किसी के साथ जोर-आजमाइश के लिए यहाँ अखाड़ा नहीं खोल रखा है—"

"लोगों को कह-सुनकर बहका रहे हैं तो ?"

"बहकाना-उकसाना हमारा काम नहीं है, प्रचार और बहकावे के विरुद्ध ही हमारा काम—"

"वही तो मैं कह रहा हूँ" कर्मचारी हँसकर बोले, "हम सरल आदमी ठहरे, सरल बातें समझते हैं। सरल उपाय से उनका समाधान करते हैं, इतनी बखेड़े की

-वात क्यों ?"

रवि ने हँसकर कहा, "कीजिए सरल समाधान। अच्छा, यह एक ही वात देखें, इतने लोगों के इतने त्याग और तप के फल से हमें स्वाधीनता मिली। उसमें आप लोगों का दान भी कम न था, कम-से-कम लोगों को गरम करने में तो—"

कर्मचारी ने कहा, "वे बातें फिर क्यों उठा रहे हैं? हम तो हुकुम के मनानेवाले लोग हैं।"

रवि ने कहा, "मैंने तो यों ही कहा। इसके बाद अपना देश स्वाधीन हुआ। परन्तु हमारे विचारों की दिन-पर-दिन क्या अवस्था हो रही है? हम अपना मत ख़ुद नहीं मानते। हमारे सामने दस मत हैं, जैसे कि दुकान में दस कमीज़ टँगे हैं उनमें से एक पहनना चाहते हैं, वही हमारा वेश है। हमें कैसा-क्या चाहिए, उधर अपना विचार चलता ही नहीं। स्वाधीन विचार छोड़कर हम हो रहे हैं पारी थामनेवाले। जिसके पास जितना पैसे का बल है, कूट बल है, वह अपनी तरफ उतने ही पारी थामनेवालों को ढाल लेगा। जिसकी ओर अधिक सिर उसी का मत अधिक चलेगा। दो ध्वजाधारियों के बीच मन-मुटाव होकर मारपीट लगी तो इन पिछलग्गुओं के बीच भी लग जायेगी। ऐसा होते-होते तो पश्चिमी देशों में बड़े-बड़े गुट तैयार हो गये। कुछ सन्त या भावुक लोग जो हल्ला मचा रहे हैं, उनकी बातें सुनता ही कौन है? हम उनसे बचकर थे, पर हमारे पूरब के देश भी वैसे ही पश्चिमी होने को आये, हम भी बनते जा रहे हैं मत के चाकर।"

कर्मचारी हक्के-बक्के होकर सुन रहे थे। चारों ओर एक छोटी-मोटी भीड़ जमा हो गयी थी। कहने लगे, "हमारे पुलिस विभाग में यदि सब जाति के लोग स्वाधीन भाव से काम करें तब तो कोई किसी की बात माने ही नहीं, हम चोर की रखवाली कैसे करेंगे, शान्ति की रक्षा क्या करेंगे?"

रवि ने कहा, "आप लोगों की बात दूसरी है। कर्म-क्षेत्र में आप कर्मचारी हैं। जो कानून है, उसके बाद आप भी स्वाधीन आदमी हैं, अपनी बुद्धि खटाकर अपना भला-बुरा सोचेंगे, अपना विचार ठीक करेंगे। पर और लोग तो किसी के कर्मचारी नहीं हैं वे अपना विचार क्यों छोड़ें?" प्रचार के शिकंजे में क्यों पड़ें? क्या करने से परायों का भी हित होगा, अपना भी हित, सदा के लिए सबका हित होगा —इसपर सबको अपने-अपने विचार फैलाकर सोचना चाहिए।

कर्मचारी उठ पड़े। कहा, "लोग 'दूसरों के लिए व्याकुल हैं' कहकर अपना-अपना दल-बल बढ़ा रहे हैं। बाबाजी का भेष बनाये दिन में घूम रात में सेंध लगाते हैं। कोई कुछ कहे, हमारा काम यह देखना है कि किसी तरह शान्ति भंग न हो। अच्छा बताइए, आपलोग लिखकर दे सकेंगे कि कोई गोलमाल नहीं होगा?"

रवि ने कहा, "उस लिखने का क्या प्रयोजन? आदमी जब लोहे की साँकल तक तोड़कर फेंक सकता है तो उस कागज़ के टुकड़े में क्या रुकेगा?"

"यही तो मुश्किल है। आप यह दल तोड़ दें तो अच्छा है।"

"तोड़ दें! इसका मतलब यह कि आप कहते हैं, बच्चे को जनमते ही जच्चा-घर में ही गला घोंट दें, ताकि न कोई चोर हो, न कोई मनु होगा। यह बुद्धि भी नयी नहीं है, कंस इससे पहले यह खोज कर के गये हैं। फल कुछ नहीं हुआ, एक बच्चा तो रह ही गया!"

"जी बहुत बड़ी-बड़ी बातें कह रहे हैं!" कर्मचारी ने कहा। "ऐसे कितने देखे हैं, अब क्या? ऐसे दल-फल का गढ़ना-बढ़ना सम्हालेंगे तो कानून में हमारा काम चलेगा—"

उनके उत्तर पर पहले हँसा कुरूपा बाउरी। कमर पर हाथ रख, उनके चेहरे की ओर देख हो-हो कर हँसते-हँसते लोटपोट। यही हँसी अर्पतिया को, फिर गया को आयी, फिर सब हँसने लगे। इतनी हँसी का कारण क्या हो सकता है, कुछ सोच न पाकर कर्मचारी तमतमा उठे। इसके बाद अपना भेष, अपना रूप देखने लगे। शायद कहीं कोई भूल हो गयी हो। कुछ नहीं मिला। गम्भीर होकर पूछा, "किस-लिए इतनी सारी हँसी है?"

धोबेई मिश्र समझाने लगे, "आपने जरा धमकाया, शायद इसीलिए।"

कर्मचारी गुस्से में भर गये। कहा, "क्या, मैंने धमकाया, इसलिए? इधर आना तो जरा तीन सौ दो—"

धोबेई मिश्र ने कहा, "तीन सौ दो आयें चाहे तीन सौ तीन, वह अब पुराना समय नहीं जो लोग लाल पगड़ी देखते ही भीत के कोने में जा छुपेंगे।"

"वह सब मत कहिए। क्या, हो क्या गया? जेल नहीं है या क़ानून नहीं?"

"सब है।" रवि ने कहा, "सारे कानूनों के ऊपर एक बड़ा कानून पास हो गया है—वह है भारतीय संविधान।"

"तो फिर क्या कानून तोड़ने से दण्ड नहीं मिलेगा?"

"पहले क़ानून तोड़ें तब तो? ऐसा करते आपने देखा कहाँ?"

"नहीं, नहीं, यह विप्लव—"

"सारे विप्लव दोष-भरे नहीं होते?"

"मैं एक सौ चव्वालीस लगाऊँगा।"

रवि ने कहा, "यानी, झूठा डर-भय दिखायेंगे, यही बात तो। जब करेंगे तब करेंगे, यहाँ लोगों के साथ वाद-विवाद कर उन्हें चिढ़ाने की चेष्टा करने से कुछ नहीं मिलेगा। ये लोग डरेंगे नहीं।"

"ठीक है, चलो तीन सौ दो! यह जगह ठीक नहीं।" कर्मचारी उठ पड़े। साथ-साथ पुलिस के दोनों कान्स्टेबल भी। वे चले गये।

लोगों ने कुछ नहीं कहा, केवल खड़े रहे।

रवि ने कहा, "इस तरह जाने कितना सुनना पड़ेगा। उससे हमें विचलित नहीं

होना है।"

अर्पातिया कुदाल लेकर निकल पड़ा। उसके पीछे धोबई मिश्र। बाद में पीछे-पीछे सब। वे काम पर चल पड़े।

दूसरी ओर गये तीनों पुलिस कर्मचारी, सब-इन्स्पेक्टर रामचन्द्र चौवल, समुद्र किनारे के ठेठ देहात मे टूटे हुए जमीदार घराने के वशधर, उनके साथ तीन सौ दो नम्बर का कान्स्टेबल चक्रपाणि महाकुड, घर पारलाखेमण्डी; एवं चार सौ सात नम्बर कान्स्टेबल जमलकमल मिश्र, उनका घर मयूरभंज, वारिपदा। चौवल बी. ए. फ़ेल हैं, पर खेल-कूद मे उनका नाम था। बी. ए. फेल होने पर भी अपने इलाके के बीस गाँव में वे सबसे ऊपर उठे थे आजकल की पढाई में। गाँव-गाँव में अनेक लोग थे जो पुराने जमाने की पढाई की खान थे; कोई सस्कृत और उडिया दोनो की पढाई में। हिसाब, ज्योतिषशास्त्र, वैद्यशास्त्र, न्याय आदि नाना विद्याओ मे पण्डित थे वे लोग। किसी ने किसी राजा से सोने का कुण्डल, पाट जोड़ा, तो किसी ने सोने के कगन पाये थे। लोगों की जबान पर उनका नाम अभी भी है, किसी की पदवी थी 'कवि ककण', किसी की 'कवि डिण्डिम', किसी की 'कविराज' और किसी की 'तर्क पचानन'। किन्तु उन लोगों ने स्कूल-कालिज देखे नही, न वे बी. ए. फेल वन सके, अँगरेजी जानने हो नही होंगे, बस सुनी-सुनायी दो-चार बातें 'कैट' 'रैट' 'वैट' तक। वे लोग पुराने जमाने के है—उस जमाने की तेल मे तर मशाले; उनका अब और मूल्य नही रहा।

'बी. ए. फ़ेल' इनके लिए बड़ी उपाधि है। भौहें उठा, सिर हिला-हुलाकर वे पुराने बूढे भी आपस मे कहने लगे। बातें बनाने लगे, 'बी. ए. फ़ेल!' रास्ते मे चले जाते तो चटशाल के बच्चे अवाक् खड़े होकर ताकते रहते। लोगों का यह देखना और लोगों से प्रणाम पा-पाकर जैसे वे अपनी मर्यादा-प्रतिष्ठा के बारे मे निश्चिन्त हो गये थे। बिना किसी तकलीफ़ के वे पुलिस सब-इन्स्पेक्टर वन सके, घोडा चढ़ सके, बन्दूक़ चला सके, पोशाक पहन प्रणाम दिया और लिया, समय खर्च कर मूँछें उगायी, कितने लोगों से कितने ही निमत्रण, आदर-सत्कार मिले। मन फूल उठा।

पर ठीक इसी समय ही खडी हुई थोडी असुविधा वाली बात। उनके विरुद्ध अभियोग लगाती बेनामी दरखास्तें डाली गयी, फिर नाम लिखकर लोगों ने दरखास्त दी। लोगों ने कितनी ही बातें उनके विरुद्ध जबानी कही। घटना की जाँच हुई, असुविधा हो असुविधा मे बरस-पर-बरस बीतते गये। उनके नीचे के कई लोग ऊँचा पद पा गये, उनकी और बढ़ोत्तरी नही हो सकी।

चौवल मानो साँकल मे बँधे अरणे हाथी है, केवल निष्फल गरजना ही सार है उनके लिए। पुराने जमाने का जुलमदार पुलिस का मनोभाव लेकर नौकरी आरम्भ करने का वह समय बदल गया। थोडा झुककर मिलनेवाले पहले के प्रणाम भी बारह आने कही लोप हो गये। हेर-फेर का काम करने पर पीठ पीछे

कोई नहीं। इधर बाहर लोग इतने बेकद्र, परन्तु काम की धूम वैसी। घर-घर में समस्या खड़ी है।

हाथी की खुजलाहट मिटाने के लिए कभी-कभी अवसर मिल जाता, जैसे उस बार बड़े शहर में हुआ। धूम-धूम। खींचा-तानी। ढेंकानाल रजवाड़े में आन्दोलन, ढोल-धमाका। जोश में चढ़, बन्दूक ताने रात-दिन रास्ता-बाजार सब जगह पैंतरे। वो बड़ा चौराहा—झाड़ी नाही देखन नाही—छाती फूल उठती। हाथ और भी कुलबुलाते—कि बस सामने पड़ जायें तो एक ही बार में दुरुस्त हो जायें।

पर अधिक दिन नहीं बीते कि मचनुष जैसे चरने-चरते मुँह पर तुम्बी बँध गयी हो। पहले की तरह वही खाकी पोशाक है, बूट, संगीन, पगड़ी। वे ही हाकिम हैं, जिन्होंने गोली फायर का आर्डर दिया था, और वे ही दूसरे बूढ़े, राम-नामी ओढ़ते हैं, धर-पकड़ फौज के आगे गाड़ी पर चढ़कर जाते समय कैसे लोहे के खोल की तरह खाली चेहरा दिख जाता है, आँखों में धमा-सा तूफान, रजवाड़ों के जन-आन्दोलन के समय गोली फायर के समय का दृश्य, कलीम बजर पहाड़ की चोटी पर वन जलानेवाली आग की फैली हुई धार की तरह उस चेहरे की मुद्रा। वे वैसे ही हैं, परन्तु कोई कुछ नहीं कर पाता। छाती फुलाकर, ताने कसकर अनेक बातें कहते चलते हैं शहर के साधारण लोग—कोई दुकानदार, कोई व्यापारी, कोई रिक्शावाला, कोई मेहतर, कोई कुछ। कोई पीठ पर नहीं। उलटे हुआ ये कि जो गोली की चोट खाकर मरे उन्हीं के सम्मान में सभा में भाषण दिये गये, उन्हीं के नाम पर स्मृति-मण्डप खड़े किये गये, नींव का पत्थर रखने के लिए आये हाकिम—स्वयं मन्त्री।

क्रमशः बचकानी धारणा बदल गयी। चौबल धीरे-धीरे समझ गये, दायित्व के लिए बहुत क्षेत्र है, हाकिमाई के लिए सकुचित, जुलम के लिए बिलकुल नहीं। कभी जब अँगरेज थे तब पुलिस ही थी मूल शक्ति—क्योंकि उनकी भुजाओं के बल पर खड़ा था अँगरेज-साम्राज्य। शासन का प्रधान काम था कानून और नियम बनाये रखना। इसका भार था पुलिस और कचहरी पर। तब के मुन्शी, दरोगा, सुप्रेण्ट आज नानी-दादी की सुनायी कहानी के आदमी बन गये हैं। वैसे लोग अब भी हैं वरन् पहले से अधिक हैं, लेकिन वे अब सर्वेसर्वा नहीं हैं, वे एकमेव नहीं हैं। जन-सामान्य के हाथ में क्षमता आयी है। बुद्धि हुई तो वह अपनी क्षमता का प्रयोग कर सकेगा। कुछ न कर सका तो वह इधर अधिकारियों के पास दरख्वास्त भेज सकेगा, उधर राज्य की सभा में प्रश्न पूछने के लिए किसी लोक-प्रतिनिधि के जरिये चेष्टा कर सकेगा। क्षति न कर सका तो भी अड़चन तो खड़ी कर ही देगा।

चौबल धीरे-धीरे इन सबका भी आदी हो गया, परन्तु कभी-कभी बेचैनी-सा अनुभव करता। हाथ मसलता, मन आतुर-कातुर होता। फिर होश आने पर

पश्चात्ताप करते।

उस जगह को छोड़कर बाहर आने पर उनके दिमाग की गरमी उतरी जा रही थी। व्यर्थ ही डींग मारा—बिना कोई ग़लती पाये किसी का वे क्या कर लेंगे ! मेलण के मैदान में मार-पीट हो गयी पर मुकदमा खड़ा करने के लिए कोई साखी नहीं मिल सका। और फिर यहाँ गाँव-भर मिल गया है, कोई दो-एक ही अलग होंगे, ऐसे में क्या किया जा सकता है ?

"कुछ करके फायदा भी क्या है ? तुम क्या कहते हो थ्री नॉट टू ?" उन्होंने गम्भीर होकर कहा, "समय तो जैसा देखते हो, कौन-सी बात स्थिर है ? आज जिसे मामूली आन्दोलन समझते हो, कल वह इस देश की चलन की धारा में नहीं आयेगा—यह बात कौन कह सकता है ? आज जो लोगों को सिर्फ़ बहका रहा है, कल वह मन्त्री नहीं होगा—यही कौन कह सकता है ?"

चक्रपाणि महाकुड़ ने कहा, "हाँ हुजूर, वैसा भी तो हुआ है। लोक-प्रतिनिधि बनने के लिए सबके सामने रास्ता है। एक बार हुए तो फिर मन्त्री भी उन्हीं में से होंगे—"

"सबको रास्ता कहाँ ? हमें क्या रास्ता है ?"

"चाकरी में रहने तक नहीं है, सर ! चाकरी छोड़कर ही तो लोक-प्रतिनिधि बना जा सकेगा, हमीं में से तो लोग बने हैं। कौन नहीं बना ? घोड़े का साईस बना है, राजा बना है; लोग जिसे कहते थे कि ये लोगों की मूँछें उखाड़ता था, पीठ से चमड़ी उधेड़ लेता था, वे भी बने हैं। जिसे कहते थे कि काला बाज़ार करता है, घूसखोरी करता है, वे भी बने हैं। और सन्त-बाबाजी भी लोक-प्रतिनिधि बने हैं। सब तकदीर की बात है, हुजूर ! आदमी का प्रारब्ध ! जिसे जब जो जोग पड़ा—"

अमलकमल मिश्र ने कहा, "किसी ने किसी की बाड़ी से एक घौद केले की चुरायी, हम गाँव-गाँव में इन्क्वारी करते फिरते हैं, और उधर लाखों रुपये लूटने की फिराक में बड़े लोगों ने जाल बिछा रखे हैं, वे ही फिर औरों पर हुकुम चलाते हैं। यही सब देखते-देखते तो राज-भर के लोगों में सारी बातों पर अविश्वास-सन्देह भर गया है। कोई ज़रा-से कसूर पर या बिना दोष के ही हड़बड़ा रहा है तो किसी के उस दोष में सराबोर होने पर भी उसकी जय-जयकार हो रही है। ग़लत रास्ते की रोक-थाम क्या होगी। ग़लत काम करने पर भी उलटे पुरस्कार मिलता है। ऐसे में कौन किसकी बात मानेगा, क्यों मानेगा ? हम कितने ही ज़ोर से लोगों को समझायें, फिर भी वे हमारी बात पर विश्वास क्यों करेंगे ?"

चौधल ने कहा, "सच है, पर हमें ये सब चरचा नहीं करनी चाहिए। हम ठहरे चाकरीवाले आदमी। फिर भी इस गाँव की बात लो, देखते ही जान गये कि खूब पक्का दल है। हम तो देखते हैं, जानते हैं सब। एक सौ सात या एक सौ

चवालीस लगा देने से क्या होगा ? प्रमाणित क्या करोगे ? बाद में खुद ही फ़ालतू लज्जित होने की बात···"

चक्रपाणि ने हाथ दिखाकर कहा, "जी देखिए सर, वहाँ क्या कर डाला ! क्या थी वह जगह, अब क्या हो गयी ! कितने बच्चे वहाँ पढाई कर रहे हैं, लगता है जैसे गाँव-भर के सारे बच्चे जमा होकर पढ़ाई में लगे हैं। सभी गाँवों में ऐसा ही होता तो···!"

बच्चों की आवाजें आ रही हैं, उनमें अद्भुत क्षमता भरी है, तीनों ने वहाँ खड़े रहकर उधर देखा। पहले वहाँ बगीचे में इधर-उधर बस घास-फूस भरी थी। झाड़ियाँ उग आयी थी। अब साफ़ कर दिया गया है। केवड़ा, कमारी, बघनखी आदि सब। बगीचे के नीचे काट-छाँट, लीप-पोत, बुहारकर समतल बना दिया है। केवल उसके किनारे-किनारे साडी की किनारी पर बनी बेल की तरह फूलों का बग़ीचा। बीच-बीच में पेड़ों के नीचे टीले पर शिक्षक जमा होकर बैठे हैं। सामने बच्चे हैं। उस ओर लम्बी कतार में स्कूल-घर भी है। परन्तु पढाई चल रही है बगीचे के पेडों की छाया में।

कान्स्टेबल अमलकमल मिश्र ने कहा, "वो गाछ के पास जो छरहरा बच्चा है न, कान में बालियाँ पहने हुए है, वह बिलकुल मेरे नटखट बच्चे की तरह है। मेरा तो यहाँ बाहर घरों में भटकते-भटकते ही दिन बीत जाता है। घर में वह कूदता फिरता है या चटशाला जाता है, कौन देखे।"

कान्स्टेबल चक्रपाणि ने गहरी साँस छोड़कर कहा, "मेरी भी यही दशा है।" चौबल भी कुछ ऐसा ही सोच रहे थे। मुँह से चाहे न कहें, पर कैसा परिवर्तन इस गाँव में हुआ है, वह तो रास्ते से ही आँखें पहचान लेती हैं। पुराने घर ठीक-ठाक किये गये हैं, क़तार-की-क़तार नये घर। चौड़ा चबूतरा, चिकनी दीवारें। बरामदे की दीवारों पर सुन्दर आलपना आँके गये हैं। घर के आगे गुहाल नहीं है, लिपे-पुते साफ़-सुथरे घर के सामने के दालान, चबूतरा और घर के सामने छोटी-सी फुलवारी। किसी का घर टूटा-फूटा नहीं, किसी की दीवार में दरार नहीं छान दबी नहीं। इसी महीने नयी बाँधी गयी छान सोने की तरह झलक रही है। थोड़ी-थोड़ी दूर छोड़कर बड़े-बड़े छप्पर-घर चारों दिशाओं में चार क़तार में बने हैं। उनमें भी फिर खिड़कियाँ हैं। छाया तले खाद की कुरी, उसपर उढ़ावन। जगह-जगह पर ख़ूब बड़ी-बड़ी बाडी, ख़ूब खुली जगहों पर बड़े-बड़े खेत, उनके बीच में छोटी-छोटी मेड़ नहीं है। उनमें कई में हल चला, खाद डालकर बीज बोने को तैयार हो चुके हैं। फिर यह स्कूल।

उन्हें रुका हुआ देख गाँव का एक बूढ़ा पास चला आया और कहने लगा, "चलें, ज़रा देख लें हुज़ूर, बच्चों को कुछ दो बातें कहें—बीघे-भर खेत में भारत का नक़्शा बनाया है। भलाई के लिए करनेवाली बात। दस जनों की बुद्धि एक

साथ मिलने पर जो होता है वही, और क्या ?"

देखने को चौबल का मन कर रहा था, पर गाँव के किसी एक के ठीक वही बात कह देने के कारण उसकी वह इच्छा मर गयी। उलटे मन में विरोध-भाव उपज आया। कहा, "बच्चों का गोठ तो बैठा दिख रहा है, और जाकर अधिक क्या देखूँगा ? बस ऐसा ही मन सदा बना रहे तो ठीक है। नही तो अगली बार आकर देखने तक आठ-दस बच्चे भी देख पाना मुश्किल—"

"अघोरी—घरबारी सब आते हैं हुजूर, दोनों जून, कोई नागा नही करता। किसी के घर से कोई नही आता हो सो बात भी नही। अभी हैं डेढ़ सौ बच्चे, आस-पास से और भी आ रहे हैं। खेल, पढ़ाई, काम-धन्धे कितनी बातें सिखायी जाती हैं। पहले गाँव का सारा काम सीखते हैं—खेत का काम, बढ़ई, लुहार, जुलाहे, तेली आदि की सारी वृत्तियाँ, उमर और बुद्धि के अनुसार, जो जितना सीख सका, उतना ही। गाँव में जो जितना जानता है आकर बच्चों को बताता है, समझाता है। अभी आप आये हैं, आप भी दो नयी बातें सिखा जाते—"

"अच्छा, अच्छा, देखेंगे बाद में कभी—"

वे लोग चले गये।

रास्ते में एक जगह हल चल रहे हैं। उनके पीछे-पीछे तीन थाक होकर पन्द्रह हल एक साथ।

महाकुड़ ने उधर हाथ दिखाकर कहा—"बाप रे !"

मिश्र ने कहा, "हमारी तरफ आदिवासियों में भी जगह-जगह ऐसा ही होता है। एक साथ मिल-जुलकर खेती करने से अच्छा होता है।"

चौबल कहने लगे, "एक आदमी के बल की बजाय दस जनों का बल अधिक होता है। अपनी अकेली खेती से सामलाती खेती और भी अच्छी। सब अच्छा, पर सदा यह मन यह मेल रहे तब तो ! दो दिन बीतते ही तो कलह लग जायेगा। वह कहेगा, अमुक खा गया मुझे नही दिया, यह कहेगा कि मैं क्यों काम करूँगा वह क्यों बैठेगा, और कोई कहेगा कि मेरी मानता कम क्यों हुई, उसकी अधिक क्यों और फिर चलेगी एक-एक कर टूटने की परम्परा कि सब टूटकर अलग हो जायेंगे। सब जगह यही होता आया है, आदमी का स्वभाव ही ऐसा है, दो दिनों की 'हाँ' में क्या मिलेगा ? चलें हम सब—"

महाकुड ने कहा, "आदमी का हृदय पुकारता है एक होने को, परन्तु अपना किया काम दूसरे जैसा हो न सके तब एक-दूसरे में फूट पड जाती है।"

अमलकमल मिश्र ने सिर हिलाया। बोले, "सच है, कोई कलह करना नही चाहता, अशान्ति नही चाहता। क्या कोई सचमुच चाहता है दूसरे को लहूलुहान करना ? किसी की भी जान लेना ? जाने कैसे क्या हो जाता है कि फिर यही आदमी पशु से भी बढ जाता है, और दूसरे क्षण कुछ नही रहता।"

से शहर में जाकर लोहे के कारखाने में काम करने लगा, और अब कौन जानता है, यह सब काम !"

रघु पट्टनायक ने कहा, "यह काम वैसा ही है ! कभी कड़ी धूप मे नदी कही नीचे चली जाती है, गड्ढे-पोखरी सब सूख जाते है. पानी उठता कहाँ से?" बलियार सिंह ने कहा, "भाड़े पर खेत लेने पर उतना भाडा चुकाने को किसके पास पैसा है ? हमारा पम्प खराब हुआ पडा है पर जहाँ पम्प ठीक है, जैसे बुद्धि-साही गाँव मे वहाँ कितने लोग पम्प से काम ले रहे है ? देखे, समझें, ये हमारे काम का नहीं है । पानी होने पर टेड हम चलायेंगे, नाले में नदी का पानी आता तो एक आड़ी बाँध डाल देते और नाले को काटकर खेत तक ले जायेंगे । यह सदा के लिए होगा, सस्ता होगा, और ये जन्तर-मन्तर हमें नहीं जँचेगा ।" कई लोगों ने उस बात का समर्थन किया । पुरखा आदमी, बटी साहू ने अपने अँगोछे से पसीना पोछते-पोंछते सार रूप मे बात कह दी, "ये सारे काम हमारे देहातों में नहीं जमते, फ़ालतू में यह इस गाँव को आया, सामलता मे पैसे गिने जायेंगे, गाँव मे बुराई आयेगी।"

ये सब वो सुन चुका है, केवल पम्प की ही बात नही, और भी वैसी ही कई बाते है । जेठ की धूप । वो उधर पोखरी की पाल पर खजूर के दो झुरमुट खड़े है, दोनों मे ढेर-के-ढेर खजूर के फल लगे हैं, कसकर गुँथे हुए है, पक गये है, गाढ़े लाल । उसे किसी ने नही लगाया, उसके लिए किसी ने यत्न नही किया, फिर भी खजूर का पेड़ बढ़ा है, फल देता है, फल पकते है, पर यह बेचारा पम्प !

विज्ञान, परिश्रम, त्याग, कौशल, योजना, धन कितने उपादान एकत्र कर वह गढ़ा गया, कहाँ कितने ऊसर-मरु में उसने फसल पैदा की है, कितनी आशा के साथ भेजा गया था, इस सुदूर देहात मे। इन्होंने उसका मूल्य समझा नहीं, वह रद्दी होकर पड़ा है।

अब क्या उत्तर देगा वह ऊपरवालो को ?

और यह अन्न-भण्डार । गरीब बेचारे अकाल मे सस्ते सूद पर धान उधार लेंगे, अत कितना ख़रचा कर यहाँ धान जमा किया गया । कारबार चला भी दो-तीन बरस । फिर कहाँ, इस साल धान की वसूली के समय दस आने लोगो ने धान लौटाया ही नही । काग़ज़ है, धान नही । कैसे वे लोग इतने स्वार्थी हो सके ! यह भी नहीं समझ सके कि धान लौटाने पर दुखी-गरीबो का उपकार होगा । इसके लिए भी उसे ही जवाबदेही करनी पड़ेगी।

दो बरस पहले इस गाँव मे पोखर खुदाई के लिए रुपये आये थे। पोखर खुदता, मछली छोड़ी जाती, बढती। जो हो रुपये मे चौदह आने डाकघर मे रखे है, उडे नही, बाकी जो दो आने अगाऊ के दिये गये थे उनसे काम हुआ नही। कारबरदार तो कहते है कि दस गुना काम हुआ था, बरसा में सारा दब गया। वे

मुक़दमा लड़कर अपनी बात रखने पर। आमदा हैं, रुपये लौटायेंगे नहीं, और काम करेंगे नहीं। और एक दल कहता है कि उनमें आधे पैसे तो गाँव की रामनवमी में ही खरच हो गये, और किसी ने कुछ किया ?

गाँव की यह जो सड़क पड़ी है, उसमें फिर कितने गड्ढे ऊबड़-खाबड़ हैं। गाड़ी नाचती-नाचती कूदती-कूदती आयी, उस काम में भी कितनी टालमटोल—महीना नहीं, बरस बीत गया। कौन उस काम को लेगा, इसके लिए दल-बन्दी, ऊपर तक दरख़ास्तबाज़ी, धर-पकड़ की तब जाकर काम सुलटा। पर अब कहते हैं कि सड़क के किनारे पुरानी खन्दक थी, उसी के किनारे तोड़-खरोंचकर गारे की साखी गढ़कर चौकोर गड्ढा दिखा हिसाब चुकता कर लिया और पैसे खींच लिये। एक दल इधर की कहता है तो और एक दल उधर की कहता है।

क्या करने से लोग समझेंगे कि यह गाँव अपना है, यह काम अपना है, अपने घर की चिन्ता और घर के काम में बढ़कर ज़रूरी है—सबका सामूहिक मंगल और काम। ये बातें केवल किताबी या प्रचार की बातें नहीं हैं, एक विराट् स्वाधीन देश के जीवन-मरण की समस्या है। इसी पर सब निर्भर है। पता नहीं कब आयेगी ये चेतना !

खयाल आया, कहीं से कोई सड़ांध में भरी हुई दुर्गन्ध तैर आती, उबकाई-सी आने लगी। पता नहीं कब से यह दुर्गन्ध उठ रही थी, मानो उसकी अनुभूति में यह मिल गयी है, ख़ुद-ब-ख़ुद उसके अन्दर एक उद्यम चल रहा था—उसे पहचानने और नाम देने का। पुरानी बात का तार पकड़ते हुए उसने कहा, "कैसी है, यहाँ यह दुर्गन्ध ? कुछ मर गया है क्या ?" और ज़ोर से सिगरेट खींची। उसके प्रश्न से मानो सचमुच दुर्गन्ध ने नया रूप धारण कर लिया हो। अचानक सब उस बारे में सोचने लगे। एक ने कहा, "हाँ, सच तो, कोई कुत्ता मरा पड़ा है कहीं। दूर फेंक देते तो क्या हो जाता ?"

फिर इस मन्तव्य पर आलोचना हुई। प्रधान ने कहा, "देखें तो सही इन लोगों की बात ! सड़कर कीड़े पड़ गये, सड़ांध से उबकाई आ रही है, पर उठाकर फेंक देने को किसी का हाथ नहीं जाता—"

"कहते ही हो, तुमने ख़ुद फेंक क्यों नहीं दिया ?" भीड़ में से किसी ने बात फेंकी। उसका समर्थन भी एक ने कर दिया, "सच तो, जीभ हिलाने में क्या देर लगती है, पर काम कहाँ ?"

बलियार सिंह ने रुककर कहा, "ज़माना तो बदल गया, और क्या करें ? इस गाँव के चमार भी मिज़ाजी बन गये, हुज़ूर ! नहीं तो एक ज़रा-सा कुत्ता तीन दिन तक पड़ा सड़ता रहे ? उन्होंने न उठाया तो क्या तुम्हारे दरवाज़े पड़ा रहे, यों ही, क्यों ?"

"बात तो ठीक है, और अब किसके हाथ या पैर हैं जो कोई कुछ करेगा ?"

उसने व्यंग्य करते हुए कहा, "मुरदा उठाना तो समझो चमारों का ही काम ठहरा, और क्या ? उन्होंने अगर न उठाया तो पड़ा रहे, वैसे ही तुम्हारे द्वार के आगे ?"

"पहले से ही यह रीत चली आयी है न, हममें से कोई करेगा ?" वलियारसिंह ने कहा, "गाँव की नीति में जिसका जो काम है, वही उसे करे तो कितना सुन्दर हो !"

"तब वलियारसिंह तो गाँव के मुखिया होते, फिर चिन्ता क्या रहती ?" टट्ठे मे युवक उत्सव महाराणा ने कहा, "जिसका जो काम वह उसे करे तो इसमे वलियार सिंह का लाभ है, पुराना मुखिया परिवार है, हुजूर ! फिर इतना ही नही, मैं समझता हूँ कि कोई भी काम करने को राजी नही, अब चासी पढ़-लिखकर कमीज पैण्ट पहनकर केवल चाकरी-व्यपार-कल-कारखाने के काम आदि में मिलेंगे, अत झुण्ड-के-झुण्ड एक-साथ शहर चल पड़े, गाँव में उनसे काम भी कैसे होगा, हल कौन चलायेगा, फ़सल कहाँ से आयेगी ।"

सिर्फ कहने की बातें हैं ! विपिन सोच रहा है। केवल तर्क-बाण है । इधर नाक मे सड़ाध भर रही है । मोटर मे बैठकर इंजिन स्टार्ट किया । सूखी हँसी हँसकर कहा, "भाग्य अब अपने यहाँ रसोईघर तक घुस आया है । कहने-सुनने को तो कहाँ-से-कहाँ, पर काम कुछ नही होता । ठीक है, बैठकर गप्प मारें, मैं चलता हूँ ।"

एक साथ कई आवाज़ें आयी, उछलकर, "यहाँ सब अपना-अपना मत व्यक्त कर रहे है ।"

हाथ हिलाना, सिर हिलाना, एक-दूसरे पर दोष लादना, जी खोलकर गप्पें हाँकना—फिर उसके बाद सब अपने-अपने घर जायेंगे।

क्या करें ताकि यह संस्था सब जगह काम करे ?

उसके मन के अन्दर इतना ही गम्भीर प्रश्न था। ऊपर से नीचे लुढकते हुए चला आता है आदेश—कहाँ क्या काम होगा, इसके लिए कितना खरच होगा, किस ढंग से कौन काम होगा । वैसे ही ऊपर से नीचे तक लुढ़क आती है निन्दा—"तुम्हारे यहाँ कुछ भी काम नहीं हो सका । तुमसे तिनका भी नही टूटता, अच्छी तरह काम करो, और नही तो··"

उसके ऊपर जो है उन्होंने अपना यह मन्तव्य उसको अच्छी तरह समझा दिया है। उसने भी अपने से नीचे की ओर देखकर औरों को कह दिया है—"तुमसे कुछ हुआ नही । तुम तो बिलकुल निकम्मे हो—तुम्हारे लिए मुझे कितनी बातें सुननी पड़ी। अच्छी तरह कमर कसकर जुट पडो, नही तो परवाना मिल जायेगा !"

और यहाँ शीतलपुर मे हालत ये है ! ओह ! बहुत आशा थी कि यहाँ कुछ काम हो सकेगा, जो लोगों की नजरो मे आ सके, ताकि परिदर्शकों को बुलाकर वह कुछ दिखा सकता ।

गाँव के दवाख़ाने के लिए घर बनने लगा। उस आधे घर के बीच एक बेर

का जब्बर पेड खड़ा हो गया है, अबकी बार फलेगा। गाँववालों ने अपने हिस्से के वादा किये हुए पैसे जमा कराये नही, इसलिए घर पूरा हुआ नहीं।

घुम-घुम करती जीप धकड़-पकड़ रास्ते पर चली जा रही है। तपती धूप की आँख झुलसाती आँच की ओर ध्यान ही नहीं, न रास्ते की बात मन में आती है।

मानो सारे आकाश में गरम राख बिछायी जा रही है, नीचे आग बरस रही है। ताप में भुनकर यह धरती किसी अन्य अवस्था के लिए तैयार हो रही है, जब यह धूप नहीं होगी, यह गरमी नहीं होगी, यह सूखा-पथरीला कुछ न होगा, सब कुछ भीगता रहेगा। प्रतिक्षण उनके दीखते चित्र में बदलाव हो रहा है, धूप झुलस-झुलसकर मन्द होती जा रही है, रोशनी के बीच में छाया घनी होती आ रही है।

वैसे ही चुपचाप बैठा है वह। बीच-बीच में चुक जाने पर एक और सिगरेट लगा लेता है, कुछ बोलता नही। रास्ते के किनारे के ठूँठ या बाँबी, पेड़ या घर या आदमी—किसी की छवि उसकी आँखों के परदे पर कही पड़ती है, कभी उसके मन की अनन्त चेतना के घट में कही मिल जाती है। ठीक एक चुनी हुई जगह देखकर संकेत से और एक भिन्न चित्र उपजता है, बँधे-बँधे, गुँथे-गुँथे भावों और चित्रों का जाल-सा होकर दप-दपा रहा है उसकी चेतना का आकाश। वहाँ भी दृश्य बदलता है, उसी के भीतर जी-जान से कसकर पकड़े हुए है अपने सचेत मन में एक धारणा को—विकास योजनाओं की सफलता, उसके कर्म-जीवन की सफलता है।

पड़ी है पुरानी पृथ्वी पर पुरानी सृष्टि, पुराना संसार। कुएँ की मुंड़ेर खाली पड़ी है, किनारे पर रस्सी रखी है। पोखर का घाट खाली पड़ा है, पैर धोने का पत्थर पड़ा है, और कपड़ा धोने के लिए डाला गया धोबी का पट्टा भी। बकरियाँ चर रही है, गला फुलाकर भेड़ा पीछा करता आ रहा है। पीठ फेरे खड़ी है कोई बुढ़िया। हाथ में एक छड़ी, झुर्रीदार ललाट तिरछा किये, रूढ आँखें उठा रखी है खाली आकाश की ओर। मुई सूखी लताओं के जाल में ढँकी चुपचाप पड़ी है किसी की दबी हुई छान, छावनी हुई नही, बाँस की फरचियाँ टेढ़े-मेढ़े दाँतों की तरह इधर-उधर निकली है, ठुँसी हैं। तपतपाती धूप में पेड़ तले कोई खर्राटे भर रहा है। पास में रखी है हलद रंग की गाँठदार लाठी, कहीं किवाड़ खुले हैं तो कहीं बन्द पड़े है, कतार में घर, अन्दर तक दिख जाता है, लोग सोये है, बैठे हैं, बात-चीत में लीन है, ढेंकी कूट रहे है, पोथी पढ़ रहे है, या कोई ताश खेल रहे हैं—आदमी है,सदा थे, आदमी है और सदा रहेंगे, इसी धारणा में उसके चेतना के अणु-परमाणु भी सिक्त हो रहे है।

और वह सोच रहा है, कब सपना सफल होगा! सपना झांक रहा है—चौकोर की तरह सड़क, दोनों किनारे बाड़ों-बगीचों से भरी कोठियाँ, टाइल के घर, साफ़-सुथरे, धकधक-भकभक करती हुई घर-घर में छोटी-छोटी कलें, बटन दबाते ही बिजली से चलती हो, तरह-तरह की चीजें तैयार होती रहेंगी। गाँव में, खेतों में

काम आयेगी मल की खाद, आदमी का मल भी तनिक बरबाद नही होगा, हड्डियों के चूरे की खाद—मरने के बाद मानो सबकी देह इस देश की माटी मे मिलेगी, होता रहेगा कम्पोस्ट, धनीचा, रासायनिक खाद, खली, गोबर, मशीन के हल। ट्रेक्टर से खेती होती होगी। रबर के पहिये लगी बैलगाडियों में पंजाबी-हरियानवी बैलो की जोड़ी जुती होगी, और गाडी-की-गाड़ी फ़सल जाती रहेगी। और चाहे इस जेठ का अन्न हो, बैलगाड़ियाँ भरकर अच्छे-अच्छे बीजो से पैदा हुए धान, गेहूँ, आलू, कपास, तम्बाखू और कितना कुछ जाता होगा। पम्प से उठकर छोटी-छोटी लाल नालियों के रास्ते खेतो को पानी जाता होगा। पानी से भरकर बडी-बडी पोखरियाँ झिलमिलाती दिखती होंगी, पाँच सेरी-सात सेरी रोहू या भाकुर मछलियाँ उछल-कूद करती होंगी, झुण्ड-के-झुण्ड मुर्गे सारे मैदान मे चरते होगे। सफेद लेग-हॉर्न और लाल रोड् आइलेण्डर। चारो ओर निश्चिन्त नीरोग हृष्ट-पुष्ट स्त्री-पुरुष, गाँव की ओर देखते ही कारखाने मे, खेत मे जुटे हुए लोगो के झुण्ड। नाना उद्योगों के लिए अनेक मकान, मशीनों के कारख़ाने, भडार, स्कूल, अस्पताल, सब्ज खेत-बाड़ी, बाग-बगीचे, बीच-बीच मे धब्बे सफेद-सफेद, रात होते बिजली की रोशनी से चारों ओर दीपावली, बीच-बीच मे बड़े-बडे कारख़ानो को घेरे असुर की तरह विराट्-विराट् अट्टालिकाएँ, जगह-जगह दस तल्ले, बीस तल्ले, गति, भीड, गाडियों की गरज हो-हल्ला, खेती और मशीनी उत्पादन का चरमोत्कर्ष। यन्त्रों से नपे-तुले, कटे-छँटे सजे-धजे खेत, बगीचे और बाड़ी की क़तार, कहाँ किस प्रकार पेड लगाने पर काम आयेगे, उसी के अनुसार सजे है। झोपडे नही, मकानो से भरा गाँव। मकानों से निकले आ रहे है साफ-सुथरी पोशाक पहने स्त्री-पुरुष। वे खूब खरच कर रहे है, इसके लिए उनके पास खूब पैसे है। भाँति-भाँति की कई तरह की चीजें व्यवहार मे लाते है, कीमती पोशाक, अपनी आवश्यकताएँ बढा-बढाकर सभ्य हुए है। उनके अपने यान-वाहन है। घर-घर मे रेडियो। इन्ही खेतों के आकाश पर चिडियों की तरह झुण्ड-के-झुण्ड उडे जा रहे है छोटे-छोटे हवाई जहाज, नीचे चला जा रहा है गाड़ियो का स्रोत। जिधर देखो व्यस्तता, कार्य-तत्परता। और पक्के कारीगर—लोहा, ईंट कक्रीट, भरी-की-भरी चीज़ों की गाडियाँ। इसी उद्देश्य को आँखो से आगे रखकर चल रहा है इस गठन का क्रम; क्योंकि इस देश को भी बहाना होगा—इण्डस्ट्री के ऐटम युग के स्रोत के साथ। अमेरिका से भी आगे निकलना पड़ेगा। क्या नही हो सकता ?

मगर क्या होगा फिर ?

यह आदमी बदलेगा ? ये जो मरियल-सा बूढा बहँगी कन्धे पर लादे लडखडाता-सा फुदकता भागा जा रहा है इतनी तपन मे, वह क्या यों नही भागेगा ? पोशाक पहन होंठों के कोने मे चुरुट लटकाये एक जीप ड्राइव करता जाता होगा नीली आस्फाल्ट के खुले चौडे रास्ते पर। धारा की तरह आगे-पीछे, पता नही कितने !

खेती करनेवाली मशीन ! काटती होगी और कमाती होगी मशीन। मशीन का गीत, मशीन की गाडी, मशीन की तरह आदमी, मशीन के जैसे घर का काम-धन्धा। एक ही साँस मे, एक तरीके से सब कुछ।

कौन-सा आदर्श, कौन-सी आध्यात्मिकता, किस कविता की आड़ लेकर समर्थन करोगे इस चलनशील स्थिति का। इस दारिद्र्य, फटी लँगोटी, टूटी भीत, रोग, गन्दगी, अज्ञान, भय का ? जल जाये यह सारा कूड़ा और साथ-साथ ये मुस्ती, जाये चाहे उसके साथ ही इस देश के मानव समाज की वह पुरानी सड़ी-गली धारा, वही सैकडों बरसों की तलछट, तिरोछट तालाब की कीच, बदल जाये ये आदमी स्वय, और उसके दिमाग की बद्ध धारणाएँ, विचार। सब कुछ बदल जाये। मानव जाति बचे, और सुखी हो।

जगह-जगह नयी सडक पडी है, ऊँची समतल कर माटी बिछी है, दूर तक, जगह-जगह पोखर की खुदाई चल रही है। कई पूरे हो चुके, चौकस पाल बाँधी जा रही है, टोकरी सिर पर उठाये लोग इधर-उधर हो रहे हैं। रास्ते मे पानी जमने की जगह देख कही-कही पत्थर के सेतु, कही पुलिया, कही नये पुल, चूने से पुत-कर सफेद दीख रहे है। जगह-जगह नये मकान खडे किये जा रहे है, समाज-कल्याण गृह बन रहे है। कपडा बुनने के केन्द्र, स्कूल, प्रसूति-घर, धान के भण्डार-घर बन रहे है। पशु-चिकित्सा केन्द्र, सेवक बस्ती, खजूर गुड केन्द्र, हाड़ के चूरे की खाद बनाने का केन्द्र, समाज के लिए धान-भण्डार। लाइब्रेरी, कृषि-केन्द्र, जगह-जगह के घर हो गये, हो रहे हैं। कही कच्ची ईंटें पक रही हैं, कही पकी हुई ईंटों की थाक लगायी जा रही है, कही बढई काठ चीर रहे है, सीढ़ी, किवाड़, झरोखे बना रहे है, कही छत बना रहे है। रास्ते मे जगह-जगह कुआँ, सीमेण्ट से बनी मुँडेर और फर्श, ऊपर छोटा-सा पम्प। जगह-जगह बडे-बडे चौराहों पर छोटे-छोटे खम्भों पर बडे-बडे धान के गोदाम-घर, गोल, मुडे हुए लोहे के पात से बने। कतार में चले गये है टेलीग्राफ की लाइनो के बेशुमार खूँटे। और फिर उसके बाद दूर तक वो खिच आयी है इलेक्ट्रिक लाइन, इस सडक के किनारे-ही-किनारे दूर देहात तक। सैकडों कोस की दूरी से बिजली इन तारों मे बहकर आती है, और सीध में चली गयी है दोनो किनारे गाँवों में। ठेठ देहाती गाँव तक मे रात के समय रोशनी जल रही है, फिर चलेगी वहाँ मशीन। और ये आ गया नया खोदा हुआ नाला। कही सैकडों कोस दूर पर कोई नदी बँधी है, पानी का भण्डार बनाया गया है, गाँवों के अन्दर तक नालियाँ खोद-खोदकर ले जा रहे है, हजारों मजदूर लगे हैं, नालियों की खुदाई पूरी होने पर पानी आयेगा।

इस तरह जो कुछ भी हो सका है वह विकास-कार्य का प्रतीक है। कुछ तो हुआ ही है। देश को स्वाधीन हुए कुल जमा कितने बरस हुए ही हैं ! उसमें फिर इतनी जगह इतने चिह्न तो दृष्टि मे आ रहे है। चलता रहेगा तो और भी होंगे।

पहले तो इन सबका पता तक न था, थोड़ा-बहुत काम चल ही रहा है।

इसी तरह सोचता-सोचता चलता गया विकास-कर्मचारी विपिन, अपनी स्वप्न-जागृति, आशा-निराशा के बीच, अपनी सिगरेट की धुआँ के अन्तराल में। सब जगह शीतलपुर की-सी हालत नहीं है, थोड़ा-बहुत काम हो रहा है।

इसी काम को देखने-परखने को तो वह गश्त पर निकला है। धूप-ही-धूप में दौड़ना, रास्ते में रुककर काम देखना। जब कभी गाँव के लोग डाभ मँगा फोड़कर पिलाते हैं, खड़े-खड़े ही पी लेता है। कहीं रास्ते पर गाड़ी रोक कुछ दूर पैदल चला जाता है। गड्ढे, काँटे-झाड़ी होकर बढ़ जाता है। आगे-पीछे गाँव के लोग, कर्मचारी। टप-टप पसीना चू रहा है, धूप की तेजी से कान झाँव-झाँव कर रहे हैं। सिगरेट फूँक, फिर आकर गाड़ी में बैठता है। कितने नोट ले रहा है अपनी नोटबुक में, कितने तथ्य संग्रह कर रहा है, कितने उपदेश दे रहा है, चारों ओर की योजना में—ये ही उसके काम हैं। इतने बड़े देश में, उसकी तरह छोटे-बड़े कितने ही काम करनेवाले हैं, जो उसमें लगे हुए हैं।

पर वह—मन के तल में—शीतलपुर।

अकेले शीतलपुर में ही नहीं और भी जगह-जगह पर। सब जगह लोग सिर नीचा नहीं करते, कहीं तर्क करते है, कहीं कड़ी-कड़ी बातें कहते है।

वह जो पीछे रह गया है बड़ा गाँव, उसका नाम है श्रीवन्तपुर। ढेरों नारियल के पेड़ है, कुछेक पक्के मकान, कुछ पक्के घरों की छतों पर लोहे की चादरें। हृष्ट-पुष्ट पुरखेवाले दस-पाँच लोगों ने मिलकर अच्छी-खासी आलोचना से भरी दो-चार बातें भी सुना डाली थीं। कहा था—"तुम्हारी इच्छा हुई तुमने रुपयों की बरसात कर दी, घर खड़े करते हो, पम्प लाकर रख देते हो, उलटे हमसे कहते हो कि अपव्यवहार हुआ, आगे कभी आकर पूछा भी था कि हमारी क्या जरूरतें है ? हमें क्या चाहिए ?

"है रे, हमारे तो पीने को दो बूँद पानी नहीं, हर साल हैजा खींच लेता है, उसके लिए कोई बन्दोबस्त नहीं, हमारे तो आस-पास कहीं कोई डागदर भी नहीं, दवाएँ तो कितनी दूर की चीज है ! इधर बच्चा को खलास करने के लिए कोई दाई भी नहीं, जिसके पास पैसा है वो पाँच कोस जाकर बीस रुपल्ली में आबिदी की माँ पठानिन को लायेगा, और नहीं तो फिर रामभरोसे। हमारी जमीन में जो बालू-चर है कि उसे उठाने को किसी की कमर में दम ही नहीं, उस बारे में कोई बात ही नहीं। हमारे गाँव में तो बारह आने लोगों के घर एक बेला चूल्हा ही नहीं जलता—वे कहाँ से सोचेंगे ये तुम्हारी जापानी खेती की बात ?"

रास्ते के किनारे ये समवाय भण्डार-घर है। याद आ रही है उस दिन की बात। बहुत आशा लिये आये थे ऊपरवाले वे लोग, हालाँकि पूरी उड़िया भाषा वे नहीं जानते, पर बहुत उत्साह में भर गया था उनका मन, अत. उफनते उच्छ्-

वास मे भरे होने की तरह वे टूटी-फूटी भाषा मे कहते गये, सोचा हो कि शायद यही इस राज्य की भाषा है—

"आप लोक्—देखवे—ये जो हामार भण्डार आछे—इसमें—हामार बीज रोवे—आप लोक् लेवे लौटावे लेवे-लौटावे—सो बहुत भालो होवे—अच्छा ! आच्छा ! आच्छ ! हमार देस मे नया भालो काम करबे तो पासु यानि दूध वाहिने राज्य मे—मम्झा—आच्छा ! आच्छा !"—

लोग खूब हँसे। लोग उनके भाषण से बहुत अनुप्राणित हुए हैं—यह सोचकर और भी उत्साह में वे कहते चले गये। खुद हँसे, उत्साहित हुए, सोचा कि उन्होंने सुन्दर कच्ची उड़िया भाषा मे उस गाँव के लोगों को शस्य-भण्डार की उपकारिता में अनुप्राणित किया है।

खाली पडा है वह घर, धान के करज मे कही कोई गड़बड़ी हो गयी, इच्छावारी पूरी हुई नही।

कितनी जगह कितनी दलबन्दी, गाँव का कलह, आपत्ति करने के लिए दल-के-दल लोग है, वैसे आपत्ति के विषय भी थोड़े-से ही है—विकास-केन्द्र हमारे गाँव मे न होकर उनके गाँव मे क्यों हुआ ? फलाँ गाँव के साथ हम नही चलेंगे। हमें अलग कर दो। अमुक आदमी का नेतृत्व हमें स्वीकार नही है। फ़लाँ आदमी का हमारे गाँव से तबादला कर दो—अमुक आदमी पैसा खा गया—

ऐसे ही चुने-चुनाये कुछ अभियोग है। वे जो उत्साह मे भरे आये थे, भाषण दिया था, शायद वे नही जानते कि इन गाँवों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी इतने कलह हैं, फिर और नये पैदा हो रहे है। शायद वे नही जानते कि ये लोग क्या काम पहले करते है और क्या काम बाद में, किस तरीके से 'ओ' करते है, कैसे मुँह मरोड़ते है।

परन्तु उन मे सदिच्छा है, उत्साह है, और उनके जितने शुभानुध्यायी लोगों का—

फिर भी इस माटी मे विपुल परिवर्तन हुआ नहीं।

इस राज्य की उन्नति के लिए देश के विभिन्न प्रदेशो से इतने लोग आकर व्यापारिक स्थानों मे पड़े हैं, व्यवसायी, कण्ट्राक्टर, कर्मचारी, कुली, मजूरे। बड़े-बड़े कारखाने शहरो मे गढे जा रहे हैं। कही पहाड उखाड़कर लोहा-पत्थर निकाला जा रहा है, कही पत्थर पिघला लोहा निकालकर चीजें गढी जा रही है, कही नदी की धार को ऊँचे बाँध पर से नीचे की ओर ढलकाकर बिजली निकाली जा रही है, कही वनो को काटकर उड़ा रहे हैं और शरणार्थियों के लिए गाँव और शहर गढ रहे हैं, कितनी जगह कहाँ-कहाँ व्यावसायिक प्रतिष्ठान ठूँसा-ठूँसी कर खड़े किये जा रहे हैं। चल रही है माल की तैयारी, माल की बोआई-ढुलाई, परन्तु इससे इन गाँवों के लोगों में से जाकर कुछेक कुली-मजूरे बनने के सिवा और कोई

लाभ नहीं पा सके हैं या उनकी दशा में दिखने लायक कोई प्रभाव पड़ा नहीं, इस पुरानी माटी पर।

शायद कभी होगा, बदलेगा। यह देश भी बन जायेगा मशीन और भीड़ का देश। होगा ही।

दिन-भर खूब घूमा है। साँझ हो आयी। अचानक छन् से लगा। सिगरेट फेंककर दूर देखा तो उसे लगा जैसे वह इस देश का सदा से अनबदला रूप देख रहा है। वही आकाश, वही खेत-बाड़ी, वे ही गाँव, बगीचे, रास्ता। वे ही आदमी—उनका धूल से भरा कपड़ा पहनना, धूल-कोहरे में कसी हुई चमड़ी।

वो वहाँ निचले खेत के बीच कहीं खड़ा है। कछुए की पीठ की तरह, छोटे-से कन्धे की तरह खड़ा है सैकड़ों बरस पुराना पत्थर का पुल। नीचे सात खम्भे। उसके दोनों सिरों पर कभी सड़क थी, हाथी-घोड़े रावतों का ठाठ आराम से पार कर जाये इसके लिए कभी पुराने जमाने में वह तैयार हुआ था, वह भी थी एक योजना। और यह उधर जमीन के नीचे से जो गढ़ का दरवाज़ा निकला हुआ है, उसके उधर सैनिकों के रहने के लिए मकान थे, वे भी उस जमाने की बेसिक योजना के अंग थे। पर टिक न सके।

फिर ये इधर जो ब्राह्मण शासन (गाँव)—सब नारियल और सुपारी की कतारों से भरे, पास तक चले आये हैं—कहीं बकुल की छाया तले, अशोक पेड़ की छाया तले 'महाजन-सभा' की चाँदनी पर पाशों की बाज़ी बिछी है, लोग घेरे हैं—वे सारे गाँव भी किसी योजना के ही फल थे। खाने-पीने की चिन्ता से मुक्त होकर पण्डित लोग निश्चिन्त बैठकर ज्ञान की चर्चा करेंगे, गवेषणा करेंगे। दौड़-भाग के लिए अन्यान्य जाति के लोग नियुक्त हैं, यहाँ तक कि नींद से जगाने के लिए भी रखे गये हैं 'हुण्डिया'। वे गाँव के रास्ते पर हेरी दे-देकर नींद से उठा देंगे। पीछे लम्बी फैली है पोखरी, जो कि गढ़ की खाई के रूप में भी काम आयेगी, फिर घर में आग लगे तो हाथ के पास ही पानी। सामने खुला मैदान। कहीं भागवत टूँगी (छोटा-सा घर) होगा, कहीं गाँव में सामलाती (सहकारी) घर होगा, किधर किस ओर के लोग घर बनाकर रहेंगे, सब पहले से नपा-तुला। सुना जाता है कि पहले दुर्गापुर शासन (ब्राह्मण गाँव) में औरतें मैदान में बैठते समय भी न्याय-चर्चा करती थीं, न्याय उनके गाँव की ख़ास विद्या बन गयी थी।

इसके लिए भी एक दिन योजना रही थी। वह भी दो दिन की हो गयी। पर आम आदमी की शान्तिकामी जीवन-योजना—वह मानो इस माटी का निजस्व हो।

जाती हुई धूप तिरछी होकर पड़ रही है, पेड़ की फुनगियों के ऊपर जैसे धकधकाती आग जल रही है। उसके नीचे जाने किस जमाने का पुराना देवल है—छोटा, परत-पर-परत, ऊपर सींग की तरह आठ छोटी-छोटी चूड़ाएँ निकली हैं,

बीच में बड़ी। और फिर त्रिशूल। सूक्ष्म कलाकारिता नहीं, वहीं थामे मूर्तियाँ नहीं, सिंह-मूर्ति नहीं, नटराज-मूर्ति नहीं, केवल सीधी-सादी ऐसे ही—मानो आजकल के किसी मिस्त्री ने ईंट-चूने से गढ़ा हो। देव की थापना करने को हृदय का चाव उच्छरित हो रहा होगा, तब साधारण चासी आदमी ने अपनी शक्ति के अनुसार, पता नहीं कितने बरस पहले या कितने सौ साल बरस पहले इस खोये हुए देहात में पेड़ों की ओट में यह छुपा-छुपा-सा देवल गढ़ा था।

कभी किसी ने प्रशंसा की कामना नहीं की। महज़ अपनी खुशी से गढ़ा होगा यह बालुका देवल। पास आता जा रहा है—विपिन मुग्ध भाव से देख रहा है। वह काली फफूँद पुता बौना देवल उसकी आँखों के आगे अचानक बहुत सुन्दर दिखने लगा। वह मानो उसके साधारण रूप के खोल को न देख उसके स्वरूप को देख रहा है—चर्म नेत्रों से नहीं, अपने भीतर के नेत्र से।

आदमी के रूप की तरह ही वह रूप उसे शाश्वस्त, स्नेह-शीतल दिखा।

धूप कितनी ढल चुकी, सूरज खिसकता-खिसकता आकर क्षितिज को छूने लगा, रंगों में झिलमिलाता। सड़क के किनारे देवल के पास उसने गाड़ी रोकी। उतर पड़ा। दक्खिनी हवा से गाड़ी के पीछे से उड़ती लाल धूल की छोटी-सी बदली उसकी ओर घिर आयी। आगे देवल के सामने एक गहरी तलाई, काफी नीचे जाकर थोड़ा-सा नीला पानी, ताड़ की लकड़ी की सीढ़ियाँ नीचे तक उतरी हुई है।

सभी कर्मचारी लोग उतर पड़े थे। फिर विपिन ने सिगरेट सुलगायी। सिर झुकाये वह टहलता-टहलता एक नये सूत्र का प्रचार करने जैसे ढंग में कहने लगा, "लगता है, असली विकास-योजना तो होनी चाहिए आदमी की नीति की उन्नति के लिए, ताकि उसमें मानवता बढ़े, वह स्वतः सत् होगा।"

"सचमुच—बात ठीक है।" सबने कहा।

पात्र तो शुद्ध ही नहीं—रसोई किसमें बनेगी?

मन तो शुद्ध नहीं, कल्याणकारी भावना आयेगी कहाँ से? अच्छा काम करने के लिए हाथों को निर्देश कौन देगा?

अस्त होते सूरज की लाल रोशनी में उच्छ्वसित धर्मप्रचारक की भाँति हुलस-हुलसकर विपिन कहने लगा, "कानों के बिना सोने का क्या प्रयोजन? मन ही न हो तो धन का क्या हो? इतना जोतकर, इतना पैदा कर, सोने से लंका गढ़कर भी, रावण के काम क्या चीज आयी। विज्ञान बढ़ा, आदमी आकाश में उड़ा, चन्द्रलोक में झण्डा गाड़ने के लिए देश-देश के बीच होड़ लगी हुई है। लोहा, रबर, प्लास्टिक, बिजली, तार, बेतार, कितनी बातें उसने कब्जे में कर ली हैं, क्या ये सब यथार्थ में मनुष्य की सुख-शान्ति बढ़ा सके हैं या केवल माध्यम बनकर मनुष्य के जी का जंजाल ही बढ़ाया है? कहाँ है मनुष्य की स्वाधीनता? दिनों-दिन उसकी

मन मुताबिक चलने-सोचने की बात भी सँकरी होती जा रही है। व्यापती जा रही है आशका, आतक, अशान्ति, ईर्ष्या और हिसा का विष। कितने रास्ते, कितने कुएँ-पोखरी, मकान-बाडी, कल-कारख़ाने गढने पर यह सब दूर होगा ?"

विराट् जटा-जूट लादे, विराट् खुले ताड का छाता लिये कुम्भीपाट की लँगोटी लगाये चला जा रहा है वह नन्हा-सा बूढा[1]। कहाँ आया, कहाँ गया, बस मुँह से 'अलेख'-'अलेख' निकल रहा है। कही से उड आये अनेक कबूतर, आकाश मे चक्कर मार घेरा काटते-काटते किधर उड चले गये। एक-एक कर नजर मे आ रहे है बगीचे के पेड। विपिन ने उधर ऊपर की ओर ताका। जो उसने सोचा, जो उसके मुँह से निकला, उससे जैसे वह स्वय उन्नत हो गया है। लगा कि आकाश कितना बडा है! कितना आश्वासन से भरा हुआ। उसने सूरज को डूबते देखा। आग की रेखा की तरह, आग की बूँद की तरह, बाद मे सब शेष। अनुभूत सहानुभूति मे उसकी छाती पर लहरें फैल गयी। उसने दीर्घ श्वास छोडा—अनुभव हुआ कि वह इस सृष्टि का मंगल चाहता है।

बाद मे एक कर्मचारी ने याद करा दिया कि एक काम और बाकी है। ऊपर से कोई निरीक्षण करने आनेवाले है। वे देखेंगे कुछ खुदी हुई पोखरियाँ, जहाँ मछलियाँ पैदा की जा रही है, खूब बडी-बड़ी मछलियाँ होंगी। वैसी है कहाँ आस-पास मे ?

"सापगाड़िया गाँव मे पुराना नाला भी देखने जाना पड़ेगा," विपिन ने कहा, "पुराने जमाने की उसमे अब भी मछलियाँ होंगी, उसमे मछलियाँ बढ़ती है, ऐसे क्या होंगी नही ? गाँव के लोगो के हाथ जाती नही—यह सच है, कभी तो जायेगी। मछली होगी तो उन्हे ही लेकर दिखा देंगे, कुछ बुरा नही होगा—"

"फिर मत्तगजपुर केन्द्र मे खाद-खली और प्रसिद्ध बीज 'के-टू' पहुँचे या नहीं —वह भी जाँच करना था···"

"जरूर देखेंगे," विपिन ने कहा, लौटते-लौटते चाहे जितनी रात हो जाये, देखते हुए ही चलेंगे—"

फिर जीप घूँ-घूँ-घूँ कर चल पडी। उसका मन सकुचित हो गया है। चेतना के आगे दोनो ओर के दृश्य हिल रहे है—एक ओर उसके गाँव मे स्त्री-परिवार, आधा शहर में उसका सूना घर। उसके सामने मैदान, उस ओर बस्ती है। हिलते-डुलते मन स्थिर हुआ। मोटर की रोशनी के उस ओर के रास्ते पर—लाल रास्ता, बीच-बीच मे रास्ते से उछलकर फाँय से उड जाती कोई छोटी-सी चिड़िया। आगे और भी दिख रहा है, और भी—और भी। दहकती अँगारों-सी उसकी छोटी-छोटी दो आँखें।

जीप गीयर बदल उठान पर चढ रही है। गूँ-गूँ गूँ-गूँ गरजती-चीखती अँधेरा

---

१. अलेख सम्प्रदाय का सन्यासी।

चौरती-चौरती जा रही है—ऊपर और भी आगे। सुनसान फैला है दोनों ओर, चढ़ती जा रही है एक क्षीण उत्तेजना।

उस आवरण की तरह दिन-भर की जलन, क्लान्ति और पसीना और धूल की परतें।

विपिन ने फिर सिगरेट जलायी।

पाटेली गाँव में लोहार किशोई ओझा बाहर बरामदे पर पड़े-पड़े बुखार से काँप रहा था। रह-रहकर वह विषैली दृष्टि से गली की ओर देखता। चेहरे को कँपाते हुए गुस्से से क्या कुछ सोचता, और फिर उसकी नस-नस में, तलवे से लेकर सिर तक, सर्दीली कँपकँपी की लहर दौड़ जाती···दाँत-से-दाँत ठक्-ठक् कर टकराते और वह भालू की तरह कराहने लग जाता। लगता जैसे नाक के रास्ते आग निकल रही है। आँखों में जलन, गला सूख रहा है, माथे के अन्दर सचमुच पटाखे छूट रहे हैं। फिर लगता जैसे एक साथ हजारों सण्डासियों से दबा-दबाकर कोई उसका मांस नोच-नोचकर लिये जा रहा है, आँखों के रास्ते जुगनू निकलते जा रहे हैं। देह को मरोड़कर, छटपटाकर क्षण-भर वह टाल जाता है। जब उसे सोचने को अवसर मिलता है, तब उसकी चेतना में शान्ति नहीं होती, वरन् होती है बीछी पत्तों से भरी उत्क्षिप्त विरक्तिपूर्ण जलन, प्राणों को कण्ठागत सोचकर उसके मुँह पर 'हरि, राम-कृष्ण' नहीं आता, वरन् बीच-बीच में वह कहता 'स्साला !' 'स' पर वह सारा जोर देकर दूसरे अक्षर के रास्ते वह अपना सारा अभियोग खलास कर देता। कराह-कराहकर वह कहता, 'स्सा—स्सा—ला'। एक बार की पीड़ा के झोंका के बाद दुबारा पीड़ा आने के बीच उसे अनुभव होता कि माथे में चाँय-चाँय-सी तपन की धौंस बढ़ती, और बढ़ती जा रही है। तभी वह परिस्थिति की बात सोच पाता। जीभ की अनी से खारी-खारी मन की बात भी बाहर आती—उस 'स्साले' के नाले के रास्ते।

उसका बड़ा लड़का मकरा सात महीने से शहर में है। लोहे के कारखाने में काम कर रहा है। बीच-बीच में आता है। मकरे से छोटे दो लड़के मर गये। और कोई लड़का नहीं, दो लड़कियाँ हैं—पुनि और वली। विवाहिता वली का घरवाला मर गया—दो लड़के थे। एक और से शादी की—उससे फिर तीन हैं। मकरा की पत्नी सात-सात बच्चों की माँ बन चुकी। दो बेटियाँ ब्याह दीं। घर चलाना जानती नहीं। किसने खाया, किसने नहीं खाया, कौन कहाँ पड़ा है, क्या-क्या सहेजा है, रखा कहाँ जायेगा, उधर ध्यान नहीं। सुबह होते ही खाना माँगने के लिए चार लपलपाते मुँह। बड़ा बेटा मन्दरा गया है बाप के साथ, छोटा-मोटा काम

सीख गया। हगुरा चौदह वरस का हो गया, केवल बातूनी बना। जो कहे, पर भात खाकर मुंह धोना नही सीखा। दुनिया-भर की भूख है उसे, पेट न भरा हो तो पीटेगा, फेकेगा, पछाड़ेगा, हाण्डी-कूण्डी तोडेगा। और तीन तो गुडर-गाडर है। पर घर-गृहस्थी के लिए मगा है वह। कभी भी किसी लडके को प्यार से तेल लगाया है? जो कुछ भी कर पाता वही ख़ुद करता···और कौन है कि कर दे? अब उनकी हालत बिगड़ने लगी है। अभाव भी दिन-व-दिन बढता जा रहा है। घर मे ऐसी अव्यवस्था और इधर बुखार भी रोज़ बढता जा रहा है, कभी घण्टे-भर के लिए छूट जाय तो याद मे दुगुने तेज़ से आ जाये···

और दिन की इस बात को, कोई पास होता तो, जी खोलकर कहता वह। पर कोई भी नहीं है, बिल्ली का पिल्ला तक पास नही आता और वह पडा है कि पडा है। छोडो, इस दुनिया मे कोई किसी का नही है···सब सुख के साथी है—स्सा···ले···। ओ···हो फिर चढ़ने लगा! फिर···फिर वही जहरीली नजर गली पर तैरने लगी—और पड़े-पड़े उसने महसूस किया कि वह तो अकेला पडा है पर गांव की गली मे औरतो का चलना-फिरना बढ गया है···। अभी-अभी झमर-झमर करती हुई केला की पत्नी इसी रास्ते से गयी है। लाज-मरजादा को उतार फेंककर आते-जाते लोगो के बीच चली गयी वह···घर के अन्दर रहने-बसनेवाली बहू! सिर्फ यही एक बात नही, उसकी इस तरह की चहलक़दमी लगी ही रहती है। हाल ही मे उसे डायन लगी फिर भी उसे न डर है न फिकर! घर के कोने से बाहर उस बीच सडक पर बहू-बेटियाँ चलने लगी तो यह सास्तर रहेगा और?

यप गयी रघुआ की माँ···उम्र है उसकी। उसकी बात क्या कहे—पैर पसारकर बाल सँवारती होगी और उसके पास बैठे चार-पाँच हिजड़ानुमा लडके हे···हे···फें···फें करते होंगे। उसे कुछ कहो तो काटने दौड़ेंगे···।

और वह सिन्धु चौधरी की अनब्याही बेटी···वह गली-गली घूमती है···साँड की तरह इधर-उधर पिलती जाती है···उसके लिए न कोई वडे है न वह किसी को मानती है···उसका न बाड़ा है न बन्धन···वह घूमती है और खूब घूमती है। उसे क्या पता कि उसके भाग पर गिद्ध बैठा है···और उधर उसका बाप···पाठ-शाला खोल चुपचाप पढाने बैठ गया और उधर पानी नाक तक चढ आया है···

और उसी के आँचल से बँधी हुई-सी, उसी के पीछे-पीछे खिंचती हुई-सी पता नही कितनी बहू-बेटियाँ कहाँ से आकर किधर जा रही है···उन्हे पता है···सब गया···सब मिट्टी में मिलने को हुए···

ओ हो हो?···आया,···चढ आया बुख़ार···अरी ओ मल्ली, अरी ओ सेरेन्ती ···अरी ओ बहू···कोई भी पास नही आ रही।

स्वर ही नही निकलता। सिर्फ भालू की तरह कराहना···

फिर डांडे ने मिट्टी को महसूस किया···आदमी नही वह नाव है, धीरे-धीरे

चल रहा है···वह फिर आदमी बन गया।···

गया···गांव की कमर ही टूट गयी। थोड़ा-बहुत कहने को अर्गतिया, मागुणिया, गुदुआ वगैरह थे, पर पता नहीं उनपर कैसा जादू चला कि वे नेतागिरी करने फूलझरा चले गये···जैसे वहां बहुत बड़ा धर्म का काम हो रहा है—और वे निहाल कर देंगे···युग पलट देंगे···। नया घर-बार होगा। आम के पेड़ में गम्भ-आलू लगेंगे, या क्या? बहुत परोपकारी निकल रहे हैं। कहते हैं, दूसरों को अपनायेंगे, भोजन की थाली में बांट देंगे, मुलक की मसोके में करेंगे—अपने पीछे नाहं इतने ही···कुंवारे छोकरे, इसी गांव में कितने तमाशे खड़े कर दिये! वही बना है नेता—यह तो जमाना ही ऐसा है! कुछ लोगों को बहका दो, सरदारी करने में सुविधा···सब याद है, कण्टरोल से अबतक की सारी बातें—लुहारशाला चलाने के लिए, लोहे के टुकड़े के लिए लोगों के आगे कितने निहोरे नहीं किये—'रव-सक्रान्ति', कुंआर पूनम, या बेटी के घर भेजने के लिए एक साड़ी के लिए दौड़ते-दौड़ते जूतों के तले घिस जाते। धान-चावल की मंहगाई के साथ-साथ कितनी असुविधाएं, और आखिर में इन्द्र ने भी कृपा नहीं की, छोड़ दये। इतनी बड़ी-बड़ी बातें हांक गये—क्या किया? और ये अब उखाड़ डालेंगे, कमर कसी है—झूठी बातें कहकर तुम किर्णेई ओझा को ठगने चले हो! पता है किर्णेई ओझा लोहा पिघलाता है। विश्वकर्मा के वंश में जन्मा है वह। उसकी आंखों में धूल झोंकोगे? तुम सब एक राह चलोगे तो वह अकेला धरती को जकड़े पड़ा रहेगा···कल-युग आया है सब एकाकार हो जायेगा, इसलिए तुम्हारा सिर फिरने लगा है, अनहोनी हो रही है—तुम्हारा कोई चारा नहीं···ओ···हो-हो···आया···आया···फिर आया बुख़ार···मारूंगा···काटूंगा···छिन-भिन कर दूंगा···

अरे कौन है? काले···डाग की तरह लम्बा···जूट जैसे बाल···यमदेवता···आओ···आओ यमदेवता, आओ! लोगे तो···साथ-साथ चलेंगे···एक बात पूछना चाहता हूं···सिन्धु चौधरी की कुंआरी लड़की किधर-किधर इतनी भटकती रहती है! इतना-भर बता दो, उसके बाद तुम्हारे साथ सउरी पधान के पास चला जाऊंगा···वही गांव में बूढ़ा था···उस जमाने का खूंटा···उसे सब पता था!

अरे कौन है? लोका नाहक खड़े-खड़े क्या कर रहा है यहां? नहीं-नहीं; किर्णेई ओझा ने सिमटने की कोशिश की। लोका नाहक उसका सिर पोंछ रहा था। उसने आंखे मूंद ली। लोका नाहक ने कहा, "आं करो—लो पीओ इसे। गांव में जिधर देखो, यही बीमारी है···सब पड़े है। छूट जायेगा!" फिर जोर से बोला, "फिर किधर चली गयी बहू! यह इधर बुख़ार से कराह रहा है, बदन तवे की तरह तप रहा है, उलटी कर लथपथ हो पड़ा है, और कोई भी इसके पास नहीं!"

किर्णेई ओझा ने आंखे उठाकर देखा। उसके सिर के अन्दर मानो कुछ पिघल-

सा गया···पानी-पानी हो गया। उसने काँपते हाथों से लोका नाहक के हाथ को पकड़ा—आँखों से आँसू वह रहे थे।

"धीरज धर, धीरज धर !" लोका नाहक कहता जा रहा था, "बुखार ही तो है कि और कुछ ! मलेरिया, दवाई लेने से छूट जायेगा। ऐसे क्यों हो रहे हो बच्चों की तरह !"

किणेई ओझा फूट-फूटकर रो पड़ा—फिर चुप हो गया। घर के अन्दर से आकर तबतक सब उसे घेरकर खड़े हो गये थे।

"इसे अन्दर ले जाओ···यह लो कुनैन की गोली, एक शाम को···दूसरी रात को सोते समय। नीबू का पानी बीच-बीच में देना ! खाने को सिर्फ़ दूध और लाई। मैं फिर आऊँगा।"

बच्चे घेरे है। बहू के कन्धे के सहारे वह कूँथते हुए एक-एक डग सम्भलकर चल रहा है···बहू बहुत ही नरमी से कह रही है—"इन बच्चों के लिए मै रसोई में थी। ये तो साँस तक नही लेने देते। अच्छा कमाने गये वे ! इधर घर कैसे चले ? कितनी तकलीफ भुगत रहे है···मैं करूँ भी क्या !"

किसने किसका अनादर किया ? वह सोच रहा था। सब तो है। ससार मे प्यार की कमी नही। कभी लोका नाहक के साथ उसकी पटती नही थी। नहीं-नही, अब वह तो मित्र है।

इतने कष्ट के बावजूद उसे हलकापन-सा लगा।

बुख़ार छुट जायेगा। बेटा आता होगा। गाँव मे कितने स्नेही लोग हैं। यह जीवन सुन्दर है !

हगुरा रस का गिलास बढाते हुए बोला, "लो दादा, पी लो।" बहू पैर दबा रही है। और सब बच्चे अपनी छोटी-छोटी हथेलियों से सहला रहे हैं। बूढ़े ने आँखें बन्द की···

सचमुच गाँव-भर मे बीमारी फैल गयी है। कड़ी धूप के बाद वर्षा हुई है। फिर बन्द। किधर-किधर से आकर इस भीगे मौसम के कारण बीमारियो ने सिर उठाया है। बुखार, खाँसी, अधिकतर पेचिश आदि रोग।

छोटे पधान मोहल्ले के उस ओर तीन-तीन खाली डीहों के बाद के बखरों की झोपड़ी···शिखरा की माँ की—वही ताकतवर बूढ़ी जिसे लोग दिल्लगी से हनुमन्त बूढ़ी कहते है ! धान कूटती है। दो दिन से बार-बार कै और दस्त से बूढ़ी की हालत बिगड़ गयी है···उभरे हुए गाल, मोटी-मोटी गठीली बाँहे, हाथ-पैर सब सिमट गये है। आखें धँस गयी है। बूढ़ी पड़ी है···कोने मे मैले कपड़ों का ढेर है। छवि ने झुककर उसके बिछौने से एक मैला कपड़ा खींच लिया और उसी ढेर पर रख दिया। रघुआ की माँ सब कपड़े उठाकर बाहर चली गयी। द्वार पर केला की पत्नी मिली।

"लायी क्या ?" छवि ने पूछा।

केला की पत्नी ने लायी हुई एक डिबिया दिखायी, "किणेई ओझा लोहर को तेज बुखार है। नाहक वही है। वहाँ से निपटकर आयेंगे। यह गोली एक बार एक ···दिन-भर मे तीन गोलियाँ।"···

छवि मटकी से गिलटी के बरतन मे पानी निकालकर बुढ़ियाँ के सामने बैठ गयी। बोली, "लो यह दवाई खा लो !"

शिखरा की माँ ने उसकी ओर सकपकाते हुए देखा।

"ले भी ले···आँ कर !"

दवाई शिखरा की माँ को कड़वी लगी। केला की पत्नी ने उसे पान निकालकर दिया। शिखरा की माँ कमज़ोर धीमी आवाज मे बुदबुदायी—"जुग-जुग जी रे बेटी ! पता नही मेरा इतना उपकार क्यो कर रही है !···मैं कुलछनी···"

"····बात ज्यादा न करो···आराम करो, कमज़ोर हो।"

"····नही-नही, तुम जाओ। जो कर पायेगी रघुआ की माँ कर लेगी। बाबू के घर से आयेगी क्या बहू-बेटी मेरे लिए गू-मूत करने···क्या-क्या नही दिखाया ठाकुर ने !···यह दो कौड़ी की जान—क्यो चली नही जाती ! अब क्या उमर बची है—जीते जी कैसे तुम्हारा देना चुकाऊँगी !"

"ठीक है, ठीक है, तुम आराम करो, बको नही, सिर मत चकराओ।" केला की पत्नी ने कहा, "अरी ओ, किसका देना चुकायेगी ?"

छवि बोली, "क्यो उलटी-सीधी सोच रही है ? जिन्दगी-भर दूसरों के धान कूटकर तूने ही तो गाँव-भर को अबतक भात खिलाया है !"

शिखरा की माँ ने गहरी साँस ली। बोली, "वह धान कूटना भी अब ख़तम समझो। नछिपढा के मिश्रजी चावल कूटने की मशीन बिठा रहे है।"

छवि ने कहा, "अरी, वह उनके गाँव मे है, हमे उससे क्या लेना-देना। कितनी दूर है गाँव उनका। तेरी रोजी कौन छीनेगा ?"

शिखरा की माँ गरदन हिला-हिलाकर कहने लगी, "लेंगे लेंगे,···आज उनके गाँव मे हुआ है, तो कल अपने यहाँ भी हो जायेगा। दुखियाओं के दाने छीन लेंगे। टिड्डी मारकर मैना पालेंगे। करें। युग तो वैसा ही है। उनका भला हो···वे बड़े आदमी बनें···।" वह और कुछ कहना चाह रही थी, पर कह नही सकी। उसके होंठ हिल रहे थे पर बात नही निकल रही थी।

"सो जा, सो जा" केला की पत्नी ने उसके सिर पर थपकी देते हुए कहा, "इधर-उधर की मत सोच। गाँव मे इतने सारे लोग है, कौन तेरा दाना छीनेगा।"

शिखरा की माँ ने फिर से मुँह बनाया। चेहरा सिकुड गया···और एक बार फिर दस्त हो गया। छवि उसके पीछे आ गयी।

सहमती आँखों मे उसने घर के अन्दर के दृश्यों को एक बार समेट लिया।

खाली झोपडी। कूडा-करकट। टूटी-फूटी। नीचे फटे कपड़े बिछाकर बूढी सो गयी है। कितनी मोटी-तगडी थी…सूख गयी है। पता नही क्या होगा!

हठात् बूढी बोली, "कही से थोडा-सा अचार नही ला देते। खाने को मन करता है।"

केला की पत्नी ने कहा, "सो जा, मैं ला दूंगी बाद मे।"

सेवा और त्याग। दोनों बड़े-बडे शब्द है। सुनते ही उसे लगता है मानो वे शब्द उसपर टूट पड़े हों। फिर भी लोग कहते है कि उसके पास वही दो गुण है। पहले पता नही कैसे वह घर से निकल पडी थी! कही भी कोई बीमार हो और उसे सेवा की जरूरत हो, वह अपने-आप निकल पड़ती है और पहुँच जाती है। गाँव-भर मे जैसे सभी उसके कुटुम्ब के है। धोबी, नाई तक के घरो में बैठकर उसने बीमार बच्चो के लिए सागू बनाया है। डोमो की बस्ती में बैठ उसने लड़कियों के बाल सँवारे हे, जूँ मारी है।

शिखरा की माँ को साफ़ रख, उसकी परिचर्या कर छवि मन मे उल्लास का अनुभव कर रही थी। माँ को फुसलाकर उसके लिए थोड़ा फटा कपड़ा एव एक साबुत-सी चादर लेकर दे आयी, उनका उल्लास कई गुना बढ़ गया। बाद मे फिर जाने कितनी ही बाते चली। ऐसे काम मे पिता का सदा समर्थन और उत्साह रहा है, इसलिए वह निश्चिन्त मन से ऐसे काम कर लेती है। गुरु की माँ सहानुभूति मे पिघल जाती, परन्तु बाहर के आँगन से आगे रास्ते पर कदम वह नही रखती। छवि कही निकलती तो आश्चर्य मे भरकर कहती, "जाती हो। सच, फिर जाती हो!" माँ कभी-कभी आपत्ति करती। कहती, "यह पागल की तरह कहाँ दौड-धूप कर रही हो? दुनिया-भर का उपकार बस तुझे ही करना है! यह कहीं लिखा है? बच्ची ठहरी, इसके गये बिना लोगो का काम नही चलता, सो लगा-सिखाकर इसे काम मे खदा रहे है।" पर उसका बिगडना केवल मुँह-भर ही होता, वह कभी रोकती नही। वरन् उलटे गुरु की माँ से कहा करती, "बेटा भी यही, बेटी भी यही इसे क्या रोकूँ, बता? करे, क्या-कुछ करती है, अपना तो कोई अनिष्ट करती नही।"

कहाँ-कहाँ से उस गाँव-गली मे भी बाहर की खबर आकर भेद जाती है…कि दुनिया की हवा स्त्री-जाति के मुँह पर से घूँघट कब किस जमाने से खीच ले गयी! औरतें भी मरदों के समान काम करने लगी, बाहर निकल पड़ी हैं। गाँव मे चली है कितनी ही बार यह बात। गुरु की माँ के कोई दूर के रिश्ते में मौसी के बेटे की दो लड़कियाँ है—सोना और हीरा। उस ज़माने मे नयी लगती थी यह बात—कि उन्होंने ब्याह नही किया। डॉक्टरी की पढाई की, उमर बढ़कर कितनी हो गयी, वे बिना-ब्याही ही रही है। वे चर्चा का विषय बन गयी थी। सुना गया कि वे डागदरानी बनी, बाप ने बिलायत भेजा। चारों ओर बात फैल गयी कि पूरा कलजुग

आ गया, वरना कहीं ऐसा भी होता है कि चिर-आचरित ढंग से पराये घर न जाकर दोनों बेटी मरदों की तरह स्वाधीन वृत्ति कर कुँवारी रह जायें !

पर कुछ ही बरस जाते-न-जाते और भी कई लड़कियाँ वैसी ही निकलीं, पढ़ाई करनेवाली बेटियाँ—कोई डॉक्टर, कोई सरकारी चाकरी में, कोई नारी कार्यकर्त्री। किसी ने विवाह किया, कोई अविवाहित रही। इस गाँव में जो बहू बनकर आयी या यहाँ से और गाँवों में बहू बनकर गयी, नाते-गोते में उन्हीं के बन्धु-बान्धवों में भी कई ऐसी थी। बात फैलती गयी। सिर्फ इतने पर ही नहीं रुकी। कभी किसीकी अपकीर्ति की कहानी भी आकर पहुँच जाती। और कभी खबर आती कि किसी ने अपनी इच्छा से वर चुनकर ब्याह किया, अमुक का ब्याह वेदी तले नहीं हुआ, बस कचहरी के खाते में दस्तखत देते ही हो गया। किसी ने अपनी जात से बाहर ब्याह किया—आदि कई बातें। शुरू-शुरू में कितनी नाक-भौं सिकोड़ी गयी, फिर वे भी देह को सहनी पड गयी। गांव के लोग शहरियों की बातों को जिस कुतूहल से आलोचना करते अब वह ढंग भी रहा नहीं उनकी आलोचना का। गाँव-शहर घुल-मिल गया—परिवर्तन के इतिहास में, गाँव ही नहीं, अवस्था के फेर में जहाँ जो भी घट जाये, लोग मान लेने को अभ्यस्त हो गये। मान लिया गया कि अपनी-अपनी रुचि और बल-ज़ोर होता है। जो बहुत ही पुरातनपन्थी थे वे नये जुग पर अभिसपात कर रहे थे। उन्होंने भी देखा कि यह अभिसंपात कोई ख़ास असर नहीं करता, ब्रह्मशाप का भी तेज़ नहीं, आलोचना सुनकर कोई उद्‌बुद्ध नहीं होता, वरन् कोने में खड़ी नयी आयी बहू भी दो बातें मुंह खोलकर कहने लग गयी !

छवि की माँ भी खबर रखती इन सारी बातों की।

फिर भी असमझ मन नहीं मानता। लगता, बाहर औरों के लिए जो सच है, क्या उसकी धौंस भी लग गयी उनके अपने घर में। बाहर दुनिया की घटनाओं में वे जिसे सम्भाव्य मान लेतीं अपने बारे में वे ही बातें जाने क्यों अड़चन-सी लगतीं। अतः छाती छन् से रह जाती। वैसे छवि उतना नहीं सोचती। जैसे घूमा करती थी, वैसे ही घूमती। बस्ती की बहू-बेटियाँ आकर बुला ले जातीं।

छवि की माँ गुरु की माँ की ओर देखती।

देखने को सिन्धु चौधरी न होते। होने पर भी उनसे प्रतिध्वनि नहीं मिलती। कभी-कभी गुरु की माँ गुरु को भेजती—"जा देख आना तो तेरी जीजी कहाँ गयी।" एक मैली-सी धोती डालकर गुरु निकल पड़ता, गुरु की माँ उसकी पटली को ऊपर खोंस देती और थैले की तरह सामने झुला देती। गुरु दौड़ जाता।

यही क्या कम है, इतने लोगों के सुख में सुखी—दुख में दुखी होकर, इतनी जगह सुध लेते फिरना? छवि सोचती। पसीना जब चिपचिपाता हुआ बहने लगता, धूप की तेज़ी में लू थपेड़े मारती। वह औरों के साथ जी खोलकर हँसती, हवा का स्वाद पहचानती। और मन-ही-मन स्मरण कर लेती उसी किसी छिपे हुए

'अन्य' को जो उसकी स्मृति और कल्पना से पैदा होकर सचमुच जैसे उसके खून में घुल गया है।

बाहर चेहरे पर वही नित्य का परदा है। उसपर वही जाने-पहचाने चित्र हैं। माँ-बाप की लाडली बेटी, जो अब मोहल्ले-भर की लाडली बन गयी है, आँखों का तारा है। उसके अन्दर उसका एक और जीवन है। छवि प्रतीक्षा कर रही है।

होली गयी, उसके बाद गरमियों के दिन'''जल-जलकर वे भी मर गये। आया पहला मेघ, बाद में फिर कई बार, रह-रहकर। नये बीज अंकुराये। नयी दूब उगी, छवि का कुछ नहीं हुआ।

लगता है, गाँव थोडा ठण्डा पड गया है। जो दीवार खडी हो गयी थी, वह हट गयी है। गेल्ही की माँ, कन की माँ, अगणियाय, गदेई लेंका आदि गाँव में न होने के बराबर हैं। उन लोगों की जगह गाँव-भर में शरीफ़ घरानों की बहू-बेटी घूम-फिर रही है, मानो फटे-दिल, टूटे-सम्बन्धों को जोडने की कोशिश करती हों।

गुरु की माँ को एक बार बुखार हुआ। चार दिन। पता नहीं किधर-किधर से आकर औरतें घर में जमा हो गयी। कोई पैर दबाने लगी तो कोई पथ्य बनाने लगी। कोई सहलाने लगी तो कोई उसका मन बहलाने के लिए मीठी-मीठी बातें करने लगी। उस समय छवि की माँ को भी अनुभव हुआ कि गाँव में कुछ-कुछ अच्छा होने लगा है।

छवि के लिए सम्बन्ध लेकर मणिहंसपुर के रामगुरु आये थे, लम्बी तोंदवाले, गोल-मटोल ठिंगने-से, बूढे। अभिस्वाई ने अपने बेटे नव के लिए उन्हें भेजा था। रामगुरु बोले, "सिर्फ जातवाली बात को नहीं उठायेंगे तो ऐसा लडका दुनिया-भर में नहीं मिलेगा। नवकिशोर ने इंजीनियरिंग पास किया है। अब और पढने विलायत गया है। देखने में वह जैसा है उसकी बातें भी वैसी हैं। स्वभाव-आचरण किसी में कमी नहीं। अभिराम बाबू को तो आप जानते हैं, उनकी कौन-सी बात आप से छिपी है?"

बाहर बैठक घर के जँगले के उस ओर छवि खडी थी। शाम उतरती आ रही थी। सामने गाँव की बस्ती से धुँआ उठकर ऊपर आसमान में एक हो रहा है'''धुआँ'''इधर-उधर भँवरें पड रही है। आँख जहाँ तक तैर जाये, धुएँ का कोहरा है जिसमें धीरे-धीरे अँधेरा शामिल होता जा रहा है। घने पेडों की छतें एक हो गिर पड़ती-सी लग रही थी'''उसी में उसने अनुभव किया'''अपनी उठती-गिरती छाती के नीचे दप्, दप्'''दप्'''दप्'''एक अपना आतुर स्पन्दन'''।

पिताजी गुमसुम बैठ गये। छवि ने सुना, वे कह रहे थे—अभिस्वाईजी से कह

दें रामगुरुजी, कि मै उनके प्रस्ताव का सम्मान करता हूँ। विद्वान्, चरित्रवान् युवक, उसके परिश्रमी पिता, उन्होंने सब अपने हाथों से किया है, कमाया है, कोई चोरी तो नही की।"

छवि ने अनुभव किया, मानो उसका हृदय अचानक सहम गया है। छाती रुँधती गयी···साँस रुकती गयी। लगा जैसे वह उस धुएँ के अँधेरे में खो जायेगी···

फिर उसने सुना, चुप रहने के बाद पिताजी बोले, "पर बात यह है, हमने भी दूसरी जगह लड़का देखा है। लड़की पराये घर जायेगी, उसके समाज को बदलने में देर लगेगी···अप्रीति भी हो सकती है। हम सिर्फ़ एक लगाव के लिए इस टूटी डोह को जकड़े बैठे है, सस्कार की माया को तोड़ने के लिए बल चाहिए। उसके लिए अपने को तैयार करने में समय की आवश्यकता है···इस तरह हूँ करके नही। उन्हे कहे प्रतीक्षा करे···योग होगा तो हो जायेगा, कौन कह सकता है?"

"आप नहीं कह सकते क्या ?"

मानो एक नये उत्साह से उछलते हुए चौधरी बोले, "कह सकता था, पर मैं लड़की को सर्कस का खिलाडी बनाना नही चाहता। मुझमे बड़ी आशा भी नही है, बहादुरी दिखाने की भी इच्छा नही है। आदमी का मन ही तो, एक और तरफ बह गया है, मैं देख रहा हूँ, आशा की है···पर जहाँ होना है वही होगा···आप समझ रहे हैं ?"

फिर एक लहर आयी थी। छवि ने अनुभव किया, कि वह लहर फिर लौट गयी। फिर उसने सम्भलकर अपने आपको देखा, वह समूची है। उत्तेजना में काँप रही है। चूड़ियो की खनखनाहट, आँचल के सरकने की धीमी-सी आवाज उसे सुनायी पडी। और सुनायी पडा गाँव-भर में शाम का स्वर। किसी मुहल्ले में कोई चिल्ला रहा है कही, किसी ओर से बछड़े के रँभाने की आवाज, किसी ओर भीड़-भड़क्के का स्वर। जिस तरह एक साथ पोखर मे पानी छलछला उठता है आदमी के स्वर और डाहुक के बोल। जिस तरह 'कुमार पूर्णमी' पास आते-न-आते गाँव-भर की कुँआरियों के गीतो की लहर लहरा जाती है। लगा जैसे इन शब्दों के सागर में कभी सिर उठाने पर, कभी निश्चिंत विश्वास से सो जाने और उसके बाद आँखे खोलने पर अपने को घिरी हुई जानी-पहचानी दुनिया को देखेगी। निर्भर और विश्वास-भरी उसकी वह सस्थिति। वह टूटी नही···वैसे ही है।

अँधेरे में एक-एक कर सब दीये जल उठे। छवि चौकी और सोचने लगी— क्या हो गया है उसे ! आज सन्ध्या-दीप भी उसने नही जलाया है अभी तक, सब कुछ माँ कर रही है, क्या सोचती होगी वह !

धीमे क़दमों से घर लौटते हुए वह सोच रही थी, कौन-सा काम वह कर रही है, क्या है उस काम का मूल्य !

उसके बाद उसने फिर अपने अन्दर झाँका···सपनो से भरी-पूरी उसकी जिन्दगी है। बाहर यही सत्य है और अन्दर भी वही है। और उस नये ससार में रोज वह रवि के साथ मिलती है। बातें करती है···

पिताजी बोले थे—उसका मन किसी दूसरी ओर बह गया है···उन्हे भरोसा है। क्या है वह भरोसा !···किसपर ?

लाज से डूबी-सी उसने रवि को स्मरण किया और मन-ही-मन जैसे वह कहने लगी, "और किस पर ? तुम पर तो ?"

हाँ, तुम्हारा नाम है। तुम बडा काम करते हो, सबके मुँह पर तुम्हारी जय-जयकार है। मैं कौन हूं ? क्या हूँ मै तुम्हारी ? क्या होगा मेरा ?

वह चेहरा मुसकरा रहा है। पर यह क्या हुआ ? गाल भीगे-भीगे-से लग रहे है। मन-ही-मन पता नहीं उसने क्या कहा था···वह स्वर अब अपने कानो मे बज रहा है—शिखरा की माँ के बिछौने के पास रहकर तुम ही तो सब कुछ बता रहे थे, करने-धरने को कह रहे थे। अछूतो की बस्ती मे तुम थे—और क्या कुछ···। और भी कई जगह !

उसने आँसू पोछ लिये। दरवाजे पर खडी हो माँ बुला रही है—"अरी ओ छवि ! किधर चली गयी···?"

उस स्वर के साथ स्वर मिलाया है गुरु ने—"छवि दीदी !" दुनिया स्वर पसारे है उसे पकडने को और वह है कि उड़ जाना चाहती है। कैसी है वह ?

लजाते हुए, डरते-डरते चलते समय गाय बाँधने की खूँटी से टकरा गयी, फिर सम्भल गयी ··और चुपचाप जाकर बोली, "क्यो चिल्ला रही हो, क्या मैं कही खो गयी हूँ ?"

मानो चारो ओर रवि की जयजयकार गूँज रही थी। जैसे सदियो से, युग-युग से स्वार्थ की पूजा करती आयी धरती धीरे-धीरे करवट बदलकर नये रास्ते की ओर देखने लगी है।

हर जगह यही चर्चा है कि वहाँ एक दल है जो अपने काम छोड़ दूसरों की भलाई के बारे मे निरन्तर सोचता है। एक भाईचारे का दल बना रहे है। कोई कहता है—"कितने आये, कितने गये···अब ये आये है पहिये खिसकाने। अरे आदमी को अपने ही काम-धन्धे भारी हो गये···फिर इसे क्या ढोयेगे ?"

पुरोहितजी घर-घर व्रतकथा बाँचने जाकर, पूजा करने जाकर यही बात दुहराते जा रहे हैं। इस तरह के एक-एक आन्दोलन होते-होते करोड़ होगे, मालिका मे लिखी भविष्यवाणी क्या झूठ होगी ! कलि का भार हद से बढ़ गया, अब सत

उपजेगा। पहले जगत् को घेरे था, फूटन-पर्व। खाता फाड़ो, घर फोड़ो, भाग-बँट-वारा कर दो, दूसरे की जमीन काटकर एक टुकड़ा निगल जाओ, दूसरे का अन्न खुद हड़प जाओ। इसी तरह फोड़ते-फोड़ते आँचल से परमाणु निकला, जिसे फोड़ो तो जगत् का नाश हो जाये! क्या-क्या हो चुकी यह धरती, देखते नहीं! कुशभद्रा नदी के किनारे खजुरिपडा मे वग रिफ्युजियों को जाकर देख आओ, सौ पीढ़ी की ज़मीन-जायदाद, घर-बार छोड़कर, ग्राम देवता-देवालय छोड़कर यहाँ आकर परदेश में नया ससार बसा रहे है। पर हमारे घर मे क्या हो रहा है? दो बहनों की शादियाँ करवायीं; नरसिहा को दो आखर लिखाया-पढ़ाया, उसकी भी शादी की और अब उसका पहला काम हुआ—अलग हो जाना, जैसे ही अपनी पतवार स्वयं सँभाली, जैसे ही कलकत्ता जाकर दो पैसे कमा लिये। उसी के लिए रोज हमारे घर मे झगड़ा है। उसी के लिए तो फूलशरा में यह सब कुछ नये-नये बनाये जा रहे हैं। सब एक बनेंगे'''एक परिवार बनकर रहेंगे, बसेंगे। जा देख आ''' यहीं से सतयुग का आरम्भ होगा।

अँधियारी रात। दमकते बादल। सारी धरती अँधेरे का लिहाफ़ ओढ़े सोयी पड़ी है। छवि सोयी है। वर्षा की साँय-साँय की तरह रक्त-मांस की देह मे बढ़ती आ रही है आसुरी बाढ़। अन्धकार के नींद से बोझिल करतूतों की आड़ मे प्रबल वेग से जीवन का प्रवाह बहता चला जा रहा है। झिर-झिर वर्षा झर रही है। पत्तों पर टपकता पानी। हज़ार कण्ठ से एक साथ मानो स्वर फूट रहा है'''उसी के नीचे-नीचे है प्रवाह। प्रवाह—जीवन की गति और उल्लास। आकाश और माटी भीगे अन्धकार के साथ घुल-मिल गये है। सब एकाकार होकर एक अभिनव सृष्टि हुई है। वहाँ अवयव न स्पष्ट है न स्वतन्त्र'''वहाँ भावना ही प्रधान है। विराट्, विपुल परितृप्ति की तरह अन्धकार मे वर्षा का प्रकाश। छवि नींद से जागकर दूर देखते हुए बरामदे में बैठी है। हाथ पर गाल टिकाये, पैर पसारे अपने को उन अन्धकार में मिलाये-सी बैठी है, वह—एक नगण्य प्राणी। धीरे से अनुभव कर रही है, अपने मे उस वर्षा की चमक। वही आकांक्षा, वही उल्लास, वही पागलपन। वह बुद्धि की नहीं, एक अन्धी क्षुधा है।

उसकी रक्त-मास से बनी नारी देह! वहाँ यौवन का ऐश्वर्य है।

अँधेरा मानो उससे अनुनय-विनय कर रहा है। उस भविष्य मे योजना नहीं या कोई राजनीति या अर्थनीति नहीं—केवल एक नारी है जो मृण्मयी होकर चिन्मयी है। आनन्द के लिए है उसका जन्म। पर कहाँ है वह आनन्द?

अनहोनी की भाँति दीर्घ साँस आयी। फिर वह चोर की तरह सकुचाते हुए

विछौने पर लौट आयी। आँखे मूँद ली। धड़कती छाती और लड़खड़ाती देह को मानो उस वर्षा के अँधेरे के सहारे टिका रही है।

उसके बाद डूबती जा रही है।

"माटी किसी की नहीं फिर भी रुकती है। माँ के पेट से मुट्ठी मे माटी लिये कोई नही आता। ससार मे आने के बाद सम्पत्ति अर्जता है, ज़मीन-जायदाद करता है और सोचने लगता है कि ये सब उसी की हो गयी। जाते समय फिर वही खाली हाथ आग पर चढ़ता है, मिट्टी पड़ी रहती है। इसलिए इतने लन्द-फन्द से कोई फ़ायदा नही। कर दो, सब मिलाकर एक कर दो। जितने ससार को आये है सबका यही एक घर है। सब यहाँ काम कर आपस मे बाँटकर खायें, भूखा पेट अशान्त न रहे। न पानेवाले, जिनके पास नही है उन अभागो के मन मे ईर्ष्या न रहे, विद्रोह न रहे—शान्ति की स्थापना हो।

ये बातें नन्द तहसीलदार के कानो मे झनझना रही थी।

कुत्ते पर मक्खियो की तरह वे लगे हुए थे। पहले रवि और फिर दल-भर के दूसरे। कही भी बैठे, बस वही बात।

क्रमशः नन्द तहसीलदार ने देखा, कहाँ से आ टपकी बात आकाश से गिर धरती पर अंकुरित हो गाछ बनी, एक के बाद एक और धीरे-धीरे सब उसी ओर ढलने लगे। पहले आये असमर्थ, अनाथ, बेवा फिर अल्प वित्तवाले, अन्त मे बूढे रघु विश्वाल को पता नही कैसा परमार्थ ने आ घेरा कि उसने अपनी सारी सम्पत्ति और दो जवान लड़कों को कोठार मे शामिल कर दिया और वह बैठे-बैठे माला फेरने लगा। जिसने भी पूछा, जवाब दिया हँसते हुए—"ठाकुर ने बताया है, इस युग मे मेरा नाम कोठार है। यही सही रास्ता है।"

और नन्द तहसीलदार ने जब अपने दोनों लड़कों कुलिया-मुलिया से कुरेद-कुरेदकर पूछा तो वे बोले, "बाप ने जो कहा, क्या हम उसे टाल जायेगे। हम दो भाई थे, अब सौ भाई बने। देखो, अब गाँव-भर के लोग सब भाई-भाई है। दो भाई एक हो मिले तो कितनी खेती कर दें, ढेर सारे काम कर दें और सौ बलशाली भाई एक साथ हल चलाने आयें तो देखना, कितना-कितना काम हो जायेगा!"

देखते ही यह बात गाँव-भर मे फैल गयी, हलचल मच गयी। पानी की सतह पर पतले दल की तरह सब उसी ओर पसर आये। मानो वह एक बाढ़ थी, जो कोने-कोने मे फैलती गयी, सब एकाकार करती गयी। सिर्फ़ उस गाँव मे नहीं, आस-पास के कई गाँवों मे फैल गया वह आन्दोलन। जैसे सबको 'मैं-पन' कड़वा लगने लगा था। दो, सब एक कर दो, सब सहकारी हो। नन्द तहसीलदार भकुए

की तरह इस पागलपन को ताकते रह गये थे।

अपने आत्मविश्वास के सहारे वे अटल, अविचल थे। लोग उनकी बातें सुनें, न सुनें, वे उपदेश बाँटने जा रहे थे। इसी तरह विरुद्ध मत प्रचार करते-करते, तर्क करते-करते कब इस नयी भावना ने उनके मन की गहरी सतह को हिला दिया था—उसका उन्हें पता ही नहीं था। उन्हें पता नहीं था, कब रावण में ईश्वर-भक्ति की तरह इस विरोध के संघात से ही उनका मन खिंचता चला जा रहा था, पर वह तो मन की बात थी, बाहर वे अविचल दृढ थे।

और बाहर की उस अविचलता को तोड़ने के लिए मानो दुनिया-भर के लोग षड्यन्त्र कर रहे है, जिद कर रहे हैं—बार-बार दुहरा-दुहराकर यही बातें सुनाते। जैसे आकाश-पवन तक इस षड्तन्त्र में लिप्त हैं, कानों में मानो हवा भी कहते हुए चली जायेगी वही बात—"छोडो-छोडो, मैं-पन का मोह छोड़ो, किवाड़ खोल दो, सब अन्दर आयें, तुम भी बाहर आओ और देखो बाहर जो कुछ है वह भी तुम्हारा ही है, हर जगह तुम्हारे घर हैं, किसी को पराया मत करो और खुद पराये मत बनो।"

सुबह नींद टूटे बाहर आयें तो लगता है जैसे भोर का उजाला वही बात कहने की प्रतीक्षा में है। बाट के बटोही, गोबर चुननेवाले, गाँव की औरतें, गाँव के मनमौजी लोग सब एक ही ताल में मानो रट लगाये हुए हैं—और दिन में दो बार उसी मन्त्र का जाप करने के लिए आ पहुँचते है धोवेई मिश्र—अत्यन्त विनयी, शीतल मधुरभाषी। न चिढाते है, न तर्क करते है, न झगड़ते है। पुराण बाँचने की उसी एक ही बात को दुहराते जायेंगे—"मिट्टी किसी की नहीं है, फिर भी सभी की है। मेरी-मेरी कहकर भी कोई उसे साथ नहीं ले पाता। परमेश्वर ने आपके लिए इतना बड़ा घर बनाया है, उसे छोड़कर अलग दीवारें खड़ी कर छोटी-सा कबूतरख़ाना बनाने की क्या आवश्यकता है? युग बदल रहा है, हम भी बदलेंगे, नास्ति न कहें और सबको मिला दें।"

बातें कानों में झनझना रही थी।

धोवेई मिश्र ज्ञानी है। बात-बात में पुराण, शास्त्र, इतिहास के उदाहरण देकर समझाते है। इस गाँव के नहीं है, सुभद्रापुर के पुरोहित ब्राह्मण है, घरबार सब छोड़कर इन्ही के साथ आ मिले हैं। दीक्षा-आडम्बर नहीं। तेल नहीं लगायेंगे, सिर्फ एक वेला भोजन करेंगे। बुख़ार हो फिर भी, जहाँ तक जाना होगा अवश्य जायेंगे। कहेंगे, "रवि भाई को लें, वे कितने महान् पुरुष हैं, वहाँ चेतना में पराधीनता नहीं है।"

उस दिन शाम को ही नन्द तहसीलदार के घर के सामने तुलसी के बिरवे के चारों ओर पक्के चबूतरे पर बैठक हुई थी। छोटे-बड़े कई जमा हुए थे। बूढ़े राघु बलीयार सिंह ने वही पुराणवाली बात छेड़ी—"अच्छा, आप जो कहते है कि

कोई भी अपना कहकर कुछ भी नही रखे, तो यह क्या कभी सम्भव हुआ है ?"

धोबेई मिश्र ने उच्छ्वसित होकर कहा, "हाँ हुआ था, हुआ था, बारम्बार हुआ था । नही तो क्या पुराण, इतिहास सब झूठे है । आदमी पवित्र बन जन्मा था, नररूपी नारायण, अच्छाई की ओर उसकी रुचि है। धूल-मैल की तरह स्वार्थ का मोह उसपर परत-परत हो जम गया है उसकी पवित्र आत्मा को बाँध रखा है, यह सब अवस्था का दोष है, उसका अपना दोष नहीं है। जब वह आच्छन्न रहता है, सपने को सच मानता है, उस समय उसे नीद से जगाने के लिए युग पुकार लगाता है। यह पुकार कभी कृष्ण की बाँसुरी तो कभी बुद्ध की वाणी बनती है। उसी पुकार से मनुष्य जाति की नीद टूटी थी। सत्य को ढूँढ़ने के लिए गतानुगतिक लीक से उलटा रास्ता पकड लिया था मनुष्य समाज ने। उसी को कहते हैं—यमुना का उलटे बहना। जिस संसार को जिस विचारधारा को पहले मनुष्य प्रिय मानता था, पलक झपकते उसे फेंककर नये विचार को अपना लिया—उसी का नाम है सोलह सहस्र गोपियों का मन-विसर्जन। यह आदमी सब कुछ कर सकता है। एक तरह की जीवनगति को बदलकर एक नयी धारा की सर्जना कर देना; यह सिर्फ़ मनुष्य के द्वारा सम्भव है, इसलिए उसे चारों ओर की अवस्था ग्रास नही कर सकी; उसका वंश अटूट है—बढ़ता चला है, मानव जाति ने कई बार 'मैं-पन' तोडने की पुकार सुनी है और अहंभाव टूटा है, अब भी टूटेगा।

बुद्ध युग के आदमी—उनका भी अपना घर-बार था, सम्पत्ति थी, छोटे से बड़े बनने का लोभ था, कोई शासन करता था, कोई बड़ा व्यापार करता था, कोई कर्ज़ ही कर्ज़ से अनगिनत लोगो को गूँथकर मुफ़्त मे ही लाभ उठा रहा था और वे विलास से सड़ रहे थे। उसके बाद उन्होने बुद्धदेव की वाणी सुनी, हठात् सब छोड़ दिया, देश-भर मे सब भाई-भाई बन गये, जनगोष्ठी के सेवक। तीन ही अभीष्ट आँखो के सामने थे—बुद्धदेव के चरण, संघ और धर्म। इन तीनो की शरण में जाना होगा। बड़े-बड़े धनी, अनाथ, पिण्डज सब छोड-छाडकर बुद्धदेव के सेवक बने, और महान् अशोक को तो सभी जानते है। उस समय किस हिसाब और बुद्धि ने लोगो को रोका था ? और कल सुबह जब दरवाज़े पर आकर चैतन्य महाप्रभु ने पुकार लगायी—किस व्यवसाय-बुद्धि ने इस जाति को रोक लिया ? कोई नही रोक सका'''कोई नही रोक सकता, सत्य की जय होगी, धर्म की जय होगी।"

नन्द तहसीलदार ये ही सब बातें सोच रहे थे।

कितना लन्द-फन्द कर सम्पत्ति जमा कर आये है जीवन-भर। लोग रोये है, गालियाँ दी है, अभिशाप बरसाये है। इतनी दुश्चिन्ताएँ, इतना परिश्रम ! खुद मेड़ पर खड़े रह छोटे लोगों से बुद्धि-बल से छीनकर लायी गयी जमीन को एक साथ शामिल कर उन्होने मरम्मत करवायी है, ऊँचा को नीचा, नीचा को ऊँचा

कर बडी-बडी क्यारियाँ बनवायी है, पोखर खुदवाये है, नारियल के पेड लगाये हैं, जमीन की ओर घूमने गये तो मानो उसपर अपनी ही रोहर चमकती-सी दिखती है।···आज युग की पुकार है, सब कुछ को सामिलात बना देने की। बाडी से एक पत्ता साग या बगीचे से तिनके-भर कोई ले जायें तो हुडदग मचा देते। पर उन सबको अब सबका बना देना होगा। सिर्फ बात से नही, कार्य से। ऐसा भी कभी होता है?

पर हुमक-हुमककर बारम्बार चलता है नये विचारो का जुलूस, रग-बिरगा। सारे गरीब, मटमैले मजदूर—वे सब भी जगत् के लिए दान करके नयी स्वाधीनता के सैनिक बने है। देने की मर्यादा, त्याग करने की मर्यादा के कारण कितने ऊँचे लग रहे है, कितने निर्भीक रहे! कितने स्पर्धित लग रहे है! और वह खुद?···

वे देख रहे है।

ओह, कितनी जलती-सी है वह दृष्टि।

शाम ढलते समय से अनजाने बुख़ार की तरह उस चिन्ता ने जकड रखा है, कभी वह चिन्ता आती-जाती थी, पर इस बार लेने को आयी है, समस्त चेतना को आच्छन्न कर, अभिभूत कर जकड़ रखा है, जिसे भुलाया नही जाता।

किसी अवसर पर दिख जाता है—मेरा घर, मेरी बाड़ी 'मैं-पन' जहाँ और किसी का देखना हृदय को सहा नही जाता···उस 'मैं-पन' के तूफ़ान में कर करा-कर टूटते समय आँखो से जुगनू निकल रहे है। माथे पर सलवटें पड़ रही हैं—ऐं, सबकी तरह मैं भी उड़ेल पड़ूँगा सब! फिर दूसरे पल चिन्ता बदल जाती है, नये सिरे से सब एक और तरह दिख रहे है। जगत् का नया रूप, वहाँ सोने का वर्ण भी काला पड जाता है, धन-दौलत कोयले सरीखी दिख रही है, घर-द्वार कारागार की तरह। वहाँ आदमी ही केवल मूल्यवान् और मर्यादायुक्त है, वह ख़ुद और उसका एक अकेला समाज, उसका कठोर दल, श्रम और बल। वहा अकेला आदमी केवल कायर है, दुर्दस है, उद्विग्न और सन्देही है। खेत के किसानो की गुनी हंसी सुन उनकी छाती धड़कती है, आतंक से वह उस घड़ी की प्रतीक्षा करता रहता है, जब उसकी ओर उँगली उठाकर लोग कहेंगे···वही वह जा रहा है, और गाँव में केवड़े के झुरमुटे, घास की झाड़ियाँ तक उसे आश्रय नही देंगी।

वह किधर है? वह नही है उस सूने अनिश्चित रास्ते के अकेले भयालु पथिक के साथ। वह उसी दल का आदमी है। उसका नया जन्म हुआ है। इस जन्म मे यह दर्शन ही जगत् भर के लोगो को बाँधे रखता है, और दस आदमी जिस बात को मोल देंगे, वही तो है उसका मोल! दस लोग मोल देते है एक दुनिया का, एक भाईचारे के इस खुले रास्ते का। जिधर जाओ सब जगह तुम्हारा ही

घर, जहाँ लड़खड़ाओगे दस हाथ बढ़ आयेंगे तुम्हें उठा लेने को। चिन्ता नहीं, हिंसा नहीं। संचय होगा—एक के लिए नहीं सबके लिए। आमदनी होगी सबके पेट की खातिर, अपने और अपनी सन्तानों के लिए सारी पृथ्वी ही जागरूक है। अपने भण्डार की पूँजी वहाँ हास्यास्पद है, उसकी जरूरत नहीं। उसी दुनिया में नये सिरे से उनका जन्म हुआ है। कितना सहज लगता है यह। यही तो है परिचित जीवन। इसी जीवन का परिचय तो लिया था प्राचीन धर्म ने। और जगन्नाथ! यही अभय वाणी तो वे सुनाते आये थे युग-युग से। अन्तर में अँधेरे झरने की तरह वह रहा था महामानवीयता का स्वप्न, सृष्टि के आदिम काल से, झरना अन्त:सलिला फल्गु बनकर रह गया था, प्रकाश के लिए प्रतीक्षा की थी इस नयी भोर की, इस नये प्रकाश की, मानव की सहजात मानवता यहाँ प्रकाश पा गयी है, वह पुण्य नहीं, अपने से अलग होकर सुनी हुई बात, पढ़ी-पढ़ायी बात का ज्ञान नहीं, वह जीवन है।

यही विचित्र द्वन्द्व, विचित्र अनुभूति में डब-डुब हो रहा है। नन्द तहसीलदार। बरामदे में बैठे-बैठे समय बीतता जा रहा है। किसी के साथ बातचीत नहीं, बोलचाल नहीं। कल वे आये थे। आये थे समझाने, आज नहीं आये हैं। कोई न आये—आज अपने अन्दर ही सारा जगत् इधर-उधर हो अपने को प्रकट कर रहा है। यह कैसा तूफान। कैसा प्रलय। फिर कैसी सृष्टि, कैसा विस्मय।

शाम ढलती आयी। खेत से लौट, एक साथ मिल, उल्लास-भरी गूँज भरकर इसी रास्ते से गाँववाले गये, और अलग-अलग खेती नहीं'''जहाँ लग जायें, सब लग जायें। जैसे असुर काम कर रहा हो। असम्भव को सम्भव बना रहा है। कहीं, ऐसी खेती के बारे में तो किसी ने सुना नहीं था, न देखा था। अकेला तारा उगा, उसके बाद और तारे, और तारे। दूर आकाश है, और काला बादल सरकता जा रहा है, वर्षा भीगे आकाश में गुच्छे-के-गुच्छे तारे खिल रहे हैं। कितने सतेज, कितने उजले! मन के सपनों की तरह जैसे इस आकाश पर अंकित रह गया है। नन्द तहसीलदार, नन्द तहसीलदार—नहीं, कोई नन्द तहसीलदार नहीं है। ऐसा आदमी कभी कोई नहीं था। केवल अनगिनत तारे, और अन्धकार! ऊपर उनकी मृत्युजयी हँसी। और समवेत मनुष्य कण्ठ की झंकार। मनुष्य जाति ने अपने में उषा का आविष्कार किया है। यही उसका संगीत है। बाहर संगीत कब का थम चुका, अब टिमटिमाते लालटेन जलते रहेंगे, लिखायी-पढ़ायी चलती होगी। टिमटिमाते-से दिखायी दे रहे हैं उनके शिविर। उषा का संगीत गाकर, सूर्य की वन्दना कितनी नद-नदियाँ पहाड़ पर्वत लाँघ, बहती जा रही हैं, और अब अँधेरे में बूँद-बूँद उजाला है; पास-पास हो, फिर भोर का एक साथ जुलूस निकलेगा; सहस्र पाद, सहस्र हाथ हो चलती होगी उसकी सेना। वह न कम होगी, न थमेगी। उसे सत्य का सन्धान मिला है, उसने सत् युग की प्रतिष्ठा

की है। दूर किया है यातना और हिंसा को···वहाँ क्षुद्र स्वार्थ, क्षुद्र पूंजी के लिए जगह नहीं, वह अक्षय भण्डार का अधिकारी है।

कौन कहता है ? स्त्री आयी है। अफ़ीम की गोली और दूध का कटोरा अपने आप आया था, पेट के अन्दर जा चुका।

वे क्या कह रहे हैं ? कहेंगे नहीं, आदमी की जिह्वा है बात नहीं कहेगा? देखो, असल तो मजदूर है, वे नहीं रहे तो तुम अपने हाथों से खेती करोगे नहीं या कीच-पानी बनोगे नहीं। मजदूर पहले पैर पसारे बैठ जाते थे—कहते थे, दिन भर डेढ़-दो रुपये न मिले तो हम नहीं चलते। और अब इस साल से कह रहे हैं—हमारी मजूरी क्या होगी जो हम तुम्हारे यहाँ मजूरी करने जायें ? अपनी सामिलाती जमीन में ही काम करने को समय नहीं है, हम जाकर कहाँ और कब काम करें ! अब बात हो रही है कि घर में गोबर-पुताई कौन करे, कौन गाय-गोरू चराने जाये, कौन खेती करे ? इसलिए मैं कहता हूँ, चलो जो कुछ जेवरात हैं उन्हें बेच-बचाकर पैसे लेकर शहर चले जायें। लड़का जो कमाता है उसी से जैसे-तैसे चलायेंगे—हे···हे···हे-हे हे हे।" नौटंकी की खाँसी की तरह हँसी उठी उस देह में से।

अरे यह कह क्या रहे हैं ? खेती तो वही करेंगे, इसमें क्या शक है ? इस एक ही गाँव में इतने कुटुम्ब चलेंगे—उनके साथ-साथ हमारा भी गुजारा होगा। और लड़का बाच्छु, वह तो वकील का चमचा, सही मानें में टाउटर भी नहीं,दरखास्त लिख देगा या मुकदमा जुटा देगा और उसी से कमायेगा, बाबूजी के सिर का तेल, ख़ुशबूदार साबुन और कुरते-कमीज के लिए वह कम है, उस पैसे से भात कहाँ खरीदा जा सकता है, बच्चा दूध कहाँ से पायेगा ? और अब मुकदमे भी आयेंगे कहाँ से ? गाँव में किसान लड़ें-झगड़ें, तब न हो मुकदमा। एक हो जायें तो मुकदमा किस बात का ? हे हे···हे हेः—अरे अच्छे आदमी हो तुम, भकुए की तरह बैठे हो, मुँह तक नहीं खोलते। ऐं ! मुँह नहीं खोला—तो अब तक कौन कह रहा था ? वह गया बक-झककर। अब सुन्दर अँधेरी रात, शान्ति-भरी है, तारों पर तारे लदे हुए-से हैं, झलक रही है हर दिशा, तारे पीठ पर सवार हुए हैं, कोख में हैं। "पिताजी, अब और छंटे हुए-से सबसे विलग क्यों रहें ? हम भी अपना सब कुछ उन्हीं के साथ शामिल कर दें—"

अरे वह है क्या ? हम इसी गाँव के हैं, गाँव के बाहर के नहीं···? जा-जा बच्चा जाग जायेगा !"

चली जा रही है—झमझमाती हुई। जा बेटी, लक्ष्मी बहू ! भगवान् तेरा भला करें। सब शामिल हो गया—अब चारों ओर रोशनी जलेगी।

लडका मेरा मन्त्री बनेगा । वन्धमूल गाँव मे रवि के पिता वट महान्त 'क कुछ दिन से इसी कल्पना ने जकड़ लिया है । कल्पना ने अपने आप कही से उड आकर नीड नही वनाया, उसके पीछे एक छोटी-सी घटना थी । उस दिन सुवह वाँध के पासवाली दुकान की ओर जाते समय रास्ते मे पुरोहितजी और अवधानजी अचानक मिले । अवधान ने वन्द हथेली जोड़े ऊपर सिर तक उठाया तो पुरोहित ने खुली हथेली को पसार आगे कर दिया और दोनों के होठों से हँसी झर आयी और अवधान ने जैसे ही कहा—"आज सुवह-सुवह अकेले ब्राह्मण के मुख-दर्शन हुए, पता नही दिन-भर कैसा वीते !" पुरोहितजी सस्कृत मे बोले, "अद्य प्रातरेवानिष्ट-दर्शन जात न जाने किमनभिमत दर्शयिष्यति ।" और इसी शिष्टाचार विनिमय के पश्चात् अवधान ने पूछा, "जमींदार के घर पूजा-ऊजा, पर्व आदि कुछ भी नही हो रहे क्या ?"

पुरोहित ने एक टुक जवाव दिया—"जमीदारी तो कव की गयी, अव जमीदार-घर के पर्व-त्यौहार को कौन पूछता है ? और हमारे गाँव के यह जो जमीदार हैं, उनका तो वानप्रस्थ ही समझो । जाने का समय आया, अव सिर्फ लड़का सव-इन्सपेक्टर है—इससे उनके साथ सम्बन्ध न तोड़ना अच्छा है ।"

अवधान ने कहा, "अरे एक लड़का सव-इन्सपेक्टर है, पर दूसरा तो साक्षात् मन्त्री है ।"

पुरोहित ने हँसकर कहा, "कैसे ? छोटे वावू मन्त्री वनेंगे, तुम्हारी साँस की वीमारी वढ गयी है, क्यों न वढ़े, वर्षा के दिन है, इसीलिए अफीम की गोली भी वढ गयी है, नही तो मूक करोति वाचाल पंगु लघयते गिरि, नही तो वाप-माँ वूढा-वूढी जिसके लिए सोच करते-करते ठाकुर-भगती-दान-ध्यान सव कुछ भूल गये है, वही आवारा तुम्हारी आँखो को मन्त्री दिखता है ? हाँ, कहो-कहो, गठीला सुन्दर जवान छोकरा है, किस वात मे कम है ! मन्त्री कौन-सी वड़ी वात है ? मन्त्री का दादा वने तो क्या कम है !"

अवधान ने कहा, "दादा वने तो क्या अधिक हो जायेगा ? दादा हम-तुम जैसे आदमी है, वे मन्त्री नही थे । गणना की, प्रश्न किया, पता चला, वह मन्त्री वनेगा ।"

"क्यों, नल ने कहा, या नील ने कहा या अगद ने कहा···?"

"उससे तुम्हे क्या मिलेगा ? तुम्हे एक शुभ समाचार मिला । उसके साथ एक-दो सस्कृत श्लोक जोड़कर उसे और शुभ वना सकते तो वूढ़ा-वूढ़ी दोनों ख़ुश होते । साथ-साथ हम-तुम भी ।"

पुरोहित हँसा, वोला, "तुम्हारी वुद्धि की तारीफ़ करता हूँ । मन्त्री अगर किसी को वनना चाहिए तो पहले तुमको । क्यों, इस वात का फ़ैसला हो गया···। हो गया फ़ैसला ।"

उसके बाद बट महान्ती पर अचानक आक्रमण हुआ। जन्मपत्री देखी गयी, श्लोक पढ़े गये, उसका अर्थ समझाया गया। और फ़ैसला सुना दिया गया कि रवि मन्त्री बनेगा। अब उसके भाग्य बदलने का समय निकट आ रहा है—ग्रहों के आने-जाने का समय। इसी समय ठाकुर-अभिषेक, ब्राह्मण-भोजन, दान-दक्षिणा, बाल-लीला, उत्सव आदि की व्यवस्था हो जाये तो अच्छा हो। यह सब किस लिए हो रहे हैं—बस उसका प्रचार न हो। पुरोहित और अवधान दोनों की राय एक हो गयी। उनके अलावा और जो जाननेवाले आये, आचार्य वगैरह, वे भी एकमत हुए। उसके बाद से वही विचार कि बेटा मन्त्री बनेगा।

थाक-थाक हो बढ़ता जा रहा है, झरता जा रहा है जीवन। एक-एक थाक में एक-एक स्थान है। उसी में बट महान्ती के कुछ दिन बीत जाते। और भगवान् ने ऐसा सहेजकर रखा है कि मोह टूटकर आशा करने लायक डाली के टूटने के ऐन मौक़े पर एक और डाली नजर आती है हाथ बढ़ाने-भर के फ़ासले पर—न हाथ खाली रहता, न मन।

रवि गया। कवि को कितना समझाकर लिखा कि बच्चों को लाकर कुछ दिन के लिए यहीं छोड़ जा, पर वह नहीं हो सका। दो महीने में एक चिट्ठी आ जाये तो उसमें न आ पाने के कारणों के उलझे जाल होंगे। संसार कड़वा लगने लगा था। जगत्-भर के प्रति अभिमान। दो लड़के हुए। एक अपने सुख के लिए पराया बना और दूसरा दूसरों के सुख के लिए पराया हो गया। युग बना अल्हड़। इतनी ज़मीन बाड़ी के रहते फ़सल आये तो हँसी आती है। मजदूरों की ज्वाला से ख़ुद काश्त करो तो हाथ लग जाये। बटाईदार कहने लगे हैं—तुम्हें पाँच में से दो हिस्से देंगे, कानून से बेकानून चलेंगे नहीं। क़र्ज़ लेनेवाले भी कहने लगे हैं कि हम भी कानून के मुताबिक रुपया पर सात पैसे का ब्याज देंगे, पहले से जो ले चुके उसे जमा कर लो। कानून! कानून! सब ले जाओ। जिनके लिए जमाकर रखते, उनका तो इसमें मन नहीं लगता, हम दोनों के तो दो ही पेट हैं। ठगो, जिसकी जो मरजी, इसके बाद हम भी ठगकर स्वर्ग सिधारेंगे। मन का सारा दम्भ सारे मोह टूट चुके थे।

उसके बाद मन में बना रहा—बेटा मन्त्री बनेगा!

जन्मपत्री का फल जरूर सच होगा, ऐसा विश्वास तब आता है जब कोई हिसाब कर 'लाभ होगा' कह देता है।

ज्योतिषी और पुरोहित दोनों की बात एक-सी हुई है, तो अन्यथा कैसे होगा?

अपने अन्दर विश्वास पैदा करने के लिए, अपने अभिज्ञान को टटोलने से कई उदाहरण मिलते हैं, किसने किसे क्या कहा था, किस तरह वह बात फलवती हुई—इसी तरह की कई बातें।

और जब उमर पश्चिम की ओर ढलने लगी है, सोचने पर चारों दिशाएँ

धूमिल और अन्धकाराच्छन्न लगती है, उस समय इसी तरह अकारण और चकित करनेवाली परिकल्पना को, सीढियों के किनारों को हाथ की मजबूत पकड मे लेने पर तो सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ी जाती है—नही तो एक-दो-तीन-चार-पाँच की गिनती भर सामने दिखती होती है और एक विराट् शून्यता नजर आती है। और ज्यादा दूर नही।

और तर्क को परखने पर भी पुरोहित और ज्योतिषी ही एकमात्र सहारे-से लगते है। इस ससार मे बड़े है, छोटे है, पाँच उँगलियाँ समान नही होती, जिसे सौभाग्य कहते है उसे सबके साथ समान रूप से बाँटा नही जा सकता। कुछ लोग खायेंगे और कुछ भूखे रहेंगे। कुछ लोग आदमी चरायेंगे, कुछ गोरू चरायेंगे। सौभाग्यबटन की विधि परची डालकर होगी। जिसे जो मिला वही उसका भाग है। भाग का लिखा कौन पढ सकता है—दैवज्ञ के सिवाय।

सत्य सत्य सत्य, त्रिवार सत्य !

बेटा मेरा मन्त्री बनेगा ! होगा जरूर, नही तो यही रास्ता उसे क्यों दिखता ? छाँह तले का रास्ता नही; धूप, सर्दी, भूख का रास्ता है वह, पाँच के कन्धों पर पैर रखकर राज करने का रास्ता नही है, पाँच सौ के कन्धो पर हाथ रख, पीठ से पसीना पोछ पैर मे काँटे निकालने का रास्ता है वह। जरूर इसमे विधाता का कोई गूढ रहस्य है, बेटा मेरा मन्त्री बनेगा।

बट महान्ती जो स्वप्न देखने के लिए बैठ जाते—एक-पर-एक पान की गिलौरी मुँह मे पानी बन ख़तम होती। शून्य आकाश पर रँगने का काम कम नही होता, छाँह लम्बी होते-होते धूप मुरझाने लगती, और ख़तम हो जाता है एक दिन।

आषाढ का मेघ से लदा आकाश, बिजली-तूफ़ान को पेट मे भरे ठहरा हुआ-सा रह गया है। चल रही है सृष्टि और सृष्टि की योजनाएँ, उद्योग और श्रम। खेत मे किसान, पेड पर पछी, ठूँठे-अधसूखे दूब की जड को सनसनाती हुई चीटियो की धार। पहली बौछार के बाद सूखी मिट्टी सिहर उठी है; उसके बीज फूल फैल गये है, अनगिनत जीवाणुओं के, अगणित उद्भिदो के, वे भी जन्मेंगे, कोई दो पल के लिए, कोई कुछ महीनों के लिए, कुछ सालो के लिए। अपनी सतह पर अपने व्यक्तित्व के अनुसार अपना-अपना समय का माप और कीमत अलग-अलग। किसी की नापने की छडी पकड और कोई नापना नही चाहता—सबकी अपनी-अपनी अलग-अलग छडी है। आषाढ की धरती पर छोटा-सा सूँडी कीडा अगर अपनी पल-भर की जिन्दगी के लिए योजना बनाने को आतुर है तो आदमी भी अपनी साठ वर्ष की उमर को एक कल्प मानकर अटूट आशा से आकाश की ओर सीढी बना रहा है, वही उसकी जीवन-क्रिया है। और बट महन्ती की आँखों के सामने दिखायी पड़ रहा है—वह सहज भवितव्य, बेटा मन्त्री बनेगा। बस वही,

उससे बढ़कर और कुछ नही।

क्यों नही होगा ? इसी तरह तो कितना कुछ हो गया। कितने ऊपर उठ गये है। कल पहचाने नही जा रहे थे—और आज उन्हे देखा तो शका हो। और नेता, मेम्बर, वक्ता, सभापति, देश के अन्य कर्णधार कहलानेवाले—वे भी कल तक अपरिचित थे और आज हर जगह जाने-पहचाने हो गये। युग के वर्ण से रग लगा है उनकी देह मे, कितने नामी है वे, कितने प्रतापी, और क्या चेहरे है उनके !

आज जिधर भी देखो नयी-नयी इमारतें सिर उठा रही हैं, नयी-नयी मोटरें धूल उडाती भागी जा रही है, व्यापारी-साहब हटकर चला गया, अब देशी व्यापारी दबोचे हुए है, देश की समृद्धि की वैजयन्ती उड़ाकर बाहर भेजा जा रहा है अधिक वाले प्रान्तो को धान, कुली बनने को बाहर जाना नही पड़ रहा है, इस देश के व्यापारी इसी देश मे कल-कारखाने बिठा रहे है, यहीं कुली को काम मिल जायेगा। अजीब है यह समय, इस समय सब कुछ सम्भव है !

और अति सम्भव, अति निश्चित है ज्योतिषी की गणना—बेटा मेरा मन्त्री बनेगा !

"सुनती हो," उन्होने पत्नी को समझाया—"रवि मन्त्री बनेगा, जन्मपत्री की बात झूठी नही होगी।"

सुनकर मुसकते हुए रवि की माँ ने कहा, "मुझे मन्त्री नही चाहिए, राजा नही चाहिए, मेरा लडका घर लौट आये बस, ये फ़ालतू बातों से तुम किसे समझाओगे ?"

"तुम औरत जात समझ सकोगी नही। पहले-पहले लोगो के साथ न मिले तो, अपनो को न भुलाये तो, क्या कोई मन्त्री बना है, बताओ तो ? मैं सोच रहा हूँ, चलो एक बार फूलशरा हो आयें !"

रवि की माँ चली गयी हैं।

वट महन्ती ने फिर एक बार चल-चित्र देखने के पहले कहा, "औरत जात नही समझ सकेगी।"

देखते-ही-देखते काला किट्-किट् अँधेरा छा गया, न हिलता, न डोलता, हवा भी थम गयी है। मानो आकाश एक विराट् काला छाता है और उनके नीचे एक अकेला आदमी है वह, कितना छोटा, किसी कोने मे गुम हो गया है !

दिन के चार बजे है, तब 'डाआणिआ' धूप थी। लडकपन मे पढ़ी हुई नन्द-किशोर की कविता की याद आयी—'डाआणिआ खरा···धारा दुइटि···।' चल पड़ा है वह अकेला—चातुलिआ गाँव मे धड़िआ थाउरी बीमार था, हैजा हुआ था।

उसी की सेवा करने गया था, अब लौट रहा है फूलशरा को। गहरी ज़मीनों के बीच से चल रहा था, अँधेरा घिर चुका था।

यहाँ से चकुलिआ गाँव दो कोश से अधिक होगा। गाँव के वाद थोड़े-थोडे फ़ासले पर तीन ज़मीनें जिसमे दो को तो वह पार कर चुका, एक यही है, इसके वाद सामने दिख रही है पगडण्डी—फूलशरा तक गयी है, धीरे-धीरे सर्दीली हवा वहने लगी, मानो अव वरसाती वौछार कर देगी।

दो दिन के लिए वह चकुलिआ गाँव मे ठहर गया था। घोवेई मिश्र ने दवाई दी थी; होमियोपैथी मे उनकी दक्षता है। पर इतना वडा देहाती इलाका! जिधर देखो उधर रोगी पडे हैं। कहीं से तिनके-भर का सहारा मिले तो उसी को जकड लेते हैं—जाओगे किधर? धोवेई मिश्र दर-दर भटक रहे है, एक कोस नही, दो कोस नहीं, तीन नही, कही से भी खवर आये तो चलने से इनकार नही करते। सेवा करने को खुद रह गया था, रवि। हालत भी सुधरती आ रही थी, यद्यपि धोवेई मिश्र ने कहा था कि हैजे का क्या भरोसा है, विशेषकर वहाँ जहाँ से खवर देर से पहुँचती है। सारे विश्वास, सारे मोह, सारी भ्रान्ति तोड धड़िआ वाउरी उसी काले आकाश को उड गया। उसके वाद जो मर्मभेदी रुदन। व्यर्थ ही वह उन्हे समझाने लगा कि रोने से मरनेवाला जीकर लौट नही आता। धड़िआ वाउरी चला गया था।

उसी उपहास को साकार वनाकर चारों ओर रख दिया है काले आकाश ने। दो दिन, दो रात लगातार जागने से रवि की आँखें लाल हो आयी, फिर भी धडिया वाउरी रहा नहीं!

उसकी गठीली, भरी-पूरी देह उसकी आँखों के सामने रह गयी—वही देह जो वैल और ज़मीन के साथ मिलकर खेती का अंग वन गयी थी। आदमी की चेष्टा विफल हो गयी है—अव वह और खेती नही कर सकता।

ओह, कितना गठीला, सुन्दर, जवान!

एक पेड़ आधे में टूट गया; आज उसकी जगह खाली पडी है। लाश को जकड़कर उसकी माँ फूट-फूटकर रो रही थी। वूढा वाप ज़मीन पर सिर पटक रहा था; मोहल्ले-भर के लोग भीड़ किये दूर-दूर खडे थे। धडिया गया, अव उठेगा नही।

अँधेरा वढता जा रहा है, सव वुझ चुका। आँख घुमाकर देखने से चारों ओर जो गोलाई दिखायी पड़ रही है, जिसकी इतनी वडी विस्तृति है—उसी के वीच अकेला चल रहा है वह रवि!

इसी तरह छंद मे से चली जा रही है मानव-जाति की युवाशक्ति। वीमारी, सूखा, खाद्याभाव की चोटें खा-खाकर। फिर भी आदमी चाहता है—अपने हाथों से मारने को, मानो भात मे मारना, अनास्था से मारना काफ़ी नही हुआ।

संघर्ष करना होगा। युद्ध करना ही होगा, सहज दुःख को निभाने के लिए जो क्षुद्र उपग्रह असमर्थ है उसकी बेड़ियों पर कोड़े न पड़ें तो मानो उसके पुरुषत्व की सार्थकता ही नहीं है, इसलिए हथियार सजाये जा रहे हैं, उसने बढ़-चढ़कर बम बनाये जा रहे है, खून-पसीना एक कर परीक्षण चल रहे है मारणास्त्र बनाने के लिए।

नहीं, रास्ता ही खतम नहीं होता ! जैसे मेघ से सदा आकाश भारी हो-होकर नीचे झुकता आ रहा है, परिसर संकरता जा रहा है, और थोड़ी देर के बाद तो बरसेगा।

यही वर्षा जल उँडेल देगी धड़िया बाउरी की नंगी लाश पर। हैजे से मरा है, लाश जलायी नहीं जायेगी। वर्षा का पानी झर जायेगा, वह जायेगा जुलूस हैजे के जीवाणुओं का। आज यह एक—उसके बाद और पाँच !

ऐसे फटा-फट मरकर सो-सो जाते है जगत्-भर के कितने लोग ! उन्हें जिन्दा रखने के लिए कोई योजना नहीं है। मरकर सोते जा रहे है उजाड़ों में गिरकर, जानते नहीं—सब भाई-भाई है, इस ससार-भर की धन-दौलत वही है, इन हाथ से बनी चीज, जानते नहीं—जो आया है, उसे यहाँ जीने-खाने का अधिकार है, जैसे वह बाध्य है काम करने को। जानते नहीं—आदमी-आदमी में धर-पकड़ वही कराते है, दूसरो की मृत्यु जिनके स्वार्थ की पूंजी है।

झर-झर हो वर्षा उलझ पड़ी थी—एक साथ चारों ओर से घिर आयी। पहले प्रवृत्ति जागी दौड पड़ने को, उसके बाद जैसे उसने अपनी भूल समझी। वर्षा में सराबोर हो सहज गति से वह फूलझरा की ओर चलने लगा। सोचा, वर्षा आयी है, फिर नयी-नयी समस्याएँ—छान से घर के अन्दर पानी टपकने लगेगा, बीमारी होगी, नदियो में बाढ़ आयेगी। अभावग्रस्त लोगों के लिए नयी ऋतु क्या, नये दिन भी समस्या लिए पहुँचते है।

फूलशरा की पगडण्डी पर पहुँचकर उसे लगा जैसे एक सफ़ेद छाता इधर-उधर हिल-डुलकर खिचा हुआ-सा उसी की ओर बढ़ता आ रहा है। उसके नीचे सिमटे-गुमटे हुए नन्द तहसीलदार थे। आनन्द से अधीर हो छाते को रवि के सिर पर तान लेने पर भी वर्षा के झोके ने उनके दुर्बल हाथों को एक ओर सरका दिया था।

"अरे, देखें देखे," रवि बोला, "दूसरो पर छाता तानो तो अपना सिर भीग जाता है। याद रखे, और किसी दिन उपकारी बन किसी पर छाता नहीं तानेंगे।"

"हूँ···हूँ···" लुढ़क-लुढ़क जानेवाले छाते पर हुकुम जारी कर रहे थे नन्द तहसीलदार—"ठहर यहाँ···जा नहीं," छाता लुढ़कते-लुढ़कते आकाश पर पैर उठाये रह गया। हँसते हुए नन्द बूढ़े बोले, "क्या कहा—? और किसी दिन दूसरो पर छाता नहीं तानूँ ? अच्छी बात कही। ठीक है, भूल मेरी है, मैं जानता हूँ। जब

इस तरह काले घुमर मेघ गगन भरते है तब तो सबके पास छाता नही होगा; मैं छाया लिये निकल पड़ा तो उसे उडा लिया; अच्छा हुआ, मैं कहता हूँ न···"

रवि हँसा। घडिया बाउरी की मृत्यु की बात सोच-सोच यद्यपि वह अबतक मरण को ही स्मरण करता आ रहा था, पर अब आमने-सामने देखा उसने जीवन को। बासठ साल का बुढापा हट गया और उसकी जगह ले ली है नूतन तारुण्य, बल और आशा ने। त्याग से अंकुरित होकर सरसर बढ़ते जा रहे है मानव के मान और श्री···ये सारी जमीन, सारी सम्पत्ति को सामलाती बना देने के बाद। नन्द तहसीलदार का पुनर्जन्म हुआ है।

"मैं तुम्ही को ढूँढने निकला था," किसी ने कहा, "घडिया बाउरी मर गया, तुम कई दिन उसी के पास लगे रहे, सोचा···"

बात अधकही रह गयी। उदास हो रवि ने कहा, "हाँ, वह मर गया।"

"परख रहा था कि तुम इस बात को किस तरह कहते हो।" नन्द ने कहा, "सारे ब्रह्मज्ञान इसी एक बात को कहने के पहले सबसे भिन्न रूप मे स्पष्ट हो जायेगा। नही, तुम्हारा वह हुआ नही है। 'मर गया' कहते हो तो उदास स्वर सुनायी देता है, फाँका-फाँका-सा लगता है स्वर।"

"नन्द दादा, मुझे जीवन से ख़ूब प्यार है।"

प्यार कहाँ कर सकते हो? मन है, पर काम, उसके लिए समय लगेगा। जीवन से अगर प्यार करते तो चारो ओर इतने जीवन देखते जिससे मृत्यु के लिए रोने की फुरसत ही नही मिलती। तुम देखते, मरण मे भी जीवन है, जैसे अँधेरी रात मे समुन्दर के अन्दर उजाले की बडी-बड़ी लहरे दिखायी पडती हैं, इस सिरे से उस सिरे तक। पहले मैं बँधा पडा था, जैसे अँधेरे घर मे भार तले कोई पिलपिला आलू सूख-सूखकर धीरे-धीरे सड रहा हो। फिर तुमने मुझे बाहर निकाला, पेड़ लगाया, देख-भाल की। अब अपनी डाल-पात देखकर स्वय मुझे अचम्भा लगता है। मुझे तो लगता है जैसे आनन्द से उफन जाऊँगा मैं।"

झर-झर वर्षा की बौछार भी उस बात की ऊष्माहट को नही बुझा सकी। बल्कि और अधिक लग रहा है— आदमी का तेज।

बादलो मे सामने धुँधला-सा नजर आ रहा है फूलशरा गाँव; कचहरी-घर यानी केन्द्र-कार्यालय के पिछवाड़े का घना बरगद, आस-पास सटे हुए गाँव के दूसरे पेड। नन्द तहसीलदार की बातो पर सोचते हुए रवि फूलशरा पर सोचने लगा। एक छोटा-सा गाँव। और वह सिर्फ़ गाँव ही नहीं, एक समवेत अनुष्ठान है, जहाँ आदमी ने प्रण किया है—हमारे गाँव में भूमिहीन कोई किसान-परिवार नही रहेगा, हमारे गाँव में एक के घर में खाने को हो तो दूसरा भूखा नही रहेगा, हमारे गाँव मे सब सबका है, किसी एक का कुछ भी नही। हमारे गाँव मे किसी एक की जमा-पूँजी कुछ नही है, जमा करने हो तो सबके लिए, समाज के लिए,

गोष्ठी के लिए। कौन कह सकता है कि यह व्यापक नहीं बनेगा?

इसी तरह दुनिया-भर—घर-से-घर, गाँव-से-गाँव। इसी तरह देश-भर, धरती कहने पर देश के साथ देश शामिल होकर आदमियों की एक गोष्ठी का अनुमान होता है।

समस्या भी एक तरह की है—व्याधि, दरिद्रता, लुण्ठन और अत्याचार की। अतीत में आदमी जो नहीं कर सका, नया आदमी वही कर दिखायेगा। वह पहले बनेगा भाई-भाई। मनुष्य जाति की समवेत शक्ति को वह उँड़ेल देगा—मनुष्य जाति की समवेत दुर्दशा को हटाने के लिए। भारत और चीन मानो फूलशरा और पाटेली गाँव है, वैसे ही भारत और रूस, भारत और अमरीका या इंग्लैण्ड—इसी तरह गाँव-से-गाँव फूलशरा या आलिपुर या डिंगिसर या पाटेली गाँव।

नन्द तहसीलदार के नये रूप को देख वह विश्वास कर सकता है कि इस पृथ्वी पर नये आदमी बन रहे है, जो दलदल के बीच सेतु बनायेंगे। सदा के लिए युद्ध और युद्ध की आशंका को दूर कर देंगे। आदमी को चिन्तन और कार्य में स्वाधीनता दे पायेंगे, उसके विकास के लिए सहायता कर सकेंगे। इसके लिए अवश्य ही नये आदमी सामने आयेंगे।

नये आदमी अवश्य ही आ रहे हैं। वे आयेंगे। इसलिए पहले से ही दिखायी पड रहा है कि हर देश के लोग नीति और विचारों की बातें कर प्रचलित लोक पर चर्चा कर रहे है। जहाँ जितनी बुराई क्यों न हो, उसके अन्दर अच्छाई का स्रोत कहीं-न-कहीं अवश्य है। प्रत्येक देश मे एक दल है जो चिल्ला रहा है कि सेना बढाओ, हथियार बढाओ, लडाई छेड़ो, व्यापार तेज होगा, जगह मिलेगी बढ़ने को, अन्य देश पर हमला कर उपनिवेश बनाओ, उनसे कच्चा माल ख़रीदो। फिर उसी कच्चे माल को कारखाने में डाल चीजें बनाकर उन्हीं लोगों को बेच, उन्हीं लोगों से पैसे खींच लो, उन लोगों को अनुन्नत बनाये रखो, बढ़ने मत दो, सोचने न दो—उस समय एक अन्य दल भी है जो इसका विरोध कर रहा है, निन्दा कर रहा है। उन लोगों का स्वर कितना क्षीण क्यों न हो, उनकी संख्या क्यों न कम हो—वे कह रहे है कि इस धरती पर लडाई अब और न होने पाये, शान्ति विराजित हो, आदमी-आदमी के बीच, देश-देश के बीच हिंसा, विद्वेष, सन्देह का लोप हो, सबको भोजन मिले, काम मिले, भेद-भाव दूर हो जाये, सबको बढ़ने की सुविधा मिले। उनके पीछे लाखों मूक जनता है, किसान, मजदूर, कारीगर, वे भी यही चाहते हैं, यद्यपि इनकी भाषा उतनी मार्जित नहीं है, आवाज उतनी ऊँची नहीं कि दूर तक सुनायी दे।

उन्हीं लोगों की आवाज को एक दिन दुनिया-भर के लोग अवश्य सुनेंगे, सीधे, बिचौलियों के बग़ैर, जो बिचौलिये एक-एक देश के प्रतिनिधि बनकर मार्जित भाषा में लड़ाई को ही आमन्त्रित कर लाते है, विज्ञान के अर्थों को विकृत बनाकर

मारणास्त्रों का उत्पादन बढाते हैं, दर्शन शास्त्र के व्याख्यानों को विकृत बनाकर प्रचार करते है, दूसरों पर हमला कर अपना विकास करने का मात्र वहाना है यह सब !

"अरे यह क्या, आप तो पूरा भीग चुके माआन्तजी," बरामदे पर से बई मलिक ने ऊँचे स्वर में कहा, "ऐसे न भीगते तो क्या बिगड जाता !" बई मलिक कहते-कहते भीगते हुए बरामदे पर से उतर आया। हाथों में एक बडा ताडपत्र का छाता था। विशि पाण भी उतर पडा···और 'अरे-अरे' कहते हुए धोबेई मिश्र भी।

"ह, खूब बहादुरी मैंने दिखायी है कि उतरे जा रहे हो, क्या कोई भीगता नही ? क्या यह कोई नयी बात है ?" हँसते हुए रवि ने कहा।

"जिसके मन के अन्दर तपिश है उसका यह वर्षा क्या बिगाडेगी !" नन्द तहसीलदार ने कहा, "मैं क्या कम समझा चुका इन्हें ! या कोई छाता नहीं था ! मेरे पास था एक, इन्होंने मना कर दिया।"

बरामदे में लगभग तीस लोग थे। नमस्कार आरम्भ हो गया और साथ-साथ बारिश में भीगने पर आपत्ति भी।

रवि ने कहा, "वर्षा देखने पर हमें अपने-अपने घरों की याद आती है। नही क्या ? याद आती है छाते की। सूखी जगह की और सूखे कपडो की। और मुँह में डालने को कुछ सुड्-सुड मुड्-मुड्।"

धोबेई मिश्र ने कहा, "गरमागरम भूँजा के साथ मूँगफली, उसके साथ चाय।"

रवि ने कहा, "ठीक बात है। पर इस देश में एक ऐसे आदमी भी थे कि वर्षा देखें तो उन्हें राज्य-भर की दुख-दुर्दशाएँ याद आ जाती थी, किसका बिना छप्पर का घर दुल्दाल हुआ और दीवारें गिर रही हैं, किसके घर में तीन दिन से चूल्हा नही जला, कहाँ नीची जमीन में बाढ आ रही है, चारों ओर चिलिकामय हो गया है। इन सबों की याद उन्हें आती थी। एक बार सत्यवादी में अँधेरी रात, झर-झर बरस रहा था। उस समय कोई फूट-फूटकर रो रहा था। सुनकर सबकी नींद टूट गयी। लोग जागकर देखते है कि वे बिलख-बिलखकर रो रहे थे। क्यों रोते थे ? वे बिलखते हुए कहने लगे—'वही डभार गाँव का दामा बाउरी, देख आया था उसके नौ बाल-बच्चों को, साधारण दिन तो उसकी खाने की कमी रहती है, पर अब तो चारों ओर जलार्णव हो गया होगा। घर यानी एक झोपडी—उसकी छान पडी नही थी। घर के अन्दर लहर होगी, बच्चे भूख से आतुर होते होंगे। क्या कह रहा होगा अब वह' !"

सब गम्भीर बन गये। सचमुच जैसे उत्कलमणि गोपबन्धु दास आकर उनके सामने खड़े हो गये।

धोबेई मिश्र ने कहा, "वे देवता थे, गोपबन्धु उत्कल के मणि। उनके चले जाने के बाद कितने डभार के दाम-बाउरी, तितिय गाँव के मेहतर और ब्रह्मगिरी का केशवा पाण कितने उठ पाये ? शहरों में अधिक इमारतें बनी हैं, यह सब है; बहुत लोग मोटर चढ़ रहे हैं, कई बड़े-बड़े धनी बन चुके। पर ग़रीब, मज़दूर, मट-मैलों की सोचते हुए जिनकी आँखों से अविरत धारा बहती थी, वे मानो वैसे ही रह गये हैं, अब फिर से वही से गढ़ना होगा।"

रवि ने कहा, "जानते हो सब। धड़िया बाउरी चला गया। वही देखकर चकुलिआ से लौटा हूँ !"

"एँ !"

विस्मय ! दुख। नन्द तहसीलदार के मन में आशावाद से सुलग उठती ऊष्मा-हट मानो धप् से बुझ गयी।

सच मानो धड़िया बाउरी मरा नहीं था, जिन्दा था, रवि की बातें ख़तम होने के पहले वह मर गया है। आकाश पर घनघोर घटाएँ। वर्षा अनगिनत तीर बर-साती जा रही है। चारों ओर अन्धकार, गीला और कीचसना। याद आता है, धड़िया मर गया है। इस वर्षा की तरह उसके मरने की खबर भी सच है—जाग्रत् और वर्तमान है। वह और आँखें नहीं खोलेगा, खड़ा नहीं होगा।

चाँप से याद आ गये वे सारे दृश्य ! गाँव-भर के लोगों के चेहरे पर नि.शब्द, भय का दृश्य था। गरदनों में एक-एक तिनके लिपटाये गये हैं। ये तिनके मानो विपद्-वारण के कवच हैं। घर में दरवाज़े के सामने पड़ा है हैज़ा का मरीज़, देह पर कपड़े नहीं हैं। आँखें सीसे की तरह। बीच-बीच में गें-गें के साथ चीख़ सुनायी पड़ रही है—"हे भगवान्···हे ठाकुर···मेरे बाप···माँ···बचा लो मुझे···मुझे पकड़ो···मैं मरूँगा नहीं···मैं अच्छा हो जाऊँगा—मैं जीऊँगा···कौन कहाँ हो ! बचा लो मुझे···!"

उसकी चेतना पर शाम बिछी पड़ रही थी।

जी-जान-से चाहता था—जीने को, उसके अन्तस्थल को विदीर्ण करते हुए ऊपर उठ रही थी कामना।

रवि उस मृत्यु के चित्र में डूबा हुआ था।

सामने दिखायी पड़ रहा है, बरामदे के नीचे पानी की छोटी-छोटी धाराएँ आकर शामिल हो बहती जा रही हैं। रवि की चेतना में भी वैसा ही एक चित्र था। वह देख रहा था—समय बहता चला जा रहा है। कुछ रहता नहीं है, बहकर चला जाता है ! उसकी आँखों पर मानो वर्षा झर रही है, और वह सोच रहा है—इसी तरह समय बहता चला जा रहा है, उम्र टूटती आ रही है, कितने आदमी,

कितनी बातें इसी तरह बहती चली जा रही हैं विस्मृति के अँधेरे की ओर—किसकी उम्र है उसके लिए शोक मनाने को ? किसकी आँखों में इतने आँसू है ? इसी तरह समय बहता चला जा रहा है, हर पल में इस विश्व की सृष्टि से लेकर इसी तरह स्रोत के बहाव मे आदमी, उसकी पारिपार्श्विक अवस्थाएँ, उसका जीवन बहते चले जा रहे है। जीने की भरपूर इच्छा कर इसी तरह आदमी मर-खप गये है, भुला दिये गये है, और सबसे बडा दुख तो यही है, सृष्टि मे अनन्त काल से ! क्या इसका कोई समाधान नही है ? राजनीतिक और आर्थिक स्थितियाँ बदलेगी, बदलती है। शायद आदमी गाँव-भर को मिलाकर एक घर भी बना दे, वहाँ सब भाई-भाई होंगे, सब सामलाती सम्पत्ति होगी और गाँव मे किसी को कमी नही रहेगी खाने-पीने की। आदमी को अपनी जरूरत की चीजो की अधिकता होगी। फिर भी आदमी के चारों ओर समय के गुज़र जाने की हताशा और वेदना घिरी हुई होगी, पानी बहता जाता होगा, सूख जाता होगा, पत्ते झरते जाते होंगे, उजाला ढलते-ढलते दिन-रात बनते होंगे और आदमी कदम-कदम मृत्यु के अन्तिम दिन की ओर बढता जाता होगा। इस चरम बन्धन, चरम दुख और दायित्व से आदमी को कौन मुक्ति देगा ! धरती पर इतने सारे राजनीतिक परिवर्तन हो गये—भारत, वियतनाम, चीन, रूस, इनमें से मनुष्य जीवन की इस करुण परिणति पर कौन काबू पा सका ? रूस का श्रमवाद या अमरीकी धनवाद ? भूला-बिसरा पुराना युग जैसा था, आज भी वैसा ही है। सूर्य उदय होता है और अस्त हो जाता है। समय बहता चला जा रहा है। जीने की बलवती आकाक्षा के बावजूद आदमी मर रहा है, बिसर रहा है, खो रहा है।

कौन इस दुख को हटायेगा ? सान्त्वना देगा ?

एक ओर बादल, अन्धकार, कल्पना मे धडिया बाउरी की नंगी लाश, जिसपर बौछार है वर्षा की। दूसरी ओर उसका उत्साह और उद्दीपना कि वह खुद मशाल की तरह जलकर ससार के अँधेरे को उजाला बनाने मे मदद देगा। ताकि न रहेगा शोषण, लूट, भेदभाव, अन्याय, अविचार; और इन्ही दोनो को एक साथ शामिल कर उसने देखा तो उसका उत्साह बुझता-सा लगा।

कब से वह गुम-सुम हो गया है। हठात् गुनगुनाते हुए धोबेई मिश्र ने 'कहइ मन आरे''' गाना शुरू कर दिया है। अपनेआप दूसरे दुहराने लगे, कोई ताली बजाने लगा। सर्दीली वर्षा में समवेत स्वर-सगीत गूँजने लगा।

अति अद्भुत ढग से वह समय के साथ जैसे जम गया। रवि ने सुना, 'कहइ

ञ

न

थिबे श्वान शृगाल बाटि रे।'''

टपटप कर अरबी के पत्तों से पानी की बूंदो की तरह उसकी आँखों से आँसू

झरने लगे। वह शान्त हुआ। सदियों पहले के किसी अज्ञात कवि की रचना, वह गीत आदमी की चरम परिणति का वर्णन कर गयी सच, पर उसके साथ-साथ निराशा के बदले कैसे एक निवेदित मन की प्रसिद्धि और प्रशान्ति ही आयी। लगा जीवन की निश्चित बातें यही हैं, अन्त में मृत्यु—उससे उद्धार नहीं।

पर दूसरे पल उसकी निराशा और चिन्ता गायब हो गयी। उसे लगा, रास्ते के अन्तिम सिरे पर मृत्यु अन्धकार का परदा नहीं, एक तीव्र उज्ज्वल आलोक है, उसी उजाले में रास्ते की सारी चीजें दीखती हैं, वही मानो जीवन को अर्थ गौरव से परिपूर्ण कर रखता है। वही समय को उद्देश्य प्रदान करता है, उसे मूल्य देता है। अपने कार्य के द्वारा जहाँ जो कुछ हो जाता है, कभी जँभाई लेना या कभी गर्जित करना, उतने ही समय का विशिष्ट कार्य होकर वह पीछे रह जाता है, वही उस प्रवहमान जीवन का प्रमाण है। खोये समय को जैसे अतीत के कार्य के लिए लौटाया नहीं जा सकता, वैसे ही उसे पोंछा भी नहीं जा सकता। प्रत्येक मुहूर्त को पूर्णतम उपयोग में लाना होगा, मरे-खोये के लिए, दुर्दशाग्रस्त पराजितों के लिए शोक प्रकाश करना समय का सही उपयोग नहीं।

कब से उसकी चुप्पी का अन्दाज कर गाँव से आकर इकट्ठे हुए लोग उसी की ओर देख रहे थे। वे उसका सहयोग खोज रहे थे, निर्देश और उत्साह ढूँढ रहे थे। अपने स्वार्थ की बात पर सोचने से भी समय का सही उपयोग नहीं होता—उपयोग होता है आदमी जब दूसरों का उपकार करता है, मनुष्य-समाज में शान्ति की प्रतिष्ठा के लिए, आदमी के दुख दूर करने के लिए जब वह लग जाता है।

चर्चा चल रही है। उन्होंने चर्चा का आरम्भ किया था कि किस गाँव में सामलाती का काम कितना बढ़ चुका—उसपर कहाँ कैसी समस्या है—उसपर !

साथ लगा है गुरु। उसने अपने छोटे-से मन में परत-दर-परत जितने सवाल सजाये हुए हैं, वह इसी समय के लिए। पूछ रहा है : "छवि दीदी, बादल अपने-आप क्यों बरसते हैं?···छवि दीदी, बादल के पास कितना पानी होगा? खतम हो जाये तो क्या होगा?···घड़घड़ क्यों करता है बता तो, छवि दीदी! माँ कहती है, बाहर मत निकल वरना वह पकड़कर ले जायेगा। बरतन तक बाहर हो तो उसे भी ले जाता है। भालू कुत्ते को ले नहीं जायेगा छवि दीदी? बाहर कैसा स्रोत है, ओह कितनी गरज! दे, ना तेरा आँचल, मैं ओढ़कर सो जाऊँगा। मच्छर कैसे गुनगुना रहे हैं! मच्छर कितने पतले-पतले हैं! माँ कहती है कि मैं पतला होता जा रहा हूँ।···सावि तो मुझसे भी पतली। उनकी छउकी बिल्ली बच्चा जनेगी तो मैं एक ले आऊँगा···पालूँगा—सावि···" कहते-कहते उसे नींद आ गयी है।

वर्षा खूब हो रही है। बाहर हवा गरज रही है। बादल, हवा का अरण्य संगीत चीखता जा रहा है बाहर। भीतर आदमी के बनाये ऊष्म नीड़, वही उसके जीवन की तपिश और तेज।

छवि अपने बिछौने पर आराम महसूस कर रही थी। किसी पुराने जमाने का काठ का पलंग। शीशमकाठ के बने पलंग के नक्काशीदार पाये, दूर से देखें तो कोई कह देगा कि पत्थर का बना है। घोड़े पर एक सुन्दर-सी स्त्री सवार है, कई हथियारों से लैस, कितने आभूषणों से सज्जित। हाथ में एक बरछी है, बरछे की नोक में एक हिरन है. घोड़ा, युद्ध का लड़ाका घोड़ा'''दो पैर ऊपर उठाये हुए है। घोड़े के नीचे घुटनों के बल पड़ा है एक आदमी। फिर उसके नीचे एक खिला हुआ कमल। इसी तरह उसके चारों पैरों में नक्काशी के काम किये हुए हैं। पलंग के सिरहाने बेलबूटे बनाये गये हैं जिन पर युग-युग में परतों में मैल जमा है।

किसी परदादा के जमाने का पलंग, उनके पिताजी तक नहीं कह पाते कि वह किस जमाने का है।

पुराने घर के कुछ अंश को उसने ढहते देखा है। घर तो क्या महल था। चौधरी का महल। कमरों के आगे-पीछे बरामदों में भी दीवारें हैं! वहाँ कहीं-कहीं एक-एक दरवाजा। पिताजी कहते हैं, पहले और भी गली-बरामदा, गली-कमरे थे। जाननेवाले लोग तक उन गुफानुमा कमरों का रास्ता नहीं पाते थे। दिन के समय भी ढिबरी लेकर जाना पड़ता था, उसपर तालियाँ बजाते हुए, कहीं कुछ हो, इसलिए। मोटी-मोटी दीवारों पर भी कहीं-कहीं आलाएँ थी, माटी के नीचे तहखाने थे। उन तक पहुँचने को सीढ़ियाँ थीं। उसी तरह के तहखाने में हाण्डी-के-हाण्डी गुड़, अचार, बड़ी, रखे हैं। वह देख रही है—वह घर अब टूट रहा है।

वैसे उसने देखा था—रास्ते की ओर एक अजीब कोठरी। माँ कहती कि वह किसी जमाने में जेलखाना था। अन्दर से दीवारें टेढ़ी-बाँकी-कमानीदार, अण्डे के खोल की तरह। नीचे एक जगह कमर जितना बड़ा रास्ते का मुँह। वहाँ कोई मोटा ताँबे का किवाड़ बना था। उस कोठरी की दो भीतें आधी टूटी हालत में थीं। बाद में वह भी ढह गयी।

बरसात और अँधेरे के बीच वह पुराने बिस्तर का आराम अनुभव कर रही थी। लग रहा था, पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीने का पुराना वाष्प मानो उसे ऊष्मा प्रदान कर रहा है और उसकी आँखों के आगे अस्पष्ट होकर तैरता चला जा रहा है। कहाँ से आया था, किधर जा रहा है वह! आँखें बोझिल हो रही हैं। देह मानो बिछौने पर दबी-दबी जा रही है। किस जमाने का बिछावन है यह। ऊपर से खोल हटाते ही कितने दाग दिख जाते हैं। उसमें पुरानेपन की महक अत्यन्त जानी-पहचानी-सी। याद करा देती है पुराने खोये चित्र को—टूटा घर, दीमक खाये कलापूर्ण झरोखे, रंग-रंग की काठ की पेटी, पुराने सन्दूक छींट से ढँके, पुराने अचार के

घड़े, पेटियों में खाद बनी बनारसी साड़ी, उसपर झिलमिलाती चाँदी की जरी, माँ का अडाऊ चाँवर-मूठ, चोया-चन्दन की महक···

"गुरु ! गुरु !" पुकारते हुए ढिबरी थामे खोजती आयी गुरु की माँ, बोली, "क्यों, बिना खाये, बिना पीये अभी से सो पड़ी, बेटी ! उठो-उठो !" हिला-डुलाकर उठा दिया। वैसे ही उनींदी हालत में वह माँ के पास खड़ी रही। "क्यों, बैठ जाती नहीं, खड़ी क्यों है ? अच्छा, जा तेरे बापू भोजन कर रहे हैं, नमक माँग रहे हैं, दे आ।"

"नमक ? अच्छा।" भर मुट्ठी डाल दिया। वे जोर से बोले, "इसे नींद घेरे है, क्यों कोई काम करने को कह रही हो ?"

नींद या कुछ और, वह नहीं जानती। कब वह जाकर बैठ गयी भोजन करने। लगा, जैसे मुँह जल रहा है, छौंक में एक साबित लाल मिरच पड़ी थी, वह उसे ही मनोयोग से चबाती जा रही थी। रोने को जी किया, पर वह रोयी नहीं। और भी भात ठूँसे, मोटे-मोटे निवाले-के-निवाले। फिर लगा, वह अपने बिस्तर पर लौट आयी है। देह पर वही परिचित स्पर्श, फिर वही महक। कितनी बार उसके माथे में वह महक भेद कर गयी है। लगता जैसे मछली पानी में लौटी जा रही है— परिस्थिति से अनुभूति ग्रहण करने जब उसके स्नायु मानो एक-साथ कार्य शुरू कर देते हैं। नींद में भरकर वह एक परिचित अवस्था में जाग उठती है। बचपन से ही, कई बार, दूसरे को समझा न सकेगी पर अनुभव कर सकती है।

उसके मन की इस अवस्था में पर्यायक्रम से रह गयी है उसके अतीत जीवन के दिनों की भावानुभूतियाँ। अर्धचेतन मन के गहरे नीचे, कितनी कहानियाँ उसने सुनी है, गढ़ी है, देह को इसी बिस्तर पर डाल वह कितनी दूर चली गयी है ! घल-कूल लाँघ कहीं दूर, और फिर लौट आयी है !

आज भी उसी तरह।

पास उधर आकर माँ लेट गयी। दूसरे कमरे में बापू। पर सिर्फ इतना ही नहीं, और भी कितना कुछ। वे सारे स्वप्नरूप। किसी को वह देख पाती, किसी की महक जान पाती, किसी का स्पर्श पाती। चोया-चन्दन की महक बिखेरकर इस डीह के पूर्ववर्तीगण, युग-युग के जाने कितने ! यादों में बजती झमक-झनक चूड़ी और नूपुर की खनक। निरन्तर ठक-ठक धान कूटती ध्वनि की कल्पना में गढ़ उठते बूढ़े-बूढ़ियाँ, निस्तब्ध साँझ के अँधेरे में मिलकर कबूतर निश्चल बैठ जाते; जब बाड़ी के झुरमुट और बगीचे के बड़े-बड़े पेड़ थिर होने की तरह विश्राम लेते होंगे, तब उनकी चेतना में हलचल पैदा करते, मन्दिर में घण्टे-नगाड़े बज उठते, और वह देखती माताओं में मंजे आरती के दीपक। और दिख जाती ढेर-की-ढेर, ताड़पत्र की पोथियों की गड्डी, कलापूर्ण दीवट पर पुराने अण्डी के तेल में पड़ी मोटी बाती जलती, पोथियों की दुनिया प्रकाश में कुलाँचें भरती। व्यासासन पर रखी पड़ी

रहती खुली पोथियाँ, पढ़ी जाती।

पुरानी ढेर-की-ढेर ताडपत्र की पोथियाँ, वशावलियाँ पुरानी कहानी को नये ढग से रूप देकर कल्पना मे छोड देती। और बचपन मे देखा था—पुरानी पालकी का कारीगरी से भरा मगर-जैसा मुँह। पालकी मानो नयी गढी गयी है, बनौती कपड़े से सजी है, नाना प्रकार के फूल और झालर लगी। उससे लोग आना-जाना करते।

छवि उन्हे बाइस्कोप-सी देखती। दल-की-दल बहू-बेटियों को, माँओं को। कोई बच्चे को दूध पिला रही है, कोई पैर पर उन्हे सुला हलदी लगाये देती है, कोई पका रही है, कोई ताश मे लगी है, तो कोई पोथी पढ रही है, और कोई चित्र आँक रही है। रोग-शोक-वार्द्धक्य-मृत्यु देखती, सन्तान जन्म देखती। नाना चेहरों की नाना प्रकार की भगिमा आने-जाने मे उसकी कल्पनापुरी सघन हो जाती। किसी चेहरे को वह आँखो के आगे कुछ क्षण रखकर देखती तो कोई चेहरा देखते ही अन्तर्धान हो जाता। उनके साथ अपने परिवेश को मिलाते-मिलाते वह कल्पना मे देखती और सोचती—वे ठीक यहीं इसी जगह सोये, खाट पर लेटे-लेटे, गये। इन दीवारो से उनके नि.श्वास टकराये होगे, जैसे कि उसकी साँस छू रही है। यह कमरा भी उन्ही का है।

ऐसे इस पलँग पर लेटे-लेटे वे भी सोचते होंगे, स्पष्ट देख सके होगे। गत कल के लिए दीर्घश्वास, आगामी कल के लिए आशा। ऐसे ही एक-पर-एक माला गूँथते-गूँथते माला पूरी हो गयी होगी उनकी, देह झर गयी होगी, और फिर, और एक, और एक। फ़र्श पर यह जो माटी है—कितने पुरुषों का पादस्पर्श इसे मिला है। किसी का ललकता ठोस पाद, किसी का बिलकुल हलका—क्षीण। पुश्त-पर-पुश्त चला गया इसी माटी में। युग-पर-युग बीते, मानव स्पर्श पाती आयी है। माटी पड़ी है, मनुष्य चले गये है।

मन के विचारो में उसी बन्दीघर की करुण कहानी याद आ जाती, जब इस घर में बड़े आदमी थे। उन दिनों यह था उनके बडप्पन का प्रमाण चिह्न। आज समय की इतनी दूरी से पीछे की ओर अनुमान करते समय, जब कि पोथी की वशावली को समय चर गया है, उस गोल घर के बन्दियो की कहानी भी खो गयी है। फिर बड़े घर के लोगों का बड़ा इतिहास, पर वहाँ तबतक बड़े घर की कहानी ही नामजद हो गयी थी। लेकिन बन्दीघर की बात किसी ने याद नहीं रखी थी।

वही बन्दियों के असख्य चेहरे वह अपनी कल्पना में देख पा रही है। देख रही है उन धँसी आँखों में नीरव अभिशाप, युग-युग के लिए। भूख-प्यास से कैद-घर में फेंके जाकर, मार खाकर कितनी ही कठोर जिदे टूटी हैं। कितने जीवन सूखकर लकड़ी बन गये। फटे-हाल, भूखे, दागों से भरे बन्दियो के झुण्ड, एकदम अच्छी तरह से बन्द गोल कमरे ने आदमी को पीसकर चूर-चूर किया है, चक्की की तरह

पीस डाला है। उसी हाड-पीसनी मशीन की सहायता से कितने स्वेच्छाचारियों की राह सरल हो गयी होगी, हाथ मज़बूत हुआ होगा। डरा-धमका वे काबू में कर गये होंगे दुनिया-भर को, खिंचा चला आया होगा धन-द्रव्य, किसी के घर के पिछवाड़े कद्दू, लौकी, गुहाल से गाय-बकरी, किसी आस-पड़ोस के गाँव से ढेरों बेगार खटनेवाले चाकर, किसी के घर की धन-सम्पद्, या कहीं से कुछ और। सामन्तों की बड़ाई-यशोगान करते हुए, सहमे हुए गाते-गाते किसी तरह गिन-गिनकर दिन काट देते। छवि के पिता कितनी ही पुरानी बातें कहा करते।

परन्तु उनमे उदार लोग भी थे। अपने अतीत की परम्परा के इतिहास मे—अत्यन्त कोमल मनवाली उदार रानियाँ—गोविन्दचन्द्र गीत सुनते ही जिनकी आँख से अश्रुधार बह जाती, और विचारवान्, उदार-हृदय गृहस्थ। पिता से सुना है कि ऐसे भी थे कोई-कोई जो जबतक यह नही जान लेते कि गाँव-भर के लोगो का खाना-पीना हो गया है, वे स्वयं भात की थाली के पास तक न जाते, उनका प्रण था कि कोई भी अगर गाँव मे भूखा है तो वे नही खायेंगे। उनके कारण जो लोगो के खाने-पीने की ख़बर रखते, एक-एक कर सारी ज़मीदारी पराये हाथो मे चली गयी। ऐसे लोग भी थे इस घर मे।

अँधेरे में तनिक आँख मीच लेने पर लगता जैसे वे चौंककर आते। उनसे डरती नही, उस अर्ध-चेतनावस्था मे वह उन्हे देख पाती कि वे अपनी इच्छा बखान रहे हैं कि उन्हे प्रकाश चाहिए। कोई उन्हे देखकर बाहर कहता—ये खोये नही, कभी ये भी थे, अब भी उनकी स्मृति है।

उस स्मृति मे साधारण जीवन-यापन ही अधिकतर लोगों का इतिहास है। चमक-दमक नही। उनका वही चैन से घर-बारी जीवन। स्त्रियों का खाना-पकाना, पान लगाना, बच्चे पालना, घर सँभालना, इसी के बीच यदा-कदा कोई एक इधर तो कोई उधर। वह साधारण न होता। घर टूट गया है, संस्कार नही टूटे। उसी संस्कार के बीच उसे भी दिन बिताने होंगे, पुरानी प्रथा का खिलौना बनकर। वैसे ही वह भी नाक-कान छिदवाकर चित्र-विचित्र गुदने गुदवाकर निर्जीव अलकारो का बोझ झनझनाती हाथ-भर लम्बा घूँघट खींचे, इधर-उधर सिर हिलाती-डुलाती पराये घर जायेगी, पराये घर के अधिकारी का अनुसरण करती चली जायेगी वह सारी जिन्दगी। क्योंकि यह समाज यही चाहता है। पर समाज कौन है? क्या मिला है युग-युग के सुबोधपन से किसी को? अत्याचारी भी भुला दिया गया है, फिर सन्त भी। शान्ति से जीवन बिताया है उन्होने जो त्यागी, परोपकारी, निर्मलमना थे। जीवन का स्वाद उन्होने ही पाया है। और लोग चाहे कितने ही नामवाले क्यो न हों, जीवन मे वे भी आँख-कान मूँदकर ही चले हैं। जीवन नही जीया। धन जोड़ते-जोड़ते 'यक्ष' हो गये है, धन को बाँटकर अभावग्रस्त लोगों को हँसा-हँसाकर धन्य नही हो सके।

उसके सपने में मानो अतीत की कोई युवती परदादी उसे हँसते-हँसते समझा रही है। कितना सुन्दर उनका रूप है, कितना उदार निर्भीक उसका चेहरा, मानो उसके अत्यन्त प्रिय पलंग के पाये पर तराशे गये चित्र उसी की प्रतिकृति हों। हँसते-हँसते मानो वह कह रही है, "तेरी परम्परा में एक जगह कभी मैं भी थी। तेरी परम्परा में केवल ऐसे लोग ही न थे, जो घूंघट खींचे चूं-चां करती। हम स्वाधीन भाव से सोचा करती, सोच-विचारकर कार्य करती। हमने तो यह सीखा था कि आदमी अगर किसी के साथ न आ सका तो उसका जीवन व्यर्थ है। अधिक कहने, बात माननेवाला होने पर आदमी कठपुतली बन जाता है।

मन-ही-मन वह उपदेशों को निगलती जा रही है। अंधेरे से ढँककर माटी आशा और मुक्ति का सपना देख रही है। उसका नया व्यक्तित्व फूट रहा है।

ऐसे न था उस जमाने का समाज। छवि पनी नींद में सोयी सपना देख रही थी। ऐसा न था कि हर बात में माँ के आँचल में बँधी रहे, हर बात में रोक-टोक, डर-भय, असमाने के लिए हर बात में राम का नाम लो, काम करने के लिए नहीं।

घोड़े पर चढ़ी सुन्दर गहने पहने बर्छी-खाण्डा के खेल खेला करती वे परदादियाँ। स्वाधीन होकर घूमा-फिरा करतीं। पुरुषों के साथ उनका आसन समान था। परिश्रमी थीं, विदुषी थीं, कलाविद् थीं। उनकी विशेषता थी उनके सद्विचारों को लेकर। उन्हीं के बल पर वे समाज को प्रभावित कर पाती थीं, तभी उस समाज में स्वार्थपरता कम हो गयी थी। लोग पहले दूसरों की बात सोचते, फिर अपनी। समाज चैन से था। वे भी रहती थीं, चलती-फिरती थी इसी माटी पर। कैसा समाज गढ़ा जाये कि कोई किसी से ईर्ष्या किये बिना सुख से रहे, कैसा जीवन जीया जाये कि दुख पास न आ सके। इस बारे में चर्चा करती थी, यहीं, बैठ, इसी गाँव में, इसी घर में।

उसके पिता कहते इसी तरह की कहानी, इतिहास।

परन्तु, वह सपना देख रही है। अपनी पहचानी दुनिया से वह भिन्न। वहाँ गाँव-गली में छोटे मन की फालतू की अफ़वाहें नहीं, लाज या भय नहीं, वह मन खोलकर कह सकती है, "मैं इसी आदमी को चाहती हूँ, वह मेरा स्वामी है।"

उसी सपने में रवि की बग़ल में उसके सहारे-सहारे रास्ते चलने में उसे बिलकुल सकोच नहीं। वे चोरों की तरह दुबके नहीं जा रहे। वे जा रहे हैं—गाँव के रास्ते पर, नदी के किनारे, लोगों की भीड़ में। बिलकुल परिचित, बिलकुल साधारण है यह राह चलना। स्वामी के साथ सहधर्मिणी होकर।

रवि की आँखों से उसकी आँखें मिल जाती है। उनके मन की गहराई में वह पढ़ रही है वही बात—जगत् हँसे, तब हम हँसेंगे, उससे पहले नहीं। दुनिया में इतने रंक, इतना अन्याय-अविचार है, उसके लिए हमारे करने लायक कुछ नहीं!

सिर्फ़ पशु की तरह जीवन जीना ! और फिर लुढक जाना । ना, हम गढेंगे एक ऐसा समाज जहाँ अभाव, विषमता, आलस्य या अन्याय कुछ न होगा। कोई भूखा न होगा। सब सबके होंगे, सब कुछ मामलाती। वैसी दुनिया हम गढ़ेंगे, जहाँ सब भाई-भाई हों, पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक। जब हमीं में से, जहाँ जो रहे चाहे, दोनों की आँख में टप-टप आँसू झरने होंगे आदमी की दुर्दशा की बात सोचते-सोचते, वही होगा अपना मिलन का माध्यम, वही अपना लक्ष्य, एक सुखी उद्यम, एक आदर्श, एक विश्वास।

अपने बायें हाथ की हथेली दबा रही है वह। उसकी देह के गहरे तक ऊष्मा-हट फैल जाती है। फैली जा रही है आशा और उत्साह, किसी के मन की अजस्र अनकही बातें इतने में ही मानो झर पड़ती हों किसी दूसरे की स्नायु में।

आँखों के आगे कितने देशों के कितने दृश्य फैल जाते हैं। व्याप्ति पर व्याप्ति। दूर खोयी लकीर की तरह क्षितिज तक चली गयी है माटी। कहीं समतल तो कहीं लहराती। ऊपर आकाश, उसका कोई अन्त नहीं। वह गाँव-गली बाग़-बगीचे देख रही है, फिर देख रही है अँधेरे के अन्दर टिमटिमाते तारों की तरह शहर की अनगिन रोशनियाँ। समय बदल रहा है, स्थान बदल रहा है, और वह देख रही है —दल-के-दल हँसमुख आदमी, सौ-सौ नहीं, हज़ार-हज़ार। वे सब हँसते-हँसते मिल-जुलकर काम कर रहे हैं। फिर मौज-आनन्द मनाते हैं। चारों ओर फ़सल से भरे खेत हैं। हँसमुख लोग और बड़े-बड़े घरों से भरे गाँव, कोसों तक फैले बग़ीचे। सबको ख़ूब खाने को अन्न। सब एक-दूसरे को चाहते हैं, अशान्ति नहीं, हिंसा नहीं कहीं भी। आकाश में विराट् इन्द्रधनुष तना है, नीचे हरियाले खेत, हरा वन। सारे आकाश में चिड़ियाँ दल-की-दल उड़ी जा रही हैं, पंख-से-पंख सटाये। एक के पीछे एक, आकाश भरते हुए चले गये दल-के-दल हंस, जिस तरह चिलिका की ओर जाड़े के दिनों में जाया करते हैं। चिड़ियाँ उड़ी जा रही हैं। बाज वग़ैरह नहीं हैं। हज़ारों-हज़ार मृग कुलाँचे भरते जा रहे हैं ख़ुशी में, वहाँ बाघ-भालू नहीं हैं। नीचे फ़सल कितनी सुन्दर है ! और कगार पर बाँकी मुड़ती जाती नदी। और इन्द्रनीलम अनन्त आकाश···और उसके तले स्वस्थ-निश्चिन्त मानव-समाज··· जहाँ एक के लिए हैं सब-के-सब।

फूलशरा गाँव में 'बारहमाणिया' पर जुटा हुआ है सब्बल और फावड़ा लिये एक दल। उस दल में पाँयचे टाँगे, सिर पर पगड़ी लगाये बई मलिक, बिशि पाण, धोबेई मिश्र, अर्पति सोई आदि हैं। चारों ओर साग-सब्ज़ी का खेत, बीच में यह थोड़ी-सी बंजर-भूमि है, ख़ाली पत्थर। ज़ोर-ज़ोर से बई मलिक ने एक जगह सब्बल

मारा, पत्थर ने ऊँ की, न चूँ।

"वैसे नहीं होगा वई, ठीक जगह खोजनी पड़ेगी।" धोवेई मिश्र बोले, "पत्थर कितना ही कड़ा हो चाहे, खोजते-खोजते भेदने को जगह मिल ही जायेगी···वह देखो, कैसे सफेद-हलद होकर मैली दिख रही है यह जगह। मारो चोट।" सब्बल की चोट से भुरभुराकर पत्थर झर पडा। रास्ता खुल गया। ढीला था सो एक पत्थर भी उखड़ गया।

धोवेई मिश्र बोले, "ये जो पत्थर का टुकडा निकला, समझ लो कि बस यही विभीषण पत्थर है।"

"विभीषण पत्थर!" बिशि ने कहा। सब हँस पड़े।

धोवेई मिश्र ने कहा, "हाँ, मारना इस पत्थर पर चोट! इस पत्थर को सब्बल का सहारा देकर उठा, हम सब हाथ लगाकर दबाये रहेंगे। देख कैसे हिलता है। किस जमाने से यह पत्थर यहाँ बैठा था। अब हिल रहा है। ठहर-ठहर, तू समूचा उठ जायेगा, धीरज रख, ऐसे क्यों हो रहा है?"

एक विशाल पत्थर उखडा। सबने मिल-जुलकर उसे फेंक दिया। फिर उससे अगले पत्थर पर जोर देकर सब्बल को पत्थर पर चाँपकर फिर जोर लगाया, पत्थर हिल गया। धोवेई मिश्र बोले, "देखो, कितना सहज है अपना काम। गाँव का भेदिया मिल गया। उसे ही पकड़ उभारने लगा गाँव का सामलातकार। तभी फिरंगी सरकार ने इस देश-भर में भेदिये रख छोड़े थे।

वई मलिक ने कहा, "अबकी जो पत्थर हटाया, उसकी जगह केवल खाद खाद दिया जायेगा, तब जहाँ घास उगती थी वहाँ आलू उपजेंगे, प्याज पैदा होंगी।"

धोवेई मिश्र ने कहा, "देश-भर में वही करना पड़ेगा, आदमी की बुद्धि, विवेक इसी तरह पत्थर बनकर पड़े है, उसे सरस करना पडेगा, उर्वर बनाना होगा ताकि वहाँ सद्विचार बढ़ सके।

बिशि पाण ने कहा, "उसपर भी क्या होगा? पत्थर चट्टान तोड़ने के लिए भी सही मौसम चाहिए। वरना धम-धडाके की हो चुकी होगी, तभी पत्थर की फाँक ढीली पड़ी मिलेगी, मेघ ढँके होंगे तो ठण्ड के कारण जितना भी पीटो-पछाड़ो पसीने की बूँद देह से चूने से रही। ऐसा ही होता है पत्थर तोड़ने का मौसम। और वो जो पसीने-ऊमस भरे दिन होते हैं, चिलचिलाती, जबतक तिलमिलानेवाली दुपहरिया, उनमें कुछ कर सकना क्या सहज है? कुछ होगा ही नहीं। अभी जैसे दुनिया-भर के बादल घिरे हैं, तभी चट्टानों को तोड़ना भी अपने आप होता जा रहा है। कहने पर लोग सुनते है। यह सामलाती ढग अच्छा लगा तो एक क्या, आस-पास के पन्द्रह गाँवों में यही बात चल पड़ी, सब जगह सामलाती, सब जगह लोगों ने अपनी मिलकियत सामलात में दे दी। आजतक किसी से सुनी थी ये

बात ? पाँच गाँव की ही तो बात—न मिले तो कौरव-पाण्डवों ने महाभारत खड़ा कर दिया, आज कहीं पर बीघे-बीघे की क्यारी के लिए दस-दस बीस-बीस हजार रुपये फूंककर फक्कड़ बन जाते है। किसी ने सुना था कि गाँव-भर के लोग भाई-भाई ? ये सब भी तो समय और मौसम की बाते है।"

वई मलिक ने कहा, "भविष्य मालिका' में तो लिखा है कि यह होगा ही, सत्य फिर आयेगा।"

धोवेई मिश्र बोले, "वो देखो, उधर दूसरा दल कैसे आगे बढता चला गया। बाप रे ! कमर तक मुड़ जाते हैं, फिर ऊँचा सीधा उठाकर झुकते है और धमा-धम फावड़े की चोटें कर रहे हैं। कुदाल कितने गहरे भेदती होगी ! देखो हमी इधर पिछड़ गये—"

चल पड़ा फिर काम। पत्थर उखाड़ना। माटी ढीली करना। दल-के-दल जगह-जगह जुटे हुए है लौ लगाये। थकावट लगी तो बीच-बीच में थमकर कुछ बात-चीत, वरना काम-से-काम। धोवेई मिश्र समझाते है देश-विदेश की बातें। बोले, "बिशि ने जो सही मौसमवाली बात कही, वह बहुत कुछ सच ही है। धरती को क्या हो गया है, देखो, कि सारे देश के लोग सघ बनाना चाह रहे हैं। रुसवालों ने हाथ के काम को आज बड़ा मान रखा है, वे लोग अपनी देह से भरपूर मेहनत करते है, मेहनत के माध्यम ही से वे सबको भाई-भाई बना रहे हैं—हालांकि 'भगवान् हैं' वे इस बात को नही मानते। चीन की ओर देखो, वहाँ पहले कितने धनी थे, फिर कितने ऐसे गरीब थे कि खाने को नही था। अब सब लगभग समान होने को आये। सब मेहनत करने लगे है। अपने यहाँ देखो, भगवान् का नाम लिये बिना समानता नही आती है—यहाँ के लोग, हजार-हजार बरस हुए, भगवान् के माध्यम से ही मानते आये है कि सब आदमी समान हैं।"

बिशि ने कहा, "सकलदेहे भगवान्।"

धोवेई मिश्र ने कहा, "इस तरह समानता मानकर इस देश के लोग एक हुए थे, सघ गढकर सामलाती बने थे। काम की सुविधा की दृष्टि से कोई किसी जगह रहा था, पर बड़ा-छोटा न था। तब सबके पेट भरने के लिए पत्तल भरी थी, दृष्टि शुभ थी। लोग सुख से रहते थे।" "बाद में जैसे", बिशि ने कहा, "मौसम बदल गया, स्वार्थ बढ़ गया, छल-बल बढ गया, लोग अपने-अपने बीच कलह करने में रहे, घर के कलह मे गाँव का कलह, गाँव के कलह से लड़ाई, फिर उसी रास्ते से होकर विदेशों से अरण्ये शत्रु घुस आये। वो देखो, शत्रु की तरह सब्बल कितनी जल्दी घुसता है, और गया इतना बड़ा पत्थर, वो देखो उखड़ गया !"

वई मलिक ने कहा, "रवि भाई कहता था कि बुद्ध भगवान् ने जन्म लेकर फिर आदमियों को एक किया था, फिर चारो ओर बढ़ गया था गाँव का साम-लात, आदमियों का सघ।" वई मलिक रवि को 'रवि भाई' कहने लगा है, सहज

ही यहाँ के लोगों ने अपना लिया, 'भाई' कहना, 'दीदी' कहना।

विशि ने कहा, "प्रबुद्ध बुद्ध अवतार!"

धोबेई मिश्र ने हाथ रोके विना ही कहा, "सच बात है—बुद्धदेव थे राजपुत्र। सब छोड-छाडकर वावाजी वन खोजते-फिरे कि क्या करने से आदमी कष्ट नही भोगेगा, सुख से रहेगा। मन्त्र-तन्त्र नही, कोई जादू-टोना नही, सामान्य आदमी अपनी साधारण वुद्धि से जो सोचता, बुद्धदेव ने वही वात कही। कहा कि सत्य बोलो, प्राणियों की हिंसा न करो, किमी को कष्ट न दो, भाई-भाई होकर चलो, सब मानव समान है, सबके प्रति दया रखो, प्रेम करो, चोरी-अन्याय नही, बुरे रास्ते न चलो, बुरी बात न कहो, ठगकर, धोखा देकर न खाओ, परिश्रम कर पहले औरो को खिला फिर खुद खाओ। कहा—लोभ न करो, मन मे स्वार्थ की आशा रखकर कार्य न करो। जितनी आशा रखोगे, लोभ रखोगे, उतना छट-पटाओगे, उसे काट दो, फिर दु ख नही रहेगा।"

विशि ने कहा, "लोगों ने उनकी बात सुनी। दुनिया के लोगो को उन्होने कितने प्रकार से समझाया। बगीचे में सभा होगी, वे समझायेंगे—यह जानकर कैसे किलकिलाते लोग आकर जुटते बगीचे मे। एक जगह खाते-पीते, ओस में सोये रहते, दिन-दिन क्या सप्ताह-सप्ताह भर। और फिर एक दिन देखते, महापुरुष चले आ रहे है। साथ मे किस-किस देश के कोने-कोने से महात्मा। आदमी चल रहे है हज़ार-हज़ार। सारा बग़ीचा सचमुच जैसे महापुरुषो के पुण्य से महक उठता। चुपचाप बैठ जाते छाया तले, उनके सिर पर से थाली फिरा लो चाहे। आगे वेदी होती, वेदी पर खडे हो जाते महापुरुष। कितने लम्बे दिखते, लोग बातों-ही-बातो मे कहते भी, 'नारियल महापुरुष!' फिर चलती प्रार्थना, प्रार्थना की हिलोर फैल जाती। वही होता सच, बाक़ी सब मिथ्या। मानव उसी मे मज्जित हो जाता।"

अवाक् धोबेई मिश्र उसे देख रहे है, सब देख रहे है, किसी का हाथ नही हिलता। विशि पाण मानो दिव्यदृष्टि के बल पर अतीत को देख रहा है। लम्बा-गोरा, चिकने बाल, हाथ से काते सूत से बनी मोटी खद्दर की छोटी-सी धोती बाँधे है, कोई हरकत नही, खडा है एक जगह पर। उसकी गोल-गोल बड़ी-बडी आँखें मानो फैलकर खुली है। उन पर एक नये प्रकार का प्रकाश फैल रहा है। धोबेई मिश्र ने गम्भीर होकर कहा, "तुम उस सभा में थे विशि भाई, उसे तुमने ज़रूर देखा है।"

विशि कहता जा रहा है, "एक बार क्या, अनेकों बार देखने की तरह लगता है। सबके ठाकुरजी बनकर आये थे। धनी, गरीब, सबके, उनके पास भेद-भाव न था। भेद-भाव तोड़ने के लिए ही तो वे अवतार बनकर आये थे। वे ही केवल समझते थे—अछूतों का दु.ख, जात-पाँत, छुआ-छूत का भेद-भाव उठाकर उन्होने

सबको एक जाति बनाया था। तभी तो वे दुनिया में सबसे बड़े हैं। उनकी हँसी मुरझाती नहीं, उनकी भंगिमा विमन नहीं होती।"

धोवेई मिश्र ने गद्गद होकर कहा, "विशि भाई, तेरा पुण्य-बल अधिक है। तू देख पाता है, हमारा वैसा भाग्य नहीं। पर हमारे लिए गुहार कर भाई, जगत्-भर के लिए कह। कह वैसे ही जैसे उस दिन उनकी पुकार कानों में पड़ते ही जगत्-भर के लोग अचेत हालत में चेत में आकर उठ बैठे थे। अब वैसे ही उठें, जगत् उज्ज्वल हो।"

दिख रहा है अतीत, मानो हाथ बढ़ा रहा है वर्तमान की ओर। आदमी चल रहे हैं अनगिन, उनके आगे-आगे मानो वह एक हैं। वे सब निरीह लोग। सभ्य आदमी। सत्य-प्रीति और शान्ति के उपासक हैं। शून्य में दृश्य भर गया। कितने लोग, कितने जनपद, कितने राजपथ। सौम्य शान्तमूर्ति मानव। वे लोग अनुशीलन कर रहे थे जीवन को समझ-बूझकर उपभोग करने का। बुद्धि-विचार से इस संसार के दुख के कारण का अनुसन्धान कर दुख को जीर्ण करने का रास्ता लोगों को बताने का। देह के रोग की चिकित्सा करने, जन्तुओं के लिए आदमियों के लिए आरोग्य भवन और भिषक् वर्ग, मन का रोग ठीक करने के लिए संघाराम। वहाँ भिक्षु-भिक्षुणियाँ अध्यापक-अध्यापिका, सब अर्हत।

धोवेई मिश्र कह रहे थे—"और देखो विशि भाई, चारों ओर जब पृथ्वी मुक्त, शान्त, प्रबुद्ध थी, तभी आकाश की लकीर तक आग का लेल फैलाते, काटते जलाते, मार-काट मचाते चले आये टिड्डीदल की तरह शत्रु, सैन्य लिये रक्त मुँहवाले विजेता गण। तपो-भूमि पर राक्षस विचर रहे थे। इतना अगर देख पाते हो तो देखो भाई, कलिंग का स्मरणीय दिन, मानो समुद्र ही बढ़ आया साल के वन को खाने के लिए। इधर का एक उधर के सौ, फिर भी वे पीछे नहीं हटे। अपनी धरती माटी के लिए लड़ते-लड़ते सो गये हजारों-हजार। जल उठे चारों ओर, पहाड़ की तरह ढेर लगा दिया आदमी के मुण्डों का। आदमियों के रक्त की नदी बह चली। फिर देखा, इतनी विभीषिका में भी संघाराम से निर्भीक भाव से चले आ रहे थे अर्हत—दल-के-दल।

उसी मरण-भूमि पर खड़े होकर प्रार्थना की। संघ की तरह गम्भीर मुँह से कहा, "तुम मरे नहीं, तुम धन्य हो गये। तुमने अपना कर्तव्य किया है और देह छोड़ गये हो, तुम्हारी आत्मा मरी नहीं, तुम हारे नहीं, तुम जीते हो।"

और स्वतः शिथिल हो लड़खड़ा गये समुद्र की तरह असंख्य हाथों से शस्त्र गिर पड़े, लज्जा से नीचे झुक गये उनके चेहरे। इधर-उधर यहाँ-वहाँ खड़े होकर देखा, कितने नर-मुण्डों का मन्दिर खड़ा था—नीचे चौड़ा, ऊपर सँकरा। जैसे सारे मुण्ड आँख मीचे प्रार्थना सुन रहे हों—उसी भंगिमा में पड़े थे। सच, जैसे शमन का भाव फैल गया उन चेहरों पर प्रार्थना के शब्दों में। चल पड़ी प्रार्थना।

"सुनो भिक्षु ! मृत्यु भी समीप है, मृत्यु के भी आँख है···।"

ऊपर देखा, पागल की तरह दौड़ा आ रहा है कोई। अपनी राजपोशाक उतारता-फेंकता। फेंक रहा है अपना राजमुकुट, अपना खाण्डा, अपने अधिकार के सारे चिह्न-प्रतीक। प्रार्थना मण्डली के आगे लम्बा पसरकर भो-भो रो उठता है। कह रहा है कि मुझे क्षमा करो, मुझे क्षमा करो। मैं ही हूँ वह पापिष्ठ अशोक। मैं ही उतनी नरहत्या के लिए, विभीषिका के लिए दायी हूँ। कोई उसकी बात सुन नही रहा। चल रहा है प्रार्थना का सगीत। धीरे-धीरे वह भी शान्त होता जा रहा है सिर झुकाये आगे खडा है। धीरे धीरे उसके गले से भी आ रहा है प्रार्थना का सगीत। यह मानो कोई और ही है। यह निष्ठुर नही, हृदयवान् है, इसका स्वर कर्कश नही मधुर है। यह विजेता नही, विजित है। धीरे-धीरे ढाल-तलवार वर्म-शिरस्त्राण दूर फेंक उस प्रार्थना में मिल जाता है असंख्य सेना का पारावार। मरण का रूप छोड वे भृत्य बन जाते हैं जीवन कार्य में। शान्ति सेना, जैसे कि वहाँ समग्र मानव-जाति जमा हो गयी है, सबके हृदय मे निकल रही है एक आकुल प्रार्थना—"हे बुद्ध, शान्ति आये ! हिंसा का लोप हो ! मृत्यु मुरझा रही है, लाल-लाल कितना बडा सूरज उग आया है।"

किस पुराने जमाने से यह नीम का पेड है। उसके तने मे से आधा तो दीमक चाट गयी है। खोखर, और माटी, उधर जो दूसरा हिस्सा खडा है, सिर्फ़ उसकी ही चौडाई चार हाथ होगी। ऊपर पुरानी डाले मव गयीं—एक ओर हाथ बढ़ाये छाता दिखाने की तरह, पतली डाल पसर गयी हे, पेड़ की एक मात्र शाखा, उस-पर अनेको छोटी-छोटी डालियाँ, अनेको लाल-हरे घने पत्ते।

उसी के तले छाया मे है ग्यारह लोग। उनमें धोवेई मिश्र बाते कह रहे है, और बाकी लोग चुपचाप उधर देखते बैठे है। धूप आ गयी सिर पर, किसी का उधर ध्यान नही। वे उन्ही बातो मे डूबे है। आगे वही पथरीला-कँकरीला कँटीला वन, जिसे खोद-उलीचकर ककड़-पत्थर उठा रहे थे। तनिक हटकर अमराई, यह जगह बाहर है। जगह-जगह झुरमुटों के नीचे मे हाथ-भर लम्बी-चौड़ी पाँच-छह अँगुल मोटी बड़ी-बडी ईंटें यहाँ से निकलती, एक-एक नही; मानो ईंटों की कोई खान है। कोई कहता, पहले यहाँ किसी राजा का महल था, ढह गया है। फिर कोई कहता कि यहाँ कोई बडा गढ था।

नीची जगह, वहाँ केवल बेरों की झाड़ियाँ, खिरनियों भरी हैं। उसके चारों ओर ऊँचा टीला-सा होकर एक मेड़ के चिह्न है। उसके ऊपर चारों ओर जगह-जगह बघनखी, बेंत के झुरमुट, छोटे-छोटे बबूल। उसी नीची जगह को दिखाकर

कहते कि उस जमाने में कोई पद्म पोखरी थी, उसके बीच दीप-स्तम्भ था।

और कहते हैं, यहाँ किसी टीले तले पुराने याद हुए चावल निकले, काले स्याह कोयलों की तरह। ढलती चली गयी है यह जगह धान के खेतों की ओर, धान की जमीन लम्बी धार की तरह फैली है। धान की जमीन के उधर, दिखता है दो पाव चौड़ाई में बालू, धान की जमीन के किनारे-किनारे वह बालू भी फैल गयी है दूर तक। कहा जाता है कि खेत और बालू मिलकर कोई पुरी हुई नदी है।

वहाँ की कई बातें लोग कहा करते हैं। कहते हैं, वहाँ सोने का पद्म है, सोने का खाण्डा है, सोना तो बस यहाँ-वहाँ इतना गड़ा पड़ा है कि कितने ही लोगों ने चुनकर घर भर लिये हैं। दिखाते, दाहिनी ओर तनिक नीचे जहाँ तीन आम के पेड़ एक साथ हैं, उनके नीचे जो धान का खेत है, उसी को; वह जो खुरदरा पत्थर लम्बा होकर पसरा पड़ा है उससे दो हाथ छोड़कर, उस के झुरमुटे के इधर। कहते हैं हल चलाते-चलाते फाल में टकरा कर यहाँ एक बार सोने का मुकुट निकला था, उसमें क्या कुछ खुदा था, कोई पढ़ नहीं सका, उसे काटकर तोड़-फोड़कर, टुकड़ा-टुकड़ा कर सब ले गये। और कई लोगों का कहना है कि कितना सोना 'यक्ष' हो गया है। रात में रोशनी कर वे लोग इधर-उधर सारे काँटेदार वन में आना-जाना करते रहते हैं, एक लठ मारने पर यक्ष मरकर सोना बनकर वहीं ढेर हो जाता, पर जो ऐसा करता उसका वंश निपात हो जाता, अतः 'यक्ष' के शिकार करने को किसी का मन नहीं करता। कहने-सुनने की तो कई बातें हैं, किसने क्या सुना, किसने क्या देखा, इसी तरह की नाना बातें। झांझ-मृदंग सुनने से बीरी चकुली (उड़द की पीठी) तलने की महक तक। कभी केवड़े के झुरमुट के नीचे बच्चे की रुलाई सुनायी पड़ती, आधी रात गये कभी किसी का बिलखना सुनायी पड़ता, इसी तरह की कितनी कहानियाँ हैं—पर वे सब राज की बातें हैं—और विश्वास की।

ये जो मोर्चा खाये ताँबई रंग का मोटा-सोटा नेवला कितनी बार आना-जाना कर चुका है इस रास्ते, इधर-उधर अपनी चंचल दृष्टि डालता झाड़ी में घुस फिर निकल आता है, फिर घुस जाता है, वह कभी भी 'यक्ष' नहीं हो सकता। वह नेवला ही है, चें-चें करते ये जो कजलौटे उड़ रहे हैं झुण्ड-के-झुण्ड वहाँ, कीड़ों को खाने के लिए, वे *सिर्फ़ कजलौटे ही हैं।*

उसका सौन्दर्य है वही बेरों की झाड़ियों के गोल-गोल झुरमुट, पास-पास, उनमें गुच्छे-के-गुच्छे सफेद-सफेद फूल। मोम लगाने की तरह चक-चक करते मोटे-मोटे, छोटे-छोटे पत्तों की सघनता, परत-के-परत बेशुमार गुच्छे-के-गुच्छे गाढ़े हो सिरे ललवौंसे पड़ते जा रहे हैं। दूधिया, कड़े सख़्त बेर गुच्छे-के-गुच्छे, चिकने गोल नन्हे-नन्हे कुम्भ की तरह, तनिक लम्बे होकर लटके हैं, और उसी तरह हलके हरे-हरे झाड़-झखाड़, उनके नाना आकृति के पत्ते और पेड़। वहाँ बिच्छी के पत्ते भी

गहरे सब्ज रस से भरकर सुन्दर दिख रहे हैं, उसके आगे कितनी सुन्दर सूण्ड,
जगह-जगह कितने सुन्दर तोतई पत्ते, चौड़े-चौडे, लम्बे-लम्बे, दूसरों पर मानो
विछे हुए हैं, पानी पर तैरते-से। वरसा मे हलकी-घनी भरी-भरी घास वढ गयी है।
धरती पर जाति-जाति के नन्हे-नन्हे फूल, रग-रग के, लाल-वैंजनी, गाढ़े नीले,
सफ़ेद, मानो पन्नी काटकर सजा दी गयी है। पास-पास, देखते ही आँखो मे आ
पड़ेगी, वरना पैरो तले रह जायेंगे सैकड़ो। वे ही कतार-की-कतार मे नन्ही-नन्ही
लतिकाएँ चल रही है, जैसे कि कोणार्क के तोरणद्वार पर सुई के काम की तरह
शिल्प हो। माप-नूपकर उसे भगिमा दी है, छन्द से मोडा है। रंगो के तले उस
चित्र की पृष्ठभूमि है माटी। खूब हलकी, सूक्ष्म, मिले-जुले उसके अवर्णनीय रग,
कर्कश नही कोमल, विलकुल अपनी ही, एकदम सहज जानी-पहचानी वातें याद
दिला देती, रोज की देखी दुनिया के रोजमर्रे की घर-गिरस्ती की वातें, जच्चाघर
से लेकर मशान तक की।

वहाँ वीरानी का भी अपना एक प्रकार का सौन्दर्य है, लोकालय से दूर, अयत्न
से रखे-पडे रहने पर भी इस दृश्य की अपनी स्वाधीन-स्वतन्त्र विशिष्टता है।

रात मे वरसा की धार से वाम्बी के सिरे का एक भाग ढह गया था। फिर
दीमक लग पडी है उसे गढ़कर तैयार करने को, और थोडी देर मे वह कमी पूरी
कर नया रूप लिये खडी हो जायेगी, भुला दी जायेगी वह बात कि कल जो था,
सो आज नही।

उसी के नीचे-नीचे अतीत का इतिहास सचमुच जैसे अपनी गहरी नीद मे भूला
हुआ सोया पड़ा है। कोई गढ, कोई राजा, पीढी-दर-पीढ़ी सुख-दुख की घर-गृहस्थी-
वाला कोई नगर, कोई जनपद, पराये देश या पराये लोगों पर अपनी कडी नजर
अपना वड़प्पन जोर-दवाव देकर लाद देने को कितना कुछ करते जिसे लोग कहते
युद्ध-अभियान। कितने नृशस वर्वर हत्याकाण्ड, जिसे कहते रण की निपुणता।
कितने अन्ध आस्फालन, जिसे कहते घोपणा। कितने वडाई के वोल, जिसे नाम देते
वीरत्व। याद-ही-याद में झनझना उठती वैलों की घण्टी की तरह वन्दियों की मोटी
जजीरें, उठती विकल चीख की कान फोडती झड़ी, श्रम और त्याग से जीवन-भर की
चेप्टा द्वारा सहेजी रखी सम्पदा या कीर्ति निर्दयी अविचारी नृशंस हत्याकारी गुण्डो
के पैरो तले रौंदी जाकर लुप्त हो जाती। जीवन के लोभ से कवि और पण्डित होते
गुण्डों के प्रचारक। उनके भाट उनकी अपकीर्ति को, असभ्य वर्वर लज्जाजनक
कहानी को काव्य द्वारा अथवा शिलालेख पर वीरत्व की प्रशस्ति वनाकर रख
जाते। यहाँ भी पता नही वैसा ही हुआ होगा, नरमुण्ड का शिकारी आदिम असभ्य
मानव की परम्परा में—वही युद्ध, देश-जय, लूट, अत्याचार, रक्तपात की पुरानी
कहानी, मार-काट, हिंसा और कामना का ताण्डव हुआ होगा।

फिर असीम त्याग का, असीम सहिष्णुता का, असीम साहसिकता का, नैति-

कता का, पराये दुःख में कातर हो परोपकार के लिए अपना जीवनदान देने का इतिहास भी होगा—यहाँ बार-बार।

और वह मौन कहानी, जो आदमी के गहन मन में भावना बनकर उगती है, भावना बनकर अस्त होती है, एवं सूक्ष्म स्नायुओं में सूक्ष्मतर भावप्रवाह बनकर पिण्ड के ब्रह्माण्ड में निमेष-भर के लिए फैल जाती है, फिर पिण्ड के बाहर निमेष-भर के लिए जाकर घूम आती है, परन्तु स्थूलतः घटना नहीं घटती, नीरवता में कभी खो जाती, कभी एक क्षीण दीर्घ श्वास उठाकर अन्तर्हित हो जाती। लेखा-जोखा करना भी मुश्किल। अनदेखी-अनसुनी कहानियों का, वे भी यहाँ कितनी उत्पन्न होकर विलीन हो गयी होंगी !

सब पर विस्मृति की परत-की-परत। मोटे कम्बल जैसा लद गया है समय। साथ-साथ धूल-माटी, जन्म, ध्वंस, पुनर्जन्म। गोंदे इतिहास पर, पाँव गड़ पर बेर फैलकर रुपहले सफ़ेद फूल खिला रहा है, सजाये हैं नन्हे-नन्हे कुम्भ की तरह के बेरों के गुच्छे-के-गुच्छे, वही जिसके वृन्त में लाली है, अन्दर है सफ़ेद दूध, वह काँटे बढ़ाकर थामे है, फिर क्षीररस भरा कुम्भ भी।

उसी घने-घने परदे के नीचे किसी मरण सौदागर ने सिर नवाकर अपना लिया था जीवन की कारीगरी को। अन्त में स्वयं रो-धोकर, अनुताप कर पाया था पुनर्जन्म। चण्डाशोक अस्त होकर उदय हुए थे—धर्माशोक।

"कौन जाने, हो सकता है, इस माटी में कहीं वह पोखरी दबी पड़ी है, नदी हो गयी है, धान के खेत और बालूचर, किसे पता यहीं हो।" धोबेई मिश्र कहे जा रहे थे, "तब सम्भव हो सका था, वो ढाई हज़ार बरस पहले, अब आज भी सम्भव होगा। वही आकाश है, वही सूरज है, वही पृथ्वी है, फिर होगा वही, अवश्य स्वार्थ हिंसा और युद्ध की आग चिरकाल के लिए बुझ जायेगी इस पृथ्वी से।"

बिशि पाण ने कहा, "यह माटी की मुट्ठी, पता नहीं कितनी पुरानी है ! कितने ज़माने की है !"

धोबेई मिश्र ने कहा, "ठीक बात है।"

बिशि ने कहा, "यह किसी की नहीं ! सबको पोसती-पालती है, पर किसी एक की नहीं। कहते भी तो हैं कि 'बेकोलि साहू दण्डा, जे कहिबो मोर बोलि ता बउश लण्डा' (बेकुली साहू का रास्ता, जो कहे 'मेरा' उसका वंश डूबा।) ऐसे ही पड़ा होगा, लोग आकर नाच-कूदकर चले जायेंगे !"

बई ने कहा, "तो क्या लोभ को छोड़ देंगे ? अपनी देह का ज़रा-सा मैल माँगने पर तो देते नहीं।"

साधु जेना सिर नीचा किये पान लगाने में लीन था। केवल अपने लिए ही नहीं, एक साथ दस-बारह पान। सबके हाथों में एक-एक पान बढ़ाकर अन्त में एक खुद भी खाया। बिशि ने कहा, "तेरी पान की डिबिया खाली हुई।"

साधु ने कहा, "फिर आयेगा, अभी सबका मुँह लाल तो हो पहले।"

बई ने कहा, "अच्छा जायकेदार पान लगानेवाला हाथ है तुम्हारा तो साधु भाई, पर देखो गुण्डी (तम्बाखू) कुछ कम रह गयी, थोडी-सी बढाना।"

बटुवा खोलकर थोडी-सी गुण्डी बढाकर साधु जेना ने कहा, "देखो भई, जरा सम्भलकर, बहुत कडी है।"

चर्चा मे भाग लेते हुए साधु जेना ने कहा, "कितने हजार-हजार, लाख-लाख ठाकुरजी के मन्दिर और देवल इन माटी तले दबे है, किसने हिसाब लगाया? यह सारा देश ही वैसा है। माटी खा-खाकर प्रतिमाएँ पडी है, किसी पहाड पर, किसी खेत में, किसी रास्ते पर। चिकना काला पत्थर, सचमुच जैसे मक्खन लिपा हुआ हो। चेहरे पर, आँखों मे कैसा भाव है! पत्थर को पालिश कर ऊँचे-नीचे कर कैसी कला भरी है किसी कारीगर ने, कि इतने युग बीत गये, उसके चेहरे से हँसी धुली नही। एक-एक पत्थर पर इतना बारीक सूई का काम, इतनी कलाकारी से भरा काम—लता, पत्र, आँख, बाल, नख-दाँत। कोई पत्थर उजाड मे पडा है तो कोई किसी के गुहाल मे बिछा है, फर्श बन गया, किसी का चबूतरा बन गया। सचमुच जैसे वह भटक रहा है। पर वह क्यों गढा गया था? कितना समय, कितना पैसा खर्च हुआ होगा उसे गढने में? छोड़ो, उसका जुग गया। मेरे बचपन मे मैंने गाँव मे देखा है पत्थर की औरत का धड पडा है, गरदन नही और कमर से नीचे का नही, बस आब्रू की तरह उठे दो थन, उनपर बारीक-बारीक कितना खुदाई का काम हुआ था। हाथ से छूने पर कितनी चिकनी, पर वो तो हुई विभग पत्थर की मूर्ति, देवी या मानवी जानने की क्या जरूरत। पर बचपन मे देखा, रास्ते पर पडी थी। लोग उनके थन पर घिस-घिसकर कटारी पजाते!"

"थन पर कटार, अच्छा योगायोग मिला।" बिशि पाण ने कहा।

"अरे भाई, वही तो मै सोच रहा था। सोच क्या रहा था जानते हो, सचमुच का यह आदमी होता। आदमी के धड की तरह दिखता है कभी-कभी, सचमुच अगर आदमी होता तो इसके थन पर भी ये लोग कटारी पजाते!"

सब हो-हो कर हँस पड़े।

"सोचता था, आदमी न सही पत्थर हुआ, देखने पर तो आदमी की ही याद आती है, *जिन थनों के प्रति आदमी मे जनम से बडे होने तक इतना चाव है उनपर* कटार पजाये बिना क्या कटार में धार नही होगी। कभी-कभी देखकर मै सोचता, और सिहर उठता था। मुझे लगता था, ऐसे ही, आदमी के मरने पर जब उसकी लाश को खीच-खीचकर गिद्ध-सियार-कुत्ते नोचते होगे तो क्या वह जानता होगा। आब्रू बने कटार घिसे वे थन जब याद आ जाते तो मै कहता, आदमी का जीवन ऐसा ही होता है, ससार ऐसा ही है, घर-गिरस्ती यही है, ओह!"

बई ने कहा, "नही, कटार कही और घिस-घिसकर पजाते; साधु भाई, तो

मन ऐसा न होता, वस वे दोनों थन है न, इसीलिए कसक होती है। माँ से दूध पीया था ना, देह कैसे सहे ?"

साधु जेना ने कहा, "तुम सब हँसी में उड़ा देते हो, बताओ तो देखें, उस मूर्ति के क्या कभी दिन न थे, उसे देखने क्या कभी लोग जमा नही होते थे ? अगर वह देवी होगी तो कितनी बलियाँ चढी होंगी, कितने लोगों ने सिर नवाया होगा, कितनों ने मनौतियाँ मानी होगी। पूजा-ओझा पर्व-त्यौहार कितना कुछ होता रहा होगा ! सब गया, उसका योग पड़ा कटार घिसने का !"

वई ने कहा, "फिर, उसपर, और कही नही, छाती पर—"

साधु जेना ने कहा, "कहा भी तो करते हैं कि आलू खोदते-खोदते महादेव निकले। बात सही है, ऐसा भी हुआ करता है। खोदने की क्या जरूरत, झूठे ही यो भी तो कितने महादेव हैं। वन-निर्जन मे बिखरे पड़े है जगह-जगह, बीच में टूटे मन्दिर, या कोई ठीक-ठाक हालत मे, जहाँ कभी-कभार पूजा हुई तो हुई, नही तो नही। बड़े-बड़े लिंग, कुण्ड नही पायेगा, वह शक्ति को साक्षात् ढलाई की तरह, सिर्फ जन्तु-जानवरो की जगह, आदमी के पाँव कभी पड़ते नही। बताओ तो देखें, देवता गढने के लिए कितने कारीगर लगे होंगे, फिर मन्दिर खड़ा करने में कितना धन खरच हुआ होगा ! ठाकुरजी की प्रतिष्ठा पर कितना महोत्सव मनाया गया होगा। कितना पूजा-ओझा, कितना कुछ हुआ होगा ! कितने युगों तक लोगों ने उन्ही देवो का नाम लेकर नियम-शपथें ली होंगी, कि इस जन्म में सुख-शान्ति-बड़प्पन मिले, अगले जन्म में स्वर्ग मिले। गया किधर वो जमाना ? इतना सारा धन-रत्न खरचकर जो इन्हे गढ़ गये कही पुरुष-भर ऊँचाई के वंशीधारी कृष्ण, या चतुर्भुज माधव, या दुर्गा या शिवलिंग या बुद्ध या हनुमान या कुछ और—वो पत्थर की कारीगरी जिसे आज का मानव कर ही नही पाता—कही बेंत लिपटी काँटे-झाड़ी के बीच तो कही नदी के कगार पर—तो कहीं खेत के तले फेंककर वे सारे लोग कहाँ चले गये ! वे मन्दिर—वह पूजा—सब कहाँ गया !"

बिशि पाण ने कहा, "बताऊँ, एक बार क्या हुआ। लोग कहते, वहाँ तिमुहानी थी, अब तो केवल एक नदी है, और भी कोई धार थी सो मिट गयी, बस बालू की ढूह है, उस पर केवड़े का वन। केवड़े के झुरमुट के पास बाम्बी की तरह माटी का ढेर था। जैसे कोई बड़ा पुराना केवड़े का पिण्ड हो। एक बार अच्छी तरह कसकर बरसा हुई, उस केवड़े के नीचे से पत्थर का मुँह निकला। चारो तरफ हल्ला हो गया। लोगों ने आ-आकर ठीक से माटी हटा दी। निकले एक चतुर्भुज ब्रह्मा, एक कन्धे पर चारों दिशाओं को मुँह किये चार सिर, कमर तक ऊँचे, ध्यान मे बैठे है, नीचे पद्म का आसन। सचमुच जैसे मन्त्र बोलते-बोलते ब्रह्मा पत्थर हो गये हैं। हमें बुला ले गये थे ढोल बजाने। कितना ढोल सुना होगा उन देवताओं ने। उनका ध्यान बिलकुल नही टूटा, एक जगह पुरुष-भर गहराई तक एक पत्थर की चट्टान

थी। कहते हैं, वह महादेव के देवल के वेडे के अन्दर का भाग था, बीच मे महादेव भी होंगे, उन्ही के नाम पर उस गाँव का नाम रामेश्वर है। तिमुहानों के ठाकुर-जी। उस जमाने में पुकारने पर 'ओं' कर उत्तर देते थे और अब वालू के अन्दर समाये है।"

धोवेई मिश्र ने सिर को एक ओर ढुलकाया, आँखें सँकरी की, मानो वे शून्य मे दिव्य दृष्टि लगाये दूर देख रहे हो। उनका गोरा गोल चेहरा, घने सिर के वाल और दाढी मिलकर लगता था जैसे सपने में हों, फूल खिलने की तरह थमे हुए मानो वह भी केवल माया है, आदमी का चेहरा नही, देखते-ही-देखते वुझ जायेगा।

गहरी साँस छोड़कर कहा, "धूल से भी घना होकर समय अपनी परत-पर-परत डालता जा रहा है, सव कुछ को पोते जा रहा है। खोजने पर नाम तक मिलेगी नही, रूप फिर कहाँ से मिलेगा ?

समुद्र-वालू मे सीपियाँ दवी पडी है, कौन खोजता है ? कौन पायेगा ? कौन वतायेगा वो हिसाव कि यह किसकी कौन-सी है ?

चिलिका में चिडियाँ देखी है? 'नलवन' के टीले पर ? पानी और आकाश सारा मानो चिड़ियाँ हो जाता है। नीचे से ऊपर तक परत-की-परत, दूर-पास, सव जगह। किसे कोई क्या पहचानेगा ? कौन-सी कहाँ है ?

आकाश मे किसने पंख फड़फडाये, कौन चिडिया किधर से कव आयी, किधर वह चली गयी। फिर आकाश धुल-पुँछ गया है, नयी चिडियों के लिए। कौन-सी खो जाती है निमिष-भर के अन्दर। किसी के नाम के लुप्त होने मे कुछ हजार वरस लगते है। राम, कृष्ण, वुद्ध, ईसा, मुहम्मद, चैतन्य को हम अवतक नही भुला सके है, महात्मा गाधी की पूजा करना शुरू किया है हमने उनके तिरोधान के कुछ ही वरस के वाद। परन्तु युग-युग मे भगवान् ने दुष्कृतो का ध्वस कर धर्म-स्थापना के लिए इतने अवतार धारण किये, फिर सारी दुनिया मे अगणित लोगो के हृदयो मे सद्विचार भरे, कण्ठों पर सरस्वती विठायी, कहाँ गये वे सारे अवतार या वे सारे महापुरुष ? उनके नाम भी किसी ने याद नही रखे !

परन्तु नाम चाहे याद न रहे हों, सत्य को तो भुलाया नही जा सकता। युग-युग मे महापुरुषो ने सत्य को प्रकटित किया है। वे सत्य कैसे किधर मे आये ? क्या किसी की मनगढ़न्त वात है ? सो नही। युग-पर-युग वीत गये, दल-के-दल लोग जीवन विता गये ! कितनी ज्वाला, कितना ताप, कितना संहार, कितनी दुर्दशा के वीच दिन विताकर वे लोग जो प्रमाणित कर गये, उनकी अनभिज्ञता, उनकी अनुभूति से जो निकला, सारे देशो का, फिर सर्वकालिक उसी पर विचार कर, उसे मानकर महापुरुषो ने सत्य का अनुसन्धान किया और उस सत्य को दुनिया को दे गये। देवता भुला दिये गये होंगे, महापुरुष भुला दिये गये होंगे, पर वह सत्य

भुलाया नही जा सकेगा। आदमी उस सत्य का पालन न कर सकने पर भी स्वीकार तो करेगा कि यह सत्य है, अपने जीवन को उन्नत करने के लिए आँखो के आगे रख-मानकर चलने के लिए उन सत्यों की आवश्यकता है। इतना तो वह मानता होगा, स्वीकार करता होगा। सब एक परमेश्वर की सन्तान हैं—यह उसी तरह का एक सत्य है। सारे घटो मे परमात्मा है, कोई छोटा नही—ये भी उसी प्रकार का एक और सत्य है। दुख या सुख की चेतना देनेवाला यन्त्र यह मन है, मन को ठिकाने पर रखे बिना शान्ति नही। यह भी उसी तरह है। दूसरों को रुलाने पर, वह चाहे जितना बड़ा आदमी हो या राज्य हो, एक दिन स्वय गिर पड़ेगा—यह भी एक सत्य है। सारे अनर्थो का मूल स्वार्थपरता है, सारी अशान्ति की जड हिंसा है, सारे पापों की जड़ झूठ है। ये सब भी उसी प्रकार के एक-एक सत्य है। सारे आदमी भाई-भाई हैं, इस ससार मे सबका अधिकार है, यह भी एक सत्य है।"

सब चुप थे। साधु जेना ने कहा, "मैं भी एक सत्य के बारे में कहूँगा। खेत मे दिये जानेवाले जितने खाद है, उनमें सबसे अधिक गुणकारी खाद कौन-सी है?"

किसी ने कुछ, किसी ने कुछ कहा। साधु जेना ने कहा, "बात जमी नहीं। जिसका बल सबसे अधिक है उस खाद का नाम है आदमी का पसीना।"

सबने हँसते-हँसते कुदाल-गैंती उठायी और काम पर उतर पड़े।

सुबह छवि ने आँख खोली। पानी मूसलाधार बरस रहा है, निरन्तर झड़ी लगी हुई थी, मानो ऐसे ही था सदा से, जब से यह पृथ्वी बनी, इस सृष्टि के साथ-साथ वह ख़ुद भी पैदा हुई है, वह और छवि, तभी से।

परन्तु अलगनी से अँगोछा खींचकर बदलते समय बादलों की भाप से भीगी घटवासी वह मैली धोती देह को सुहाती ही नहीं। वह मानो अपने भीतर की ऊष्मा जैसे स्वयं अनुभव कर रही है। लगता है बाहर मेघ है, परन्तु अन्दर है तेज कल्पना और सपनों के अन्दर का तेज। देह की ऊष्मा सब उसी एक केन्द्र से निकल रही है, कहीं अपने अन्दर किसी गहन में उसका घर है। बरसा की तरह वह भी जल रही है निरन्तर, रक्त के कणों मे, भावना के छोटे-छोटे बिन्दुओं में, दृष्टि के निक्षेप में, चलते-फिरते, उसी जीवन की ऊष्मा।

शीत बरसा मे मानो दुगुनी होकर निकलती।

टूटे घरों मे, टीले और ढूहों पर, फूटे झोंपड़ों की खुली बाड़ी पर मूसलाधार गिर रही है बरसा। बस चारों ओर पसरा पड़ा है। परन्तु कभी इतने घर-द्वार थे, सो उसे याद नही पड़ते, मानो उन आँखों को कभी ख़ाली दिखा ही न हो। सहज बनकर वह परिस्थिति उसकी चेतना में मिल गयी है—जैसे यह घर, जैसे पिता,

जैसे माँ।

वहाँ वरसा ढेर हो पड़ रही है, देखते-देखते मन के अनजाने ही मन मे कौंधा जाता है सर्जन का मोह, आवेग, अलस लास्य भी, वही जिसके तले छुपी है उसके मन के गहरे नीचे कोई प्रतीक्षा। अन्यमनस्क हो जाती है छवि। मुँह तनिक मुसकराहट मे अधखुला-सा दिख रहा है। आँखें वाहर की ओर होते हुए भी दृष्टि अन्दर की ओर टेढी चली गयी है।

वाह! कितना सुन्दर! कितना सुन्दर! इस तरह कि मन के अन्दर पुकार मची है। वरसा की पैनी धार के सिरे से हुलसती देह को तीक्ष्ण स्पर्श से फोड-फोड-कर दागने की तरह। एक वार नही, अनेक वार। इस अनुभूति ने कितनी वार उसकी देह को वेधकर छापा मारा था—याद नही। हो सकता है, एक नही कई वार। उसी को याद करते समय मन मे जाग उठा है विपुल शक्ति का वेग। वह गढ़ता है, रौंदता जाता है, पराजय मानता नही। वह भी किसी घरौंदे के खेल के समय किस धुन मे खोज पाया था, जव सोचा था, मेरा चेहरा उतर जायेगा तो जगत् मुरझा जायेगा, मेरे हँसने सवके चेहरे खिल उठेंगे, वाडी मे, घास मे फूल खिलेंगे।

इसी वरसा के ऊहापोह के वीच सचमुच जैसे अपने अन्दर नये प्रकार से सज-धजकर नया रूप प्रकाश पाता है। कान लगे है दूर की आवाज़ पकडने को, उसी आनेवाली पगध्वनि के लिए। आये चाहे न आये, उसे परवाह नही, वह मात्र आग्रही है—उस पगध्वनि के सगीत को सुनने के लिए।

महुजन के पेड के पास उधर से अचानक निकले गुरु और गुरु की माँ। मैले कपड़े पहने, झुके-झुके आ रहे है। गुरु की माँ की पीठ पर वड़ी-सी फटी धोती।

"काकी, किधर चली? नदी की ओर नही चलना?"

"चल-चल! वरसा से क्या डरना? ये तो दिन-भर लगी ही रहेगी।"

"हाँ—कौन-सी कोस-दो कोस है, छाजे तले तो पानी, पैरों तले तो गंगा पधारी हैं, और क्या?" छवि की माँ ने हँसते-हँसते कहा।

"छवि जीजी," गुरु बुलाता है।

"तू किधर निकला, नन्हा-सा तो छोकरा, आ, चल आ ऊपर।

"इसे छोड़ देने पर ये घर-द्वार की चीज़ें सलामत रहेंगी।"

"अच्छा, अच्छा, चल, मैं जा रही हूँ—"

अवकी वरसा में देह सिहर उठी। आवेग नही, उच्छ्वास नही, स्वर्ग की धारा नही, वस केवल वरसा। "भाई रे, कितने दिन लगी रहेगी, पता नही? आदमी तो परेशान हो जायेगा।" छवि की माँ ने कहा, "उसकी वात क्या कहती हो? अरी, आज तो घर मे जलावन भी कुछ नही। तुमसे एक टोकरी कण्डे लिये विना नही चलेगा। छान के सिरे पर से टूट गयी थी, उसे जलाते-जलाते सारी

ख़त्म हो गयी, काठ को काट-खोलकर सुखाया था जो, पर वह भीगा-गीला है। और क्या हो ?"

पच-पच चिप-चिप बरसा का मौसम। छवि को लगा, घुल-मिलकर चारों ओर जैसे एक गँदला नाला। फिर सेहुडा के पेड से एक दातून तोडना, फिर केवड़े की बनी के उधर बैठ जाना, फिर हरि साहू की दुकानवाला ढलान पार कर रास्ता छोड तटबन्ध के नीचे की ओर जाकर वहाँ डुबकी लगाना, और तब थरथराते आधे दौडते हुए घर की ओर मुँह किये लौटना---रोज की तरह आज भी वैसा ही।

वे चल पडीं।

"हे महाप्रभू !" छवि ने कहा, "नदी कहाँ थी, और अब आकर कहाँ तटबन्ध के सहारे आ पहुँची !"

"अरी हाँ, हाँ !" गुरु की माँ ने कहा, "भाई, रे, ऐसे बढती रही तो गाँव-गली सब ग्रस जायेगी !"

"चलो, जल्दी काम ख़तम कर लो," छवि की माँ ने चेहरा तमतमाकर कहा, मानो कोई विपद् आसन्न हो, जल्दी काम किये से ही उससे रक्षा मिलेगी।

"वो देख, कितना बडा पेड बहता जा रहा है," छवि ने हाथ से दिखाया।

"अच्छा, अच्छा, चिडिया की तरह बाद में चीं-चपड करना, नादान लड़की ! आ, नहला दूँ।" उसकी माँ ने धमकाया।

"वह देख, नाव ! एक, दो, तीन---"

"हाँ, नाव !" छवि ने अध-नहाये ही देखा। गम्भीर होकर बहती चली आ रही है, कितनी दूर। पतवार खे रहे हैं।

"क्यों री, बदन पोंछा नहीं, क्या खडी-खड़ी नाव देख रही है। नया पानी है, देह पर असर करेगा। जल्दी कर।" माँ ज़ोर से कह रही है।

पैर में कुछ फँस गया है। छवि एक बार गले तक बैठ गयी। डर लग रहा था। डर बढ गया, वैसे ही गीली-भीगी सर-सर कर किनारे की ओर दौड गयी। पीछे देखा। ये माटी-गोबर में घुला पानी, उसमें झाग तैर रहे हैं। कितने तरह की लकडियाँ। सूखे फल बहे जा रहे हैं। शायद मगर छुपा हो। कहते-कहते उसे लगा, दूर कुछ तैरता दिख रहा है। लकीर की तरह सीधे, तीन।

"अरी, देख तो माँ, घडियाल या आदमखोर मगर---क्या है ?"

"कहाँ ? कहाँ ?" सब हड़बड़ाकर पूछ रही थीं।

"वो उधर---वहाँ---"

"मगर ही होगा।"

"अब कभी नहीं माँ, वरन् कुएँ पर पानी निकालकर···"

ऊपर आने तक लग रहा है जैसे नदी उठा रही है। छवि ने मगर की ओर

देखा, नदी-ही-नदी मे बहता जा रहा है। वह क्या जानता होगा हमारी बात ! छवि मन में सोच रही थी। फिर घर लौटते समय मन मे टटोल रही थी और कई बातें। ये गुरु की माँ, सारी बात कहेगी पर अपना दुख कभी जीभ पर नही लायेगी, अन्तर से कितनी कपटी है। वह सोचती होगी सत्यवान की बात ! दो महीने हुए, आये नहीं या रुपये भेजे नही। घर पर कितना कुछ अभाव है ! और शिखरा की माँ, मरते-मरते बची है बुढ़िया, भूख से छटपटाती है। इस झड-बरसा मे कौन जाता होगा या कौन कुछ देता होगा ? सप्नी की मा को कही बुख़ार हुआ था। रघुवा की माँ पाँच दिन नीचे आयी थी, चेहरे पर सफ़ेदी छा गयी थी, कहा था, "मै तो भूख सह भी लेती, पर रघुवा के लिए तो दो मुट्ठी चिवड़ा—" उसने कटोरा-भर उझल दिये थे, पाँच दिन हो गये और अब ? वैसी ही हालत बाउरी बस्ती मे, कितने दुखी-रकों के घर में। झड़ी के दिनों मे, वस-वस। और याद आया कि आरत अमीन के टोले मे कतार-की-क़तार धान के कोठे, भण्डार-घर मे टोकरी-टोकरी-भर महीन चिवडा। वैसे ही नीलूदास के घर पर भी, और भी कई जगह। और उसके साथ गाँव की जितनी बहू-बेटियाँ घूमती—केला की स्त्री, शशी की भौजी, वली, मल्ली, चाँद और जो लोग कभी उसके पास भी नही फटकती थी। घूमना तो पड़ेगा। कोई कह रहा था कि धनुवा केवट की रसोई की भीत धड़ाम् से गिर पड़ी, बस जरा-सा और होता तो···। फिर हुदू सेठी धोबी के नये घर के कमरे की भी। कितनी भीतें ढही होंगी, कितने घरो में चूल्हों मे पानी भर गया होगा। और वह सोच रही है अपने घर की बात।

"वे क्या कहते !" उसके मन ने स्वय कहा। फिर कानों के सिरे तप गये। ऊपरी मन से मानो कहकर उड़ाने की चेष्टा की—किसका कौन है ?

और छवि की माँ किस क्षण मन की ओट से देख गयी थी, अपनी बेटी की नदी की बाढ़-जैसी देह को। वही जिसे स्वयं से अलग कर देखने को कभी आँखें मानती नही। मन मे एक हाहाकार भर गया था। हथेली जोड दिखावट में अन-जान की तरह यों ही माथे से लगाकर, लेकिन अन्तर मे खुद के पास वह स्वयं कहने लगी, "हे ठाकुरजी, हे परम ब्रह्म···।" ये शब्द उसके अपारगत मन मे फाँय-फाँय करते टकरा रहे थे, किसी दीवार के छेद से बरसाती पानी मिली भीगी हवा की तरह।

और उसी दिन खाना-पीना करते-न-करते जब सिन्धु चौधरी पालथी मारे भागवत खोल रहे है, छवि की माँ तैयार हो रही है—फिर एक बार उन्हे कोंचने के लिए कि छवि के ब्याह के बारे मे कही सोच-विचार करें। तभी थिर भाव से आकर छवि ने बताया कि वह गाँव मे जायेगी, कितने घरो मे कितने लोग भूखे-प्यासे बैठे है, बिना गये नही चलेगा।

"कौन तेरी प्रतीक्षा मे ही बैठा है कि तेरे तुरन्त गये बिना नही चलेगा, बेटी !

तुझे हो क्या रहा है !"

"नहीं, माँ, तुझे सौगन्ध है। अभी आयी, तनिक देख आती, वन शिखरा की माँ—"

"पगलामी करना पीछे, थिर होकर रह।"

"नहीं, नहीं—" वह मिन्नत कर रही है।

"क्या कहती है तू ? किधर जायेगी ?" सिन्धु चौधरी ने पूछा।

"कुछ नहीं, बस यों ही—" छवि हँसती है।

माँ ने बताया, "वो, वो, जो इन्होंने दल बनाया है, माई रे, दुनिया को उलट डालेगी, जी किया तो और—"

सिन्धु चौधरी स्नेह से हँस पड़े। कहा, "फिर स्कूल-घर में अघोरी-दुवारी का भोज कब कर रही हो ? अबकी वहाँ करना पड़ेगा, याद रखना।"

छवि ने कहा, "करेंगे, नहीं तो आपको बुलायेंगे।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "इतनी ही उम्र में इतना सहेलीपन, भोज, घूमना-फिरना—इस अधमरे गाँव को बस यही जिलाये है। किम जोंग में केला की पत्नी को भूत लगा, मैं तो देखता हूँ, उसी दिन से नयी हवा चल गयी है।"

छवि की माँ ने कहा, "बस वह भूत उतर आया है आपकी इस गुणवती बेटी पर—"

"छिः-छिः, तुम्हारी जबान से क्या निकल रहा है—?"

"नहीं तो वायु-लगी की तरह इस बरसा के मौसम में यह बाहर निकलने का नाम लेती ? कौन-सा गुड़ खाये जा रही है चींटियाँ जो इतनी उतावली मचाये है !"

छवि ने पूछा, "अपने घर में कुछ फटा-पुराना हो तो, दोगी माँ, कुछ ?"

"हाँ, लो, यह भी एक हुई ! उस दिन शिखरा की माँ के लिए ले गयी अच्छी-सी चादर, और फिर राज-भर में बाँटने की खातिर किसके घर से इतना उझला जा रहा है, अपने पास तो सब फटा-चीरा ही है।"

सिन्धु उसी तरह हँस रहे थे। छवि ने कहा, "नहीं, दे, दे, देखती नहीं, कितनी ठिठुरन है। किसी के तो काम आयेगी ही। मेरी साड़ी, दो जगह से फट चुकी है।"

"सिर में फिर कीड़े काटने लगे। अच्छा दे, तेरा मन जैसे करे। तेरी चीज है, तू दे दे, मुझसे फिर क्यों पूछती है ?"

"और एक भोगई (छोटी-सी बाँस की टोकरी) चिवड़ों की—"

"क्या पैदा करूँ ?"

"हाण्डी में रखे हैं, दे, दे—"

"सब तो दे देगी, फिर तेरे लिए—"

"दे-दे—"

सिन्धु चौधरी हँस रहे थे। उनकी आँखें चमक रही-सी दिख रही थीं।

गाँव के टाउटर अगणिराय कुछ सोचते हुए नदी के किनारे हरि साहू की दुकान की ओर चले जा रहे है। पिक्का ख़त्म हो चुका है।

सिर पर एक पुराना चिप्पी लगा छाता, कब खरीदा गया होगा, उसकी तारीख़ बता देंगे। तारीख, घटना और रुपये-पैसे उनको कण्ठस्थ है। नरसिंग अहीर का मुकदमा, विषय—आम का पेड, उसी से यह छाता।

नरसिंग मर चुका। आम का पेड मर चुका है। छाते को गये फागुन मे छब्बीस बरस पूरे हुए है, सत्ताईसवाँ चला। कपड़े की बदलाई पाँच बार हो चुकी है। उस-पर चार चौकोर पट्टी-पर-पट्टी, बगल मे फिर पट्टी।

घड़घड़ाकर बादल पुकार रहे हैं। थोडी-बहुत झिरमिर-झिरमिर बरसा हो रही है। देह पर पुराना कचहरिया कोट जरूर डाले है, पर नगे पैरो से ठण्ड देह मे घुस जाती है, और हवा से सीधी उस कोट के रास्ते, आँखो से दिखे नही ऐसे जरा-जरा से कीड़ो ने बारीक-बारीक छेद कर दिये है, ताकि खोल के अन्दर हवा का हालचाल मालूम होता रहे।

कोट की भी तारीख है, हिसाब है। वही आद्य टाउटरगिरी का समय। शहर में, कचहरी के रास्ते पर ऐसे कितने ही कोट लिये कोई पश्चिमी बेपारी आवाज लगा रहा था। किसी ने नाप देकर कभी करवाया होगा। क्या हुआ—उसे कुछ पता नहीं। कोट मिल गया। और वह फिर बना इस देह का खोल।

कुछ दिन तक तो देह उसमे कसमसाती रही थी, बाद मे अपना लिया था। फिर कोट ढीला हो कितना मुड़-तुड गया। फिर भी वह एक ही है, दो नही। अन-लौटे रथ की तरह उमर चली गयी है।

अच्छे-बुरे दिनो मे कभी-कभी सोचने को जी करता। ठाकुरजी के आगे सिर नवाते समय मन मे सचमुच एक प्रकार की भावना आती। नि:सहायता, एक अनजान भय, एक आकुल आश्रय। सब मिल-जुलकर धड़कती छाती में एक मुग्ध अभिव्यक्ति। आंख खोलने पर सब ग़ायब हो जाता। फिर बुद्धि फैलती, आँखे घूमती।

घड़घडाते मेघ पुकार रहे है। कुछ-कुछ रिमझिम बरसा हो रही है। चिकना काला आकाश झुक आया है। मसहरी के कपड़े का जाल फडकने की तरह हलकी बरसा की बौछार दूर-दूर भँवर खाती चली जाती है, फिर पास आ जाती है। दाहिनी ओर नदी उच्छरित हो रही है। पानी तटबन्ध तक उठ आया है। उसे देखने पर भी कितने साल, कितनी तारीखे याद आ जाती, कहाँ कितनी धाई टूटी थी, गाँव बहे थे।

फिर भी क़ानून के फैसले की तरह यह नदी भी है, नदी का तटबन्ध भी है, गाँव भी है।

और है वे—अगणिराय !

लग रहा है जैसे उनका मन उन्हें भीतर-ही-भीतर दोष दे रहा है। फिर ऊपरी मन को कड़ा कर उसे उडा देने की चेष्टा की। सोचा, पहले तो ऐसा नहीं होता था। जरूर यह उमर की दुर्बलता है, उमर बढ़ने पर, बल हटने पर आदमी बुद्धि का बल छोडकर विश्वास पर भरोसा कर वैकुण्ठ खोजता है !

फिर कैसी यह बेसुरी युक्ति याद आयी ? उन्हें स्वयं पर आश्चर्य हुआ। उन्होंने स्वय भी वैकुण्ठ खोजा है। दोनों समय आँख मूँद घर में बैठकर वे माला फेरते, ठाकुरजी से भोजन माँगते, वैकुण्ठ भी माँगते।

सोचते-सोचते उडद के चिल्ले याद आ गये। कल रात बने थे, अच्छे खटवांने चिल्ले, मिरच भी थी। एक से दो, दो से फिर तीन, माधिया की माँ ने जोर दे-देकर खिला दिये। तब से पेट गडबडा गया है। थपथपाकर देखा अब भी पेट में वायु भरी है। फिर मानो पूरे बल के साथ आत्मविश्वास लौट आया। वे खुश हो गये, क्योंकि फल का कारण पा गये हैं। पेट में वायु होने पर मन में इसी तरह की नरम पिलपिली पुच-पुची भावनाएँ आती हैं, कलेजा दबता-दबता-सा लगता है। सचमुच जैसे कोई अपराध किया हो—ऐसा लगता है। इस ससार में जीना होगा। 'पेट पोस (पालना), नहीं कोई दोष।' पेट पालने के लिए जिनका जो काम है, वह वैसा ही करेगा। उन्होंने भी किया है। अपना उपाय और बुद्धि खर्च की है।

सिर्फ पेट चलाने के लिए ही तो नहीं, बुद्धि लगा-लगाकर उनकी मानवता खिल रही है, चमक रही है। उन्हें आनन्द मिला है। सँपेरे की तरह इतने लोगों को खीचना,आदमियों को भेडा बना देना, फिर डायन बनकर लगना, और ओझा बन कर झाडना, गाँव-गली में चुपचाप झगडा लगाना, दल-के-दल लोगों को नचाना, उठाना, पटकना, लोगों के दाँत किटकिटाकर आँखें निकालकर मारा-पीटी करते समय खुद थिर हो बैठे-बैठे देखना, उपदेश देना, अमल करना। मुकदमा लगने पर निचले कोर्ट से लेकर ऊपरवाले कोर्ट तक उलट-पलट होने तक सिर्फ पेट भरना ही नहीं हुआ बल्कि इसमें भी मन को बडी मौज उन्हें मिली है। इसमें भी एक जिदा-जिगी की पुकार सुन व्यग्र हो उन्होंने अपनी बुद्धि और कौशल का प्रमाण दिया है। तब यह पेशा जीवन का खेल बना है।

दूर से मचमच-चपचप की आवाज आयी। देखा तो एक दल गाँव के लोग दौडे आ रहे हैं, कुदाल लिये हैं। कानों के सिरे झन्-झन् होने लगे। शायद यहाँ कोई काम मिल जाये। अगणिराय ने पूछा, "क्यो रे, क्यो, चन्दर, ऐसे भागे-भागे किधर ?" चाल को कुछ रोककर चन्द्रमणि पधान ने बताया, "जोगी बस्ती में पानी घुस गया है, खेत का पानी चढ आया है, हाय-तौबा मची है।"

"मारे गये, उसमें फिर तुम्हारा पेट क्यों दुखा ? जोगी बस्ती की ख़बर जोगी

बस्तीवाले समझेंगे, क्यों, परले साल याद है, उन्होंने तो केवटों की तरफ़ चन्दा दिया, तुम्हें तो दिया नहीं। फिर तुम क्यों भागे जा रहे हो ?"

"अच्छा-अच्छा, चलो-चलो, क्या मिलेगा इनकी बातों से ?"

दल चला गया। अगणिराय ने चेहरा बिदका लिया। सोचा, यह भी एक हवा चली है। लोग सब अकृतज्ञ। निपट उल्लू हैं। बाप-दादों का इतिहास भी भूल गये। किसके-किसके बाप के ज़माने में किसे किस प्रकार हैरान किया था, कब किसने किसका कैसा अपकार किया था—सब भूनकर खा गये याददाश्त में से। बस, सारा गाँव जुटा है भाईचारा जोड़ने-लगाने, छछून्दर के सिर में चमेली का तेल ! करो बेटो नया गुट, नया सामलात। केवल यह रहा तब ही जानो !

हूँ, औरतें भी बहुत जुट पड़ी हैं !

आये बड़े करनेवाले ! आदमी का मन बदल देंगे ! दो टाँगवालों को चार टाँग का कर देंगे ? व्यर्थ ही अपना धन्धा-फन्दा छोड़कर दूसरों के पीछे कूदते फिरना है ! समय बरबाद करना है।

अगणिराय के चेहरे पर एक विकृत हँसी खिल गयी।

मज़ा पायेंगे, पायेंगे—तब जाकर फिर अक्कल ठिकाने होगी।

अगणिराय ने इसी तरह सोच, बात को आयी-गयी कर दी। फिर स्वयं देखा, अपनी बुद्धि-विचार लगाकर। मन में चली ,एक और बैलगाड़ी की तरह घड़-घड़ घड-घड।

···है ऐसा कोई जो कहेगा कि उसमें कभी ऐसा चाव पैदा हुआ ? कभी नहीं। चिकनी-चुपड़ी बातें सुन चिकना चेहरा-मोहरा देख वे कभी भुलावे में नहीं पड़े। माधिया का कभी भूलकर भी लाड़-चाव नहीं किया। अब भी 'माधिया—' की एक आवाज़ लगायी कि वह जहाँ भी हो, एड़ी से चोटी तक एकदम थर्रा उठेगा थर-थर।

रूखा-सूखा खाना, सीधे-सादे चलना, बस काम-से-काम। रस नहीं रहेगा। गीता में यही बात तो कही गयी है। किसी के प्रति आकर्षण नहीं, उपरोध नहीं। कोई कुछ कर देगा ऐसी आशा रखना नहीं। जो करना, सब अपने हाथों। अतः जो कर्तव्य हो, सो करते जाना चाहिए।

कर्तव्य का निर्णय कौन करेगा ? अपनी बुद्धि, शौक—चाव नहीं।

पहला कर्तव्य—अपने चलने-जीने के लिए, भविष्य में बुढ़ापे में अपने बचाव के लिए, पैसे कमाकर जुटाना। रास्ता बतायेगी बुद्धि। समय पड़ेगा तो छोड़ेगी नहीं, समय गया तो फिर मिलेगी नहीं।

सोचते-सोचते चलते-चलते अचानक आँखों के सामने करार से ढेर सारा धड़ाम से टूटकर पानी में गिरा। अगणिराय ने देखा, मन के पुराने विचारों का रंग उड़ने से पहले ही लगा जैसे नदी उन्हें ही उद्धत, निष्ठुर भंगिमा से देख रही

है। मानो उनकी हड्डियों तक मे सिहरन भर गयी है। आ रहा है एक हताशा का भाव; सारे विचार ढहकर विलीन हो रहे है। अगणिराय के पैरो की चाल धीमी पड़ गयी है, सिर मोड़कर नदी की ओर देखते-देखते वे तटबन्ध पर सँभल-सँभल-कर कदम बढ़ाने लगे।

नीला-सा, धुआँ-सा, धूसर—घुल-मिलकर एक प्रकार का निष्प्रभ रग का वातावरण; थोड़ा ऊपर घने मेघो पर दृष्टि अटक रही है। चेहरे के आगे हल्की बौछारो की लगी-सटी, भाग-दौड़, मार-काट लगी हुई है, उसी के अन्दर धुँधलका-सा दिख जाता है, उधर विराट्-विराट् रूई के फाहों की तरह मेघ वाष्प-शून्य होकर बहते-बहते परत-परत एक साथ क्षितिज पैदा कर रहे है, कभी क्षितिज अत्यन्त पास होकर नदी के बीच और कभी पीछे हट जाता है, उसी मे थोड़ा-थोडा अँधियारा होकर पेड, घर, कगार मिल जाते है। फिर वहाँ से इस थोड़े-से परिसर मे कूदता-फुदकता बहा जा रहा है गँदले पानी का स्रोत। कहाँ से आता है, कहाँ चला जाता है—कोई हिसाव नही, कोई गिनती नही। मानो ऐसा ही लगा था सदा—चला आ रहा है, चला जाता है। केवल अस्पष्ट छाया—न रखना, न सहेजना, न पकड़ना, न रोकना, केवल चला जाता है—चला जा रहा है। एक साथ कई-कई लहरें, ढेर-का-ढेर पानी, तिरछी दृष्टि से देखता हुआ विलीन होता चला जाता है। बीच-बीच मे कल-कल ध्वनि, अस्पष्ट भाषा, जिसमे चले जाने का ही भाव-सगीत है, चलते जाने के नशे मे पागल ससार-भर का विशाल जुलूस, किनारे की ओर गरदन मोड़कर उद्धत कटाक्षपात किया और फिर शान्त। याद आ जाता है बचपन से अब तक का, चटशाल, खडी, पाटी, गाँव का गोठ, टाउटरी वृत्ति। कितने चेहरे, कितनी घर-गिरस्ती, कितनी आशा, इच्छा, प्रतिज्ञा, स्नेह, वैराग्य के भाँति-भाति के रगों मे चित्रित हुए है, दादे-दादी से लेकर रूखे-सूखे मुवक्किलों तक—सब घुल-मिलकर बहते आ रहे है, गँदले पानी मे—लहरों पर झूलते-झूलते। कितने खड़े घर ढह रहे है—नीव, भीत, छान, पास मे नारियल अनगिनत। फिर टूट जाना है, मिल जाता है, बुझ जाता है, कितनी बार कौवा काँव-काँव करता है, कौवा उड जाता है, ख़ाली आकाश तले सपाट मैदान मे घास उगती है। और चलता जा रहा है कगार के सहारे-सहारे नदी का बहाव। सब चला जा रहा है। कगार के सहारे-सहारे कभी-कभी काठ के लक्कड़ की फाँक से लाल आग भभक उठती है, झकोरों से फैलती है, उनपर घनी काली धुँधली हिलती छाती, उसी आग मे स्नान कर खिल उठता है एक अगारे का दृश्य, साफ़-साफ़ दिख रहा है, एक-एक परिचित चेहरा कितना अनजान बन गया है, पिता, माँ··· मित्र···शत्रु···जिनके साथ सम्पर्क ही न था, वैसे कई···बूढ़े···बच्चे···कितने ही। सिर्फ़···इस जीवन से नही कितने जीवन से देखते आये है इसी प्रकार।

इसी तरह इस टेढ़ी नज़र से देख कही अदृश्य हो जाता है यह जुलूस।

थरथराते लड़खड़ाते क़दमों को थामकर खड़े हुए अगणिराय। स्वयं को कोसकर तनिक तैयार-सा कर जमुहाई भरी।

सोचने लगे, फिर वही उडद के चिल्ले की बात। पेट के अन्दर घुटर-पुटर, वायु हिल-डुल रही है। दिमाग मे उसी का भाप।

वरसा। काम-धन्धा वन्द। तभी पॉच वाते इधर-उधर की याद आ रही है। जागते-जागते अनगिनत दु स्वप्न।

फिर एक दल एक दूसरे का पीछा करते-से।

एक-दूसरे की बॉह-मे-बॉह डाले मिले-जुले चार-पॉच जन थे।

"किधर चले रे वावा ?"

वाउरी वस्ती के पास खाई वन गयी है। तटवन्ध पर माटी डाले विना क्या होगा पता नही ?

कोई अपनी प्रशसा सुनने को रुक नही रहा, वे भी चल दिये।

वायी ओर बॉस के वन के सहारे थोडा-सा चौड़ा नाला है। याद आया एक नृशस हत्याकाण्ड। ऐसी है वह जगह। दाम नायक, तटवन्ध का काम ले कण्ट्राक्टरी कर लखपति वन गया था। सौ-सौ क्या, हजार-हजार कुली, एक साथ तीन ट्रक, एक जीप, एक कार। मकान खडा कर लिया। फिर इलाके-भर मे जैसे सॉड वन गया। नदी का सारा कछार नीलाम ले लिया। एक सौ पचपन लोग थोडा-थोडा नीलाम पर लेकर गुजर करते थे। फिर उपजा कलह। पॉच वरस तक कई मुकदमे चले। दाम नायक की तरफ रह कितने ही मुकदमों मे नाटक के सूत्र-धार-से बनकर पॉच वरस अपना पेट भरा। एक-दो वार तो दोनो दलों ने नगाड़े वजाकर, दो दलों में वँटकर बुला-पुकारकर, ईंट-पत्थर फेंक-फेंककर खुल्लमखुल्ला लडाई की। वाद मे चली लाठियाँ। वडा मुकदमा। फिर एक दिन रास्ते मे अवसर देखकर मुँह-अँधेरे एक जगह पर दाम नायक को जा दवोचा। सिर को कूटकर, पानी तले कीचड़ में लाश दवा दी। पुलिस आयी, चली धर-पकड, मुकदमा हुआ। सव खलास हुए। दाम नायक समाप्त हो गया। उमर तीस भी पूरी न हुई थी।

जा, जो गया सो गया!

आगे हरि साहू की दुकान है। छाता ताने गदेई लेंका निकलकर आ रहे है। टाउटरगिरी में अगणिराय के प्रतिद्वन्द्वी। मोटे-तगड़े, तनिक ठिगने कद के गोल आदमी। अगणिराय का चेहरा विचक गया। मुँह फेरकर छाते को तनिक नीचे झुकाया। चेहरा ढँककर वढने लगे तो हँसते हुए गदेई लेंका ने कहा, "कौन, राय वावू है? किधर? शायद पिक्के खतम हो गये लगते है, वरना रायवावू भला निकलते···, महाहिसावी आदमी।"

एक वीडी उनकी ओर बढ़ाकर लेंका ने कहा, "इसमें से एक ही जाये—।" छाता तले दियासलाई जला हथेलियों के बीच से एक साथ सुलगा उनके मुँह के

पास बीड़ी बढ़ा दी। हँसकर कहा, "और कहिए, आगे क्या विचार है? गाँव के हाल-चाल तो सब दिख ही रहे हैं?"

गदेई लैंका ने उन्हें ले जाकर दुकान के पास बरामदे में गोदाम के आगे खड़ा किया। हँसकर पूछा, "यह हवा बड़ी विचित्र है। जो कुछ भी करे चाहे, घुल-मिलकर एक हो जाओ, बस यही सुनेंगे लोगों के विचार।"

अगणिराय ने कहा, "कितने सच, कितने विचार तो देखे, अब और क्या बाकी है?"

गदेई लैंका ने कहा, "नहीं, रे बाबू, ये हँसी में उड़ानेवाली बात नहीं। कलह-झगड़ा न होगा, मुकदमाबाज़ी नहीं होगी, तो फिर होगा क्या? तुम्हारा पेट चलेगा कैसे?"

अगणिराय ने कहा, "अकेले हमारा ही या किसी और का भी? शहर-भर में इतने हाकिम, वकील-बैरिस्टर, मुख़्तार, पेशकार, हज़ारों-हज़ार हैं। इस दुनिया का कलह-झगड़ा मिट जायेगा। सब बाबाजी होंगे, तो अपने भी बन जायेंगे। समय तो है, अभी नदी देखते-न-देखते नंगे क्यों हो रहे हो?"

दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा। सचमुच जैसे मन-ही-मन एक समझौता-सा हो गया था। गदेई लैंका ने आँखें नीची कर लीं।

अगणिराय हरि साहू की दुकान की ओर गया।

उस अँधेरे में से हरि साहू पूरा नहीं दिख रहा। अगणिराय ने आवाज़ दी, साहू जी, हो क्या?"

उधर से आवाज़ आयी, "हाँ, जी!"

अगणिराय ने कहा, "दीया तो जलाओ, यों अँधेरे में क्यों?"

बिजली कौंधी। हरि साहू ने कहा, "वो, सुनो नदी आवाज़ दे रही है, और भी पता नहीं कितना उँडेलेगी, इसका तो मन भरता ही नहीं—"

भीगी ठण्डी हवा के झोंकों की साँय-साँय सुनाई पड़ रही है, चारों ओर सुन-सान। मानो कि शिवाले के गर्भगृह में बैठा है हरि साहू। देखते-ही-देखते ढिबरी जला दी। कतार-के-कतार टिन के डब्बे, हाण्डी, टोकरियों-भरी विभिन्न चीज़ें, ठुँसी-ठुँसी रस्सी के झूलते छीकों में लटक रही हैं। भीत पर तिलचट्टों की धार लगी है। वही हर दिनवाला दृश्य। हरि साहू ने कहा, "बिसात लिये बैठा हूँ, रोज़ की तरह, पर ग्राहक कहाँ? बस समझो, तुम्हारे लिए ही बैठा था, जिसका जो नसीब! कहो, क्या लेना है?'

उसके मन में गम्भीर उद्वेग है। मानो वह मन-ही-मन किसी के आगे फरि-याद कर रहा था, बात-चीत में रह गयी है। उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना उसने कहा, "आदमी न रहे तो क्या घटेगा, क्या होगा? सारा पसारा फ़ालतू है। जैसा मौसम हुआ है, बस विधाता ने साज ली भैरव-लीला। मुझे तो याद आता

है चाइना—"

"चाइना ?"

"हाँ, वो चायना या चीणा, ऐसा कुछ है नाम उस देश का। पढ़ा नहीं अखबारों मे, कि वहाँ कौन-सी नदी है एक, जिसमें हजार-हजार लोग बह गये ! अपने जोगी बस्ती मे तो पिछवाड़े पानी की चोट पड़ रही है जो घर-द्वार सब ढहते जा रहे हैं। और वह हजार-हजार लोगों का बह जाना। फिर यह कौन-सी नयी बात हुई ! आदमी तो सब। एक-सा कष्ट, एक-सा भय···।"

अगणिराय ने बाँकी-सी मुसकान बिखेरकर कहा, "अच्छा, देना पिवका चार पैसों का, भय···क्या किसी के कहने-भर से हट जायेगा !"

बाहर से सुनायी दिया औरतों का हो-हल्ला, और कुछ मरदों का भी। एक दल आ पहुँचा। अगणिराय ताकते रहे। छवि आयी है। केला की पत्नी, वही जिसे भूत लगा था, आरत अमीन की लड़की शत्री, सुदर्शन दास की घरवाली, कीर्तन राउत की बहू, पाटुवा बाउरी की स्त्री, कपिल महारणा की स्त्री, घन पड्ढा की स्त्री, इस तरह आठ-दस का समूह। पीछे-पीछे छह-सातेक पुरुष। उन्हीं के साथ है हरि साहू का बेटा सण्डू। कोई गमछा डाले चला आ रहा है। नाम को छाता तले सिर घुसाये है। झुण्ड-की-झुण्ड औरतें, भीगी-गीली होकर आ रही हैं। अगणिराय हटकर खड़े हो गये, यह देखने कि क्या होता है।

किसी के कुछ कहने से पहले ही सण्डू आकर खुद बाप के सामने खड़ा हो गया। सिर झुकाये बोला, "बापू, जोगी बस्ती मे पानी भर गया है, उनका तो चूल्हा-चाकी बन्द। ये सब उधर ही जा रही है, कहती है चिवड़ा दो बोरा और चारेक पण्डी गुड़ दिला दो। बाद में फिर चन्दा उगाहकर पैसे चुकाने को बोल रही है।"

अगणिराय ने खिल्ली उड़ाने की तरह कहा, "हो: ! चन्दा !—"

हरि साहू ने कहा, "दे दे।"

अगणिराय ने कहा, "धन्य हो दानपन तुम्हारा साहू। चन्दो के पैसे आयेगे ?"

हरि साहू ने अनसुनी करते हुए कहा, "खैर, और एक बोरा चिवड़ा उनके लिए रख देना सण्डू, अभी तो शायद इतना ही होगा। तू भी जायेगा तो जा, हो आ उधर। जुट जाना काम मे, इस पुश्ते का भरोसा नहीं है।

अगणिराय ने कहा, "इसे कहते है कि गाँव-भर मे है कोई आदमी। हूँ, भेली गुड़ है कि नहीं ? मुझे भी थोड़ा चाहिए था, पैसे तो लाया नहीं, पीछे पहुँचा दूँगा, दे दो एक।"

हरि साहू ने कहा, "गुड़ तो रखा ही है जब आओगे खरीद लेना।"

"क्यों, उधार नहीं ?"

"उधार में कुछ अड़चन है। ले रे, सण्डू गोदाम की चाबी ले—जा-जा।"

ा ही सटकर दो गोदाम हैं। दरवाजे पर भीड़ जम गयी। अगणिराय चिपटे रहे। गुड की बात कहे बिना टालते रहे। "कितने घरों के लोग उठ आये हैं देखो—"

हरि साहू ने उत्तर देने के बदले पूछा, "और कुछ? दियासलाई लेनी है?" तीर की तरह बौछारें आ रही हैं। पेड़ एक ओर झुककर थर्रा उठते हैं। छाते को झोंके-पर-झोंके उड़ाये लिये जाते हैं। कानों में सांय-सांय।

अचानक लगा जैसे वे कितने अकेले हैं, कोई सहायक नहीं, कोई शाखा नहीं, दिशा नहीं, राह नहीं, केवल बरसात की 'राऊ-राऊ' के बीच दपदप करता आदमी।

पुतली ने मुँह खोला था।

सिन्धु चौधरी ने अवाक् हो सुनी थी वे बातें।

पुराण पढ़कर समझाते समय, पढ़ाई के समय, सूत कातते समय, दोनों वेला भोजन करते समय, आनन्दपूर्वक कितनी बातें कही हैं बेटी के आगे—महामानवीयता की, न्यायनीति की बातें, शास्त्र-पुराण की बातें। कहते-कहते कई बार वे उत्तेजित हो उठते, मुट्ठी बाँधकर हिलाते, मुँह में कौर लेना रोक देते। गमछे से आँख-मुँह पोंछ लेते। तब लगता, वे कल्पना-ही-कल्पना में बढ़-चढ़कर कहाँ तक फैल गये हैं। परिव्याप्त हो गये हैं आकाश में छाये मेघों की तरह।

परन्तु जिनके आगे इस तरह पल-पल में अवतार दिखाये हैं, अप्रकट लीला को भाषा में, भंगिमा में प्रकट किया है, वे तो उनकी आँखों के आगे पुतली ही है।

अथच गम्भीर बनकर पिता और गुरु के अधिकार की बात कहकर उन्होंने जब-जब बेटी को अनुशासित किया है, समझाया है, उपदेश दिया है, तब-तब सुना है कि पुतली बोल रही है। आँखों में स्थिर गम्भीर दृष्टि, करुणा से छलछलायी, झिलमिलाते चेहरे पर अटल प्रतिज्ञा, जीभ पर आदमी की भाषा, उसमें तर्क है, विचार है। छवि कह रही थी, "सब अगर इसी तरह कहेंगे, बापू, तो काम फिर कैसे होगा? बस अपनी सुविधा देख पेट को दो मुट्ठी देकर हम चैन से रहे, बड़ी-बड़ी बातें करें, उधर दुनिया चाहे भस्म हो जाये। यह कोई बहुत अच्छी बात होगी? फिर इतनी बातें समझा क्यों रहे थे? खुद जिस काम को ठीक मानते हो, अब प्रमाणित करो कि वह विश्वास खोखला नहीं है। अकेली मैं ही क्या, कितने लोग जायेंगे, जाना ही पड़ेगा, जो हालत हो गयी, घर पर बैठेगा कौन?"

पत्नी मन में चिन्ता कर रही है। चेहरा तमतमा गया है। कहने लगी, "ये

नत्र कोई बातें हैं ? औरत जात, तू कोई मरद बेटा है जो, जहाँ मरजी आये, डोलती फिरेगी ? आपने ही इसे सिर चढ़ाया है ! समझे ? सब आप—"

"क्यों मन उदास करती हो माँ ? जाने से क्या हो जायेगा ? अकेली मैं ही तो नही। कितनी और भी तो जा रही—"

"दल बनाया है, मारी बात को तुझे ही फ़िकर है ! अरे, कहाँ क्या हुआ जा रहा है ? पानी, कीचड, बाढ, बरसा…फिर पानी में कही भीग गयी तो बुखार …बारह असुविधा…तिस पर मची है हाय-तौबा ! गोल-माल ! इतने लोग होंगे। अकेला यह जीव जाये तब ही ब्रह्माण्ड का उद्धार होगा, वरना नही ? एक छोड़ मेरे कौन-सी दूसरी है ? बडी बेटी। तुम क्यों मुँह नही खोलते, पत्थर की तरह चुप बैठे हो ?—"

सचमुच जैसे उनकी जबान पर भाषा ही नही। कहाँ ? पैर भी तो नही उठता ? जाऊँगी—जाऊँगी—खुद जाकर काम करूँगी। काम—हाँ उसकी रूप-रेखा याद आ जाती। वही रुक जाते। पैर उठते ही नही।

कितनी बातें कहने को मन करता है, कह नही पाते। गले तक आकर बात अटक जाती है। सामने पुतली नही, आदमी है। आदमी के सामने स्वय अवतार बना नही जाता। उलटे उसी का नया अवतार आँखों के आगे आ जाता है। कल तक जो था खिलौना—आदमी कब बन गया ? कितने दिनों, कितनी रातों का गहरा चिन्तन, कितने विचार, सब मिलकर एक स्रोत, उन्ही कारणों का फल आज का यह छवि है। किसने दिया इसके चेहरे पर यह रग ? आँखों पर काजल की तरह और फिर काजल की ओर से कोई अनजान ज्योति ! यही उज्ज्वल प्रभा जिसके आगे वे स्वयं भी मूक हुए जा रहे हैं ! कैसे चुपचाप बदलते-बदलते इस नन्ही गुड़िया का चेहरा सचमुच आदमी का चेहरा बन गया ! बात भी ठीक है, उसका जीवन होगा उसका अपना, स्वतन्त्र, सुख-दुख की अधिकारी होगी वह स्वयं। वह अपना ससार बसायेगी, सृष्टि करेगी, पालेगी, बढायेगी, आँसू पोंछेगी, फिर वह अपना पल-पल का अवतार दिखाकर अपने खेल-खिलौने को स्वप्न और आवेग देगी, जीवन्यास देगी। और सोचने पर वे स्वय—पुराने खोल की तरह, जिसमें किसी जादूगर ने मानो अन्दर के आदमी का हरण कर लिया हो। मुड़ा-तुड़ा खोल लड़खडाता दूर होता जा रहा हो, दूर होती जा रही किसी प्रतिध्वनि की तरह…क्या कहती जा रही है कुछ सुनायी नही पडता है। जैसे वह विलीन होती जा रही हो।

अचानक भाषा मिल गयी। हथियार खत्म हो जाने पर, असहाय अवस्था देखकर किसी ने दया कर अस्त्र बढा दिया हो। परम आत्मविश्वास पूर्वक कठोर दृष्टि डालकर बोले, "समझो बेटी, जो तू कहती है, सब सच है। पर उसका भी एक समय है—अवसर है। समाज, सस्कार, अपने देश की चली आयी रीति भी

तो कुछ कहती है।"

"हाँ, क्या कहती है? तुम ही तो कहते थे, ये इतनी आड़, डर, लाज, ये सब अपनी स्वाभाविक रीति नहीं है, ये भेष अधिक दिन के पुराने नहीं हैं। कल सुबह जब देश पर विपत् आयी थी तब, केवल लाज बचाने के लिए, आत्मरक्षा के लिए अपने देश की बेटियों और बहुओं ने यह छद्मवेश धारण किया था, यह अपना इतिहास नहीं?"

"फालतू बातें छोड़। पहले घर। पहले अपना—अपना दश है यह भी तुझे समझाऊँ? सबसे बड़ा आदर्श गृहस्थाश्रम। घर-ससार के लिए आदमी जनमा है। घर-ससार, उसका अपने स्तर पर अपना रूप है। पहले सृष्टि, तब फिर घर।" पत्नी की बात को अपने मुँह से बोलने लगे, "बेटी घर पर रहने में ही शोभा पाती है। मरद बेटा कुछ करे, कोई कष्ट सहे, पर बेटी जात को उन सबकी जरूरत क्या है? घर की लड़की घर मे ही ठीक है। माँ-बाप ब्याह दें, तब वह होगी घर की गृहिणी, जितने आदर्श सीखे-समझे है, उनसे तुम काम करनेवाले लोगों को शक्ति प्रदान कर सकोगी।"

"सचमुच इसमें विश्वास है तुम्हारा बापू? ख़ुद ठाले बैठे रहकर औरों के लिए बस बातें कहने-भर से जीवन धन्य? सचमुच सोचते हो गृहस्थी का कोई निर्दिष्ट रूप है कि जिसमें इतना किया जा सकता है, इतना नहीं? तुम तो आदर्श गृहस्थ हो, बोलो तुम्हीं? जितना जो सोचा था, अनुभव किया था, सब इसी रास्ते से पा सके, साध सके कभी? काम किसी के आना नहीं, बस सिर्फ़ दूसरे के लिए सहानुभूति दिखाकर रोना। गढ़ने का काम जहाँ चलता हो उधर जाना नहीं, पानी-कीच में उतरना नहीं, बस बैठे-बैठे सोचना कि कैसे क्या करना ठीक रहेगा; क्या होना चाहिए। ख़ुद काम करना नहीं बस बैठे-बैठे हुकम देना। ख़ुद धेला दान देना नहीं और सिर्फ कहना कि भई सब सबको पालें-पोसें—तुम सोचते हो, सचमुच सोचते हो कि यह जीवन ऐसा ही होना चाहिए? यही तुम्हारे जैसे आदमी का आदर्शवाद है? उसका बड़प्पन? यही गृहस्थाश्रम की नयी परिभाषा सोचते हो? जबकि आज काम की असली घड़ी आ खड़ी हुई है, घर-द्वार बहे जा रहे है। बोलो, बोलते क्यों नहीं? इतने दिन पढ़ाया, जो सिखाया—पोंछना है तो पोंछ डालो सारा। क्या कहते हो, कहो?"

हवा-पानी का गरजता-तरजता तूफान बोल रहा है, बिजली कड़क-कड़ककर चमक रही है, वही बात जो वह कहती जाती है सूने नदी के कछार पर, मैदान पर। हँसने की तरह बाढ़ का पानी कगार को छूकर लाक्-लाक् कर रहा है—अकेला पेड़ मुड़-झुककर छटपटा रहा है। छाती तले उदासी के अन्दर तपतपा रहा है भय, वहाँ भी चल रहा है मोड़ना-झुकाना, तोड़ना-फोड़ना। सब उड़ा जा रहा है, दिन-रात, युग, एक-एक कर आदमी की छोटी-मोटी गिरस्ती। कुछ

कहना होगा। क्या कहें? कह नही पाते, गले मे आवाज अटक जाती है।

झक् से दिख जाता है अपना अतीत अपनी ही आंखो के आगे। कितनी आशा-उच्छ्‌वासों को लेकर शुरू किया था। कहाँ गया? एक दिन आया था, सारे भारत मे राष्ट्रीय आन्दोलन। घर के दरवाजे तक उसकी लहर कौंध गयी थी, कितने काम करने को मन में उत्तेजना आयी थी। ये करना, वो करना। जैसे भी हो, अँगरेजों के शिकंजे से देश को छुड़ायें। देश का काम करें, धन्य हों। सेवा कार्य करें। औरों का दुख मोचन करें। स्वप्न। योजना भी। इतने तीन-पांच न सोच, सपनो का जाल न बुन, उस लहर मे वह गये कितने साथी-दोस्त, जाने-पहचाने लोग—जिस तरह मन्दिर के आगे द्वार पर भीड के रेले-पेले मे लोग जैसे-तैसे स्रोत की तरह अन्दर वह जाते हैं, उसी तरह। पर वे स्वयं पैर उठाकर जा न सके वल्कि गये नौकरी करने। कितने वाद मे जनम लेकर भी लोगो ने कितना आदर पाया। वड़े हुए, कोई जेल गया, कोई मरा।

परन्तु सहजन की डाल पर गिरगिट के सिर हिलाने की तरह वे स्वयं वैठे-वैठे सिर झीकते रहे, इसके-उसके कान मे फूंक भरते रहे, स्वयं कभी कुछ किया नही।

कितनी तीखी प्यास से छवि की आत्मा प्रतीक्षा कर रही है—प्यासा मुँह खोले देख रही है, अब झूठ कहकर वहकाया नही जा सकता। वो देखो कह रही है—

"ससार में गृहिणियों की कमी नही है, सख्या की कमी नही, दिन-व-दिन असुर वश की तरह आदमी का गोठ वढता-ही-वढता जा रहा है, उतना भर छोड़ दो, वाकी तो सब अभाव-ही-अभाव है, सुख-शान्ति-स्नेह-ममता तक सबका··· मुँह पर वड़ी-वड़ी वातें···काम के समय पूँछ दवाना, घर-ससार, सस्कार, भद्रता-पूर्वक चलन, यही कहते हो तुम? गीता, भागवत, जो कुछ सदा से कहते आये हो—आज उनका यही अर्थ है, यह मुझे समझाने वैठे हो, कहो, वोलते क्यों नही?"

यही नारी। जच्चाघर मे दूध पिलाकर, फिर पीठ पर पख फैलाकर आदमी को आदमी वनाती है, यही तो है वह! अपनी सृष्टि पर विपद् आयी देखकर फिर उसके रक्षण के लिए वेचैन हो उठी है। सिन्धु चौधरी मोहाविष्ट-से देखते सोच रहे थे। मानो यह छवि नही, यह वही है, बिलकुल परिचित, जिसे उन्होंने ध्यान मे देखा है, चेतना मे अनुभव किया है। किस अनजान असीम से आयी है एक वड़ी लहर, छवि को उठाकर ऊँचा कर दिया है। क्यो वैसा होगा उनके घर मे! क्यों उनकी एकमात्र सन्तान पर उतरेगा महाभाव का देवता!

"छवि, छवि, ये सब क्या कह रही हो? लडकी ठहरी! इन सवकी क्या जरूरत! चुप होकर बैठ, छवि! घर की शान्ति छोड क्यों वरसा मे भीगने, कीचड़ मे लथपथाने जायेगी? चैन से घर पर वैठ। शान्ति से रह। पगली

कहीं की !"

"शान्ति या स्वार्थीपन ? मुझे कुछ नहीं होगा। सब प्रतीक्षा कर रही है। तुम देखना हम किसी को कोई कष्ट न होगा। जाना तो पड़ेगा ही। इतना भाग्य अपना नहीं। हम सचमुच कोई क्या कुछ कर डालेंगी ? हमें—इस गाँव के लोग जीवित हैं—इतना ही प्रमाणित करना है। जितना जिससे हो सका। जाना तो पड़ेगा ही। मैं चली।"

"अरी छवि, छवि ! सुन जा ! तू मेरा कहा मान," उसकी माँ आवाज़ दे रही है। "छवि-छवि—" गुरु की माँ पुकार रही है। गुरु बुला रहा है। सिन्धु चौधरी देखते रहे। सब कुछ नाटकीय हो रहा है। छवि की माँ काँप रही हैं, रो रही है—"एक ही तो लड़की, उसके लिए विधाता ने रखी थी इतनी बुरी घड़ी ! मैं ज़हर खाऊँ या कहीं रस्सी लगा लूँ या किसी तालाब-पोखरी में कूदूँ—बताओ ! ओह, क्या उपाय करूँ। तुम बैठे क्या हो जी ? कुछ तो देखो। करो कुछ-न-कुछ तो। हे विधाता !"

"सुनो, चिन्ता न करो। क्या हुआ जा रहा है ! कितने लोग तो जा रहे हैं। ऐसे समय में तो बाहर की औरतें मदद करने चली आती हैं, तुम इस तरह क्यों हो रही हो ?"

"नहीं-नहीं-नहीं—मुझे मेरी बेटी ला दो।"

"सुनो, धीरज धरो। डरती क्यों हो ? मैं ख़ुद जाता हूँ।" भला रोने से मानेगी वह। तब कहने से कोई फ़ायदा नहीं। सिन्धु चौधरी ने चरखा सँभाला। दिन बह गये हैं, सुख-दुख ने दुलराया है उनके जीवन को, उन्होंने चरखा पकड़ा हैं, जिस तरह कि आदमी तावीज़ बाँधा करता है। चरखे की घर्र-घर्र के साथ भागवत (जगन्नाथ दास रचित) के पद गुनगुनाने लगे—

"गृहरे विपदे सम्पदे। कुल काचन बन्धु मध्ये॥
मोहे नोहिब मनच्छन्न। ए सर्व ईश्वर समान॥
भाव जाणिव शुणि देखि। इच्छारे सकल निरेखि॥
ए पुत्र दारा बन्धु संग। ये सने समुद्र तरंग॥
पथिक येन्हे वृक्ष डाले। श्रमे बसन्ति एकमेले॥
श्रम सरिले जेझामते। चलन्ति वृक्ष छाडि एथे॥
येसने प्राणी निद्रागते। सम्पद देखे स्वप्नगते॥
एहि प्रकारे गृहवास। न कर एथिरे विश्वास॥"

अचानक लगा जैसे यह भी एक अभिनय है। दृश्य के बीच में कोई भिखारी रंगमंच पर सुन्दर गीत गाकर चला जा रहा है, वैराग्य संगीत। भिखमंगे वे नहीं हैं। हो सकता है, कामना हो कि इस गीत के लिए उसे कुछ पदक मिलेगा।

मानो पिंजरे में कोई तोता पढ़ रहा है।

अतिथि···पथिक···कब हुए वे पथिक ? घोर संसारी। कुड़मुड़ा रहा है स्नेह का बन्धन। बारम्बार लगता है कि छवि गयी क्यों ? ओह, ये लडके-लडकियाँ माँ-बाप के मन की बात कुछ समझते ही नही।

छवि नही। उसको माँ दिखती नही। बादल नहीं हैं, धूप चिलचिला रही है। उत्तर की ओर टूटी छान की फाँक से नदी का मोड दिख जाता है, धूप में चमचमा रहा गँदला पानी। दूर का आकाश कलौंसा अवरख का परदा बन गया है, दृष्टि भेदती ही नही। उसके नीचे विभिन्न सतहों पर पेडो की फुनगियाँ झुकी हुई है। फुनगियों पर बच्चो के खिलौने—चरखी की तरह नारियल के सिरे, धूप में झूम रहे हैं। उदास-विषाद में अनमनी स्त्री की तरह अधर में लोट पड़ें बरगद और सिरस के पेडो का ऊपरी आधा भाग। हथेलियों को उठा विनयपूर्वक झुककर धर्म को प्रणाम करने की तरह केले के पेड अनेकों-अनेक, बीच-बीच में शून्य। तनिक छोड-छोडकर कही अकेले-दुकेले पेड का सिरा, मानो अकेला बटोही थककर जगह-जगह सुस्ता रहा है।

चरखा घूमाते-घुमाते मन में अपने सकतेपन की भावना लौट आती है। और आ रही है आकाश तथा समय के बीच अनुताप की नयी धारणा। ऊपर हवाई जहाज उड़ गया। आवाज से कानों के परदे हिल उठे। चरखा चलाने और ऊपर हवाई जहाज के जाने के बीच वे छोटा-बडा नही जान पाये। महाकाल के अनुपात में सोचने पर कोई कुछ नही, केवल बिजली की झलक-भर है, 'ए सर्व बिजली प्रकाश'। वही 'झक्'-भर, वही जीवन, वह एक उच्छ्वास, किसका किस रास्ते जाता है, कोई सूत कातता है, कोई खेत खोदता है, कोई जहाज चलाता है। इसी के भीतर है जीवन, सत्य, सुन्दर, सनातन, होने और न होने को, मरे और जीने को एक साथ गूँथे हैं। मरुभूमि की बालू में सहेज रखे हैं कोमल हरे पत्ते गढ़ने के लिए प्रवणता, अँधेरी रात में जुटाया है आगामी सूर्योदय का अविसम्भावित्व। वही है वह, प्राण, ब्रह्म। बाबाजी ने कहा था, "धान मे चावल का दाना है, इन चर्म नेत्रों को केवल धान दिखता है, चावल नही। चावल को देखने पर ही तुम्हारा अभाव मिटेगा।"

कैसे किधर से आकर वे बाबाजी याद आ गये, वेणुपाडा मठ के बाबाजी। माथे पर दो हाथ ऊँची टोपी, पालागायकों की तरह छींट का पैजामा पहने, फूलों के हार से लदे-भरे, मृदंग के ताल-ताल पर नाचते। याद आया वेणुपाडा का मठ, सैंकडों बरस पुरानी काजी, ताडपत्र की पुरानी पोथियाँ, माटी की पुरानी गद्दी, वाईदास की, कृष्णदास की, आर्तदास की, पास-पास लगी कवि-साधको की समाधियाँ। याद आता है उनका वह पुराना भजन—

"चेति चाहुँ किना हो ज्ञानी। तू ज्ञान लोचन बागे।
चर्म नयन कु रूप न दिशइ। खेनुछि नयन आगे।"

अकार मकार सकार परे। अणाकार परे हेज,
तथि परे जेउँ परम बीज। आउ तथि परे खोज।
शेपरे मिरे अजपा परे तथि परे शून्य विधि,
शून्य पुरुषकु पारिले हेजि, प्रकृतिमानकु छेदि।"

वे लोग तो लययोग लगाकर देखा करते थे वह रूप, प्रकृतियों का छेदन किया था। उन्होंने ही इस जीवन को पहचाना था। कल्पना में तैर उठे उनके कल्पित रूप। समुद्र की गरज सुनायी दे रही है। नदी के उस ओर लहर-लहर लहराते बालू के ढूह दिख रहे हैं। आँखें जहाँ तक जा पाती हैं, केवल खुला आकाश। उधर ही मुँह किये ताड़पत्रों पर लेखनी चलाये जा रहे हैं सिद्ध साधक—"वदयन्ति ग्रन्थकार श्री सारोलदास कवि।" और दिखायी पड़ रही है पुरी स्वर्गद्वार पर श्मशान के उस ओर बालू के टीले पर माटी में पुत जाने की तरह मानव-हाथों से गढ़ी एक गुफा, चूना-बालू से बनी छतें की तरह उसकी छत। बाहर देखने पर सामने दिखता होगा नित्य आदमियों का शव-दाह का दृश्य, दाहिनी ओर महासमुद्र, बायीं ओर दिखता होगा श्रीमन्दिर पर नीलचक्र, उसी गुफा में योगासन पर बैठे होंगे सिद्ध जगन्नाथ दास। कितने सिद्ध-साधक इस माया सृष्टि का तलातल देखकर चले गये हैं। वे कह गये हैं मिथ्या, निष्ठुरता, हिंसा, स्वार्थ—ये सब मिलकर बनाते हैं वह पाटी, जिसमें से चावल दिखता नहीं, केवल नजर आता है धान। दर्पण में देखने पर उलटकर अपना चेहरा दिखता है।

चल रहा है घर्र-घर्र चरखा। फिर बढ़ जाती है उत्तेजना, खूब तर मन की चिन्ता के साथ मानो चरखा ताल बनाये रखना चाहता है, पर सकता नहीं। उलटे आ रही है चिन्ता—यह क्या किया उसने, लड़की है!

पुकारा—"छवि!"

कोई नहीं। बाहर पतली धूप, छाती में छन् से कर देती है। अटपटा-अटपटा-सा लगता है, कहीं उन्होंने कोई भूल कर दी है! भूल—भूल, अड़चन और गोल-माल होता-सा सब!

तीन बच्चे एक-दूसरे के गलबहियाँ डाले एक ढूह पर खड़े थे, आँख-मुँह पर हँसी उच्छरित हो रही थी। ऊपर आकाश, सामने घर।

चिकना नीला स्याह घने काँच की तरह मेघ, रुँधा थमा हुआ आकाश—किधर से आया है, दूर कहाँ तक फैला है। उसी में से ज़रा-सा उनकी पीठ पीछे टिका हुआ था। सचमुच जैसे माया आँजन लगा कुहुक दर्पण हो, वहाँ कब किस

सतह पर कौन-सी छवि उगकर फिर विलीन हो जाती । कुछ चिपका नहीं रहता ।

उस अनन्त विराट् चित्रपट पर, जहाँ युग-युग के कितने ही आँखो को दिखायी पड़ जायें इस तरह के चित्र खिलकर फिर निश्चिह्न हुए थे ! कितने वज्र, तूफान, कितने प्रलयंकर ध्वंस, कितने महाभारत युद्धो के चित्र कितने ही विराट् टूटने-गढने के अनाम-धेय इतिहास !

फूलशरा गाँव में आषाढ के अन्त मे वही एक अख्यात कलौसी अपराह्ण । साफ़ होकर खिल रहे थे तीन शिशुओ के चेहरे, दो-ढाई बरस के होगे, एक-दूसरे की कमर मे हाथ डाले नगे, तीनो लडके, दो तो काले-काले, बगल मे एक गोरे बदनवाला । वर्ण वहाँ प्रधान न था, प्रधान थी—उन तीनो शिशुओ की ध्वनि, युग-युग से मानव-जीवन के अभ्युदय की प्रतीक, विस्मृति के नील-स्याह पट पर तीन प्रकाश-शिखाएँ । इधर-उधर होकर सिर के अरणें बाल बिखरे पड़े थे, आँखो से ज्योति छिटक रही थी, मुँह से अकारण हँसी । वे दूध पीकर आये थे । उनके पेट पर दूध की धार नीचे तक बह गयी थी, वह भी स्पष्ट दिख रही थी ।

रास्ते के इस ओर घरो की कतार लम्बी चली गयी है । बच्चो के सामने एक घर के दरवाजे पर कुछ लोग जमा है, अनेक औरतें और अनेक बच्चे । बड़ी हाण्डी में औटाया दूध रखा है । बच्चो मे बाँटा जा रहा है । अनेक घरों से गाय का दूध लाकर एक जगह गरम कर गाँव-भर मे इसी तरह जगह-जगह बच्चों मे रोज बाँटा जाता है, उसी मे से एक जगह यह भी है । "और थोड़ा पी धड़िया—" एक आठ बरस के बच्चे से कोई कह रहा था । धडिया हँस-हँसकर टालते-से हाथ छुड़ा रहा था । "सब पीयेंगे या अकेला वही अपने मोटे असुर-से पेट मे भर लेगा ?" धड़िया की माँ ने कहा । "और बहुत है," दूसरे ने कहा, "आ रे धडिया, कितना सूख गया है—"

तीनो बच्चो का मन इस देन-लेन मे न था, उनका पेट ठण्डा था । मानो खुले आकाश तले उसी ढूह पर एक साथ गलबहियाँ डाले जग के आगे दिखाये खड़े होने मे ही उनका आनन्द है । वे केवल ढूह पर खड़े नही थे, वे थे ढूह की ठीक ढलान पर, लुढके तो तीन हाथ नीचे गिरेंगे, पहाड़ के सिरे पर खडे होकर सामने उपत्यका की ओर देखने की तरह, तीन हाथ ऊँचे पहाड़ पर भी सीधा चढ़ा नही जा सका था, भीड़ से खुलकर आकर पिछवाड़े घूमकर ढलान-ही-ढलान मे धीरे-धीरे चढ-कर फिर ऊपर-ऊपर, अन्त मे चरम विजय के समय का विपुल आत्म-प्रकाश ।

वही खुले ढूह के कब के टूटे पड़े घर की नीव । वहाँ घास उग आयी थी ।

थोड़ी दूर पिछवाड़े था एक घना कदम्ब का पेड़ । फूल खिले हुए थे, पेड़ पर झुण्ड-के-झुण्ड बन्दर छुपे थे, सफेद घेरदार होकर काले-काले दो चिन्तित चेहरे पत्तो की ओट से साफ दिख रहे थे ।

थमे हुए आकाश के नीलम स्याह काँच पर दिख गयी—पाँच सफ़ेद बगुलों की

पाँत उड़ती जा रही है। नीचे एक जगह चकराती मँडरा गयी एक दल मैना, घास से तनिक ऊपर।

सहसा एक समूह 'उत्रुक' कर एक साथ चोखा फिर वह संगीत बन्द हो गया।

एक बकरी मिमियाती आ गयी, भरे थैले की तरह गादी झूल रही थी। काले-काले तीन बच्चे रेल-पेल करते उसकी गादी से दूध पी रहे थे। हृष्ट-पुष्ट मटमैली-सी बछिया आकर खड़ी हो गयी, इधर-उधर देख सिर हिलाती चल पड़ी। दूर चबूतरे पर झाड़-झूड़कर खड़ा हुआ कोई एक कुत्ता, देह पर रोयें नहीं है, आँखें लाल-लाल, लड़खड़ाती गरदन, चारों ओर देख फिर सिमट-गुमटकर लेट गया। किसी के गुहाल से छूट आयी कोई कुँई फूल-सी कोमल बछिया। खुले रास्ते पर इधर-उधर उछल-कूदकर तमाशा लगा दिया। तीनों बच्चे उधर देखते-देखते ख़ुशी में भर किलकारियाँ मार रहे थे, पूँछ उठाये पीठ मरोड़ती-मरोड़ती चिकनी काली थूथन को फनफनाकर वह लहर फैलाती-सी तीर की तरह जिधर इच्छा उधर दौड़ी जा रही है, इतने में ही उनका विस्मय है और आनन्द है।

उनकी चिल्लाहट सुन इस घर के दरवाज़े से सबने उनकी ओर निगाह डाली, दौड़ गये चार जन। लसर-पसर करती पहले तो गयी वान्छू की स्त्री, नन्द तहसीलदार की बहू, वह पाँच महीने की गर्भवती है। "आ रे, आ रे, यह ठीक नहीं, इस तरह न दौड़।" सास ने पीछे से रोका। वाञ्छू की स्त्री ने नहीं सुना। बोली, "इन बच्चों से अब पार पाना कठिन हो गया, क्या कहूँ!" एक बच्चे को गोद में उठाया, और दो ने उसके पैरों से लिपट मुँह ढाँप लिया। तीनों बच्चों की माँ आकर उन्हें गोद में ले गयी। अबकी भीड़ उस दूह की ओर सरक आयी। हो-हा करते झुण्ड-के-झुण्ड बच्चे सारे रास्ते पर धमाचौकड़ी मचाने लगे। औरतें खड़ी होकर बातों में उलझीं।

दधि अहीर की स्त्री उरी, गन्धर्व मिश्र की स्त्री कमला के आगे अपना दुखड़ा रो रही थी। उसकी उमर तीस, ब्याह हुए पन्द्रह बरस। पन्द्रह बरसों में आठ सन्तान। डौल-डाल चेहरा, काला चमचमाता गोल मुँह। कमला उसकी हमजोली, एक बेटा एक बेटी, तनिक हठीली, हलद गोरी, लम्बी नाक, मानो माथे से ही निकली हो।

उरी बता रही थी, "कन्था-गुदड़ी तो सदा गीली-भीगी। बरस-का-बरस एक। दो गये नदी की बालू में। होते तो दस पूरे हो जाते। यह दुख अब और कौन समझेगा! बस कुछ पूछो मत! दिन-रात एक-सा है।" उसने गहरी साँस छोड़कर कहा, "कभी-कभी सोचती हूँ ये तो एक भीड़ हो गयी। ये सब खायेंगे क्या, चलेगा कैसे?"

कमला हँस पड़ी। बोली, "आदमी कभी इस तरह सोचे तब तो। अब तो जमाना बदल गया। गाँव-भर के लोग जैसे पेट भरेंगे, तुम्हारे बच्चे भी वैसे ही

गुजारा करेंगे। धरती छूते ही बच्चा तो अब गाँव के सामलात का। उनकी और कोई बात तुम्हें लगी है ?"

उरी बोली, "हाँ, पर यह रहे तब तो।"

कमला ने कहा, "छि-छि, ऐसे नहीं कहा करते।" उसका चेहरा चिन्तित लगा। बोली, "गढ़ना कितना कठिन है। तोड़ने में तो छन-भर भी नहीं लगता। कितने भरोसे से यह काम शुरू किया है, मन को मजबूत न किया, विश्वास न रखा तो सारा गाँव, इतनी जातियाँ, इतने घर के लोग, सामलाती में चलते हैं—वह फिर रहेगा ?"

उरी हँसकर कहने लगी, "केवल रोजगार ही तो सामलाती है। जो हुआ सब बाँट-बूँटकर खाओ, सब सबके भले की ओर देखो, जैसे कि गाँव-भर एक कुटुम्ब है, सब सबो को आदमी बनायेंगे, पालेंगे, पोसेंगे।"

कमला बोली, "वही तो मैं कहती हूँ, फिर और चिन्ता किस बात की है ?" हँस-हँसकर कहा, "अब तो बस चैन से बच्चे पैदा करो, तो गाँव भरेगा।"

"ऐं! कैसी बात कहती हो!" उरी बोली और फिर हँसते-हँसते लोट-पोट। हँसी सँभालकर कहा, "सचमुच तो, सोचने पर ताज्जुब लगता है, कुछ ही महीनों में कैसा बदल गया! कितने कलह-झगड़े, कितने वाद-विवाद कहाँ गायब हो गये। मामूली चोरी-चपाटी तक नहीं। ऐसी चैन की नींद आती है कि क्या बताऊँ। आदमी निश्चिन्त, बेधड़क।"

कमला ने कहा, "यह तो एक ओर हुआ, दूसरी ओर से देखने पर तो चिन्ता बढ़ गयी। तब एक की चिन्ता से ही सिर चकराता था, अब सारी भीड़-भर की चिन्ता आकर गले पड़ गयी, काम बढ़ गया। अब ये आज एक ही दिन की बात लो न, हम दस औरतें मिलकर बड़ी चूँट रही थीं, फिर भी कहाँ पूरा हुआ ?"

उरी ने कहा, "हमारे यहाँ दिन-भर सामलाती धान कूटने में लगी है, पैर रुकता नहीं, काम पूरा होता नहीं। जो हो, ऐसे में काम—काम की तरह नहीं लगता, ख़ुद-ब-ख़ुद काम करने को हाथ-पैर कुलबुलाने लगते हैं। थकान नहीं आती। उसके बापू तो वैसे ही काम में लगे हैं, गायों के गोठ में, खाने को भी फ़ुरसत नहीं। कहती हूँ कि सामलाती काम ख़ूब बढ़ा जा रहा है, जितने आदमी शामिल होते जायें उतना और भी काम—"

चबूतरे पर एक जगह दनेई महान्ती की विधवा बहन नेत माधो साहू हलवाई की पत्नी पारा के पीठ पीछे बैठी उसके बाल सँवार रही थी। पारा गढ़ी गयी-सी इत्ती-सी औरत, चार बच्चों की माँ, उमर पचीस होगी। नेत गेरुआ साड़ी बाँधे बैठी थी, हाथ में लम्बी कघी थी। कहने लगी, "हो गया, जरा ठहर, ये लो।"

"और इस गहरे चेहरे में क्या है जो यों ही इतना सुन्दर किये दे रहा है ?"

न कर डाले !"

पारा ने कहा, "केवल झाड़ लगा देने-भर से कुछ नही होने का। असल काम तो उनकी रखवाली करने का है। देखभाल कर उन्हे बढाने का है। तभी देखी जायेगी इस गाँव की औरतों की कर सकने की क्षमता। कौन कितने पेडो का भार लेगा दिखा दिया जायेगा, बढा-बढा कर झाड बड़े करने होंगे।"

पारा ने कहा, "मन हो तो कौन-सी बात बडी है। किस जमाने की कौन-सी तपस्या से गाँव एक कुटुम्ब-सरीखा हो गया है। ऐसा ही मन रहने से तो अच्छी-अच्छी, नयी-नयी बातें देखने को मिल सकेंगी। ठाकुरजी को पुकारो कि बस सदा सबकी ऐसी ही बुद्धि बनी रहे।"

उधर शिथल बुढिया असली ने नरसिंहपति की माँ विमला से पूछा, "सात-गछिया पठा के पठानो के आठ घर सामलाती मे मिलने के लिए दौड-धूप लगा रहे थे, क्या तय हुआ उस बात का?"

विमला बुढिया हँस पड़ी। पान खाती नही, दाँत घिस गये, पर वैसे ही एकबारगी सफेद चमचमाते हुए बोली, "कैसे तय होती, तुम होती तो? बताओ तो सही। उन्हें लेती या नही ?"

"लेंगे नही तो और क्या फेंक देंगे? पठान हुए तो क्या, और ब्राह्मण हुए तो क्या? सब इसी माटी की सन्तान ही तो हैं!"

विमला ने कहा, "तुम्हारे मन को यह बात भाती है तो? बस। गाँव के लोगों ने भी वही फैसला किया। सब बोले कि एक-जैसे आदमी, एक घर के भाई, एक जगह सब काम मिलजुल करेंगे, ठाकुरजी की पूजा के समय सब अपनी-अपनी इच्छा मुताबिक जो जहाँ चाहे जाकर पूजा करेगा, उसमें क्या बिगड़ता है! उन्हें सामलाती मे ले लिया गया है। काम भी शुरू हो गया, कोई बाकी थोड़े ही रहा है!"

असली बोली, "क्या काम हुआ ?"

विमला बुढिया ने बताया, "सब उधर गये थे। वे आठ घर के लोग है, बहुत खराब हालत मे गुजर कर रहे है, जमीन-जायदाद तो ठन्-ठन्, बाल-बच्चो की हालत बस क्या बताऊँ, खाने के भी टोटे। अबकी बाद वो दिक्कत नही रहेगी, अपनी जरूरत का धान सामलाती धान से हिस्से मे पायेंगे। घर भी खडे किये जायेंगे, उनकी बस्ती तक एक सड़क बनेगी, वहाँ एक कुआँ, एक पोखरी खोदी जायेगी, बरसा बीतने पर ये काम वे हाथ मे लेंगे। वे कोई ठाले बैठनेवाले लोग हैं? अभी गाँव की जमीन में खट रहे हैं अपने आप। चारों ओर से हाड़ चुनकर लाते हैं और उन्हें उबाल-सुखाकर चूरा बनाते है।"

असली ने कमर पर हाथ रख चौंककर पूछा, "ऐं! उन सबका क्या होगा! छि:! हाड़!"

विमला बुढिया कहने लगी, "अभी तो हो रही है यही बात, इसमें छी-छी करने की क्या बात है? हाड़ों के चूरे की तो कहते हैं बहुत अच्छी खाद बनती है, माटी को इतना बल देती है कि फसल दूनी होती है। देख कहा भी तो करते हैं न कि जन्तु मरा तो, दो झाड़ तले गाड। कागज़ी नीबू की जड़ में घोंघे गाड़ देने पर फल लद जाते हैं। हाडों को उबालकर चूरा करने से फ़सल अच्छी होती है। वही काम ये लोग कर रहे हैं। केवल हण्डी में ठीक से सीझते नहीं, सो कहते हैं कि कल लाकर सिझायेंगे। साथ में पुट देने को कहते हैं, तब गाँव की जमीन के लिए जितनी चाहिए उसे उतनी हाडों की खाद मिल जायेगी। वसुधा फल उँड़ेल देगी, धान होगा, आलू होंगे, गोभी होगी, आम, नीबू, केले, पपीते भी होंगे।"

असली बूढ़ी ने कहा, "हाँ, उसमें फिर पवित्तर-अपवित्तर क्या रखा है? मरने पर ये हाड इसी माटी में तो मिलते हैं या कहीं और जाते हैं? जैसा चलाओ, वैसा ही चलेगा। ये ही हाड उजाड़ में पड़ते हैं, उनसे खाद बनती है जिससे आलतू-फ़ालतू पौधे बढ़ते हैं, अब फ़सल बढ़ेगी। अब आया ये हाड़ों का चूरा। जितना कूड़ा-करकट सब पड़ेगा खाद में, न उपले होंगे न खाद जलायी जायेगी, मेरा लड़का तो पग-पग पर नज़र रख रहा है। कहता है, माँ जो उपले चार टुकड़े जलाने बैठी हो, कद्दू की जड़ में दोगी तो दो बड़े-बड़े कद्दू फल जायेंगे। मैंने कहा, खूब रे बेटे, तेरी ये माँ मरे तो उसके हाड़ों का भी चूरा कर देना, जमीन में लगा देना, फ़सल अच्छी होगी।"

विमला बुढ़िया हँस पड़ी, कहने लगी, "उधर ये कण्डे जलाने पर रोक लगाने-वाली बात देखकर तो आदमी डर जायेगा, इतनी लकड़ियाँ कहाँ, काठ कहाँ, नारियल के पत्ते कहाँ, जलावन तो बहुत कठिन हो गया! कहते हैं खींच-कसकर चलो, खाद को नष्ट न करो। अच्छी बात। माटी से तो बल गया, माटी को पह-चाने बिना, देख-भाल किये बिना वह खाने को कहाँ से देगी? जो भी कहो, इस साल तो फ़सल देखते ही पेट भर जाता है। ऐसा धान, ऐसी साग-सब्जी, कभी किसी ने देखी नहीं होगी। खाने को भर पेट मिले, पेट ठण्डा रहे, बस और क्या, सुख से बैठे माला फेरने की बात। पहले लोग अगर इधर मन लगाते तो अबतक कहाँ-से-कहाँ क्या कुछ न हो जाता!"

असली बुढ़िया ने कहा, "अच्छा-रे-अच्छा बस, लोगों के सुख देखते-देखते अपने दिन बीत जाये। कितने वाद-विवाद, कितने मुकदमेबाजी, कितने कलह-फसाद तो देख चुकी। चलो, अब अपने देखते-देखते यह सब बदला—यही अपना बड़ा भाग्य है।"

विमला बुढ़िया ने कहा, "ठाकुरजी को पुकार कि यह मन ठीक रहे। वरना सब उजड़ जायेगा।"

असली ने कहा, "उजड़ेगा नहीं री, रहेगा। यह स्वाद एक बार जीभ को लग

जाने पर आदमी उसे छोड़ नही पायेगा ।"

वासन्ती देवी, दुमुकीपुर की बेटी, इस गांव में लिंगराज पट्टनायक की स्त्री है। ब्याहकर यहाँ आने को बरस भी पूरा नही हुआ। दुमुकीपुर की छोरियां सोहने गीत गाती है, अल्पना आंका करती है, मिल-जुलकर वेश बनाती है, अपने-अपने बीच सभा समिति किया करती है। कभी-कभी अखबार में छपा करती है, 'आसफअली की मृत्यु पर दुमुकीपुर नारी समाज द्वारा शोक।' अथवा 'स्वेज-नहर के मामले मे दुमुकीपुर नारी समाज का प्रस्ताव।' कभी 'फार्मोसा युद्ध के बारे मे दुमुकीपुर नारी समाज की जरूरी बैठक।' दुमुकीपुर की कई लडकियो का अनेक प्रतिष्ठित घरो मे ब्याह हुआ है। शहर के कई प्रसिद्ध लोगों की ससुराल है दुमुकीपुर, अत. वह विख्यात है।

वासन्ती देवी रूपसी नही, परन्तु उसकी दृष्टि, जूडा बांधना, चाल, बात करते समय चेहरे का झटकना, देह को तनिक बांका कर तिरछे हो बात सुनने की भंगिमा, कभी-कभी हंसते समय मुंह को 'आँ' किये गरदन पीछे मोड बांकी कर आँखें टिमटिमाते हुए लगातार कई मीठे-मीठे शब्द कहना—इन सबका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि कई लोग तो उसे सपने मे भी देखते है कभी-कभी। वह एक मधुर स्मृति है, अनुकरण करने के लिए एक आदर्श। अनजाने ही धीरे-धीरे उसकी चाल, उसका तौर-तरीका, उसका जूडा-साडी बांधना आदि कई बाते औरो मे खिलने लगी है, और उसके चारो तरफ एक आलोचना-चक्र अपने आप खडा होता गया है।

एक कनेर के फूल को धीरे-धीरे गाल पर सहलाते हुए वासन्ती ने अरुन्धती से जो नाण्डु पाइकराय की घरवाली है और उसकी ही उमर की होगी, कहा, "समझी अरु, मै आयी तभी से तो देख रही हूँ इस गांव मे अजीब बात, विचित्र काम। सब तो सनकीपन की तरह चल रहा है। यह कि इतने-इतने काम हो रहे है, इसमे नाटक का सूत्रधार—उनसे हाथ को दो हाथ होने को जी नही करता, क्यो? क्या कन्या अपूर्व है? देखा है तो उस आदमी को! कैसा लगता है?"

अरुन्धती भरे-पूरे डील-डौलवाली बहू, उसका शान्त शीतल, सांवला सपाट चेहरा। कुछ भावों मे डूबी-सी गहरी उसकी दृष्टि। बोली, "देखा है, बात-चीत भी की होगी। सच कहती हूँ, वासन्ती, उस आदमी में क्या है पता नही, देखते ही वैसी बात बिलकुल मन मे आती ही नही। हाथ को दो हाथ! इतने लोग होते है, वे भी क्यो न हो? होंगी कभी तो। वह बात मैने कभी सोची नही।"

वासन्ती ने आँखें नचाकर हँसते-हँसते कहा, "और सोचा क्या है? केवल खाद, खली, गोबर, जमीन, फसल—बस ये ही बातें?"

"केवल इतनी ही बातें? गाँव-भर कैसे एक घर की तरह हो गये, जहां आजकल की दुनिया में बेटा बड़ा होने पर बाप से कहता है कि मेरा भाग मुझे दे दो,

मैं अलग हो जाऊँगा, वहाँ कैसे इस गाँव की जमीन सामलाती, वृत्ति-व्यवसाय सामलाती, चलना-रहना साम लाती—सब कुछ सामलाती हो गया—यही बात सोचती हूँ तभी उस आदमी की बात सोचती हूँ कि दिन नहीं, रात नहीं, पराये पेट के लिए खटता-मरता है, अपने लिए कुछ नहीं। आदमी तो सब है, सबके हाथ-पैर हैं। मैं सोचती हूँ, उनका मन कितना बड़ा होगा! विधाता ने किसमें कैसी बुद्धि दी है!"

वासन्ती ने कहा, "हमारे गाँव में हमारे काका-भाई वगैरह ने भी सामलाती खेती शुरू कर दी। जानती तो होगी ही, अख़बारों में उनका नाम आता है, मेरे दो भाई तो इस विषय में नामी हैं, कितनी बार जेल गये हैं, कितनी विपत्तियों का हँसते-हँसते स्वागत किया है, उसकी कोई सीमा ही नहीं—"

अरु हँसने लगी। बोली, "सच?"

वासन्ती ने कहा, "तुमने उन्हें नहीं देखा, उनका भाषण सुनकर लोगों का खून गरम हो जाता है, लोगों की मुट्ठियाँ भिंच जाती हैं, दाँत किटकिटाने लगते हैं, देखते ही डर लगे, दुमुकीपुर की तेज-तर्रार माटी—!"

अरु ने हँसकर पूछा, "क्या यहाँ से भी अधिक फलती—"

वासन्ती कहने लगी, "विश्वास नहीं होगा तुम्हें, मैं और क्या बताऊँ।" अपने विश्वास और अनुरक्ति पर दूसरे में विश्वास उपजाने की चेष्टा में उसने आँख टिमटिमाकर कहा, "दूब भाई बड़े नेता हैं, दुमुकीपुर वीर-भूमि ठहरी। उन्होंने सामलाती खेती शुरू की। क्या हुआ? किसी ने कहा सामलाती काम सामलाती समझो, अपने चैन से सोये, अपने आप भाग मिलेगा। कोई गया। इधर-उधर ताकता, अपना बड़ा-सा भाग उठाकर छू। धक्कम-धक्का, रेल-पेल, ठगना-खोसना चल पड़ा। आलू लगाया था, बेर की तरह हुए, धान लगाया, देखभाल की नहीं, कीड़े खा गये, जो बचा सो नुकसान हो गया। कलह-तकरार किया, तू-तू—मैं-मैं हुआ और जो फटाफटी थी वह उससे भी अधिक हो गयी।"

अरु ने कहा, "यहाँ वैसा होगा, ऐसी बात क्यों सोचती हो? नहीं होगा। जहाँ मन सामलाती नहीं हुआ, धन सामलाती नहीं हुआ, विचार-विवेक कुछ सामलाती हुआ नहीं, वहाँ ख़ाली सामलाती खेती से क्या उपकार होनेवाला है? तभी वहाँ हुआ नहीं। यहाँ हो रहा है।"

वासन्ती ने तनिक सोचकर कहा, "आदमी क्या केवल काम-भर के लिए है? और कुछ नहीं? देह-हाथ-पैर की कोई परवाह नहीं। पगले की तरह रात-दिन फिरते हैं, क्या ब्याह नहीं करेंगे?"

अरु ने कहा, "उनसे पूछेंगे।"

वासन्ती ने कहा, "सुना था कि पाटेली गाँववाले सिन्धु चौधरी के यहाँ उनका ब्याह को मन था। तब 'हाँ' भी उठी थी, फिर बात ठण्डी पड़ गयी। कहते हैं,

कही-वात-वचन भी हुए थे उनके—"

अरु ने कहा, "वे जैसे झक्की आदमी है ! सचमुच अगर मन होता, बात-वचन हुआ रहता, तव फिर रुकता क्यो ? जिनका कोई काम नही, वे ही तो 'हो' निकालते-फिरते है। अपना उन सवसे क्या आता-जाता है ?"

वासन्ती ने कहा, "नही, आग विना कही धुआँ उठता है ? कुछ होगा। कुछ नहीं तो श्रद्धा ही होगी। कुछ थोडा-वहुत इधर-उधर हुआ होगा। इतने सुन्दर आदमी, सवके इतने स्नेही—तो हृदय पत्थर का हो जायेगा ?" हँसकर कहा, "उस लड़की के मन मे वैसा कुछ होता होगा।"

अरु ने कहा, "कितनी वेतुकी वात है ! कौन-सी लड़की ! सचमुच, या झूठे ही ! तुम यहाँ बैठकर बहेलियो की तरह लकडी में गोंद लगा रही हो। कहो न कि दुमुकीपुरवाली लडकी है !"

वासन्ती ने कहा, "दुमुकीपुर नही, पाटेली गाँव की। दुमुकीपुर की होती तो वह मन की वात मन मे दवाये धरती मे सिर छुपाये नही रहती !"

दोनों सखी ठहाका लगाकर हँस पडी। वासन्ती ने कहा, "ये सब असाधारण है। छाती के अन्दर चाहे लहू-लुहान हो जाये, दाँत भीचे काम में जुटे रहते है। तभी तो वहुत लोभ होता है इनके मन के अन्दर उचककर तनिक झाँक लेने को। वहाँ क्या कोयल नही कूकती होगी, फूल खिलते न होंगे, चाँद उगता न होगा, बस क्या काम-काम-काम !"

अरुन्धती ने कहा, "उई, माई री ! इन्ही को तो कहते है दुमुकीपुरियानी, वात सुने तो आदमी भी भेडा हो जाये। तुम जाकर कहती क्यों नही रवि भाई से ?"

वासन्ती ने हँसी रोकने की तरह मुंह को लम्बा कर कहा, "कह देती, छोडती नही। क्या करूँ, एक व्याह जो कर बैठी, अव कहूँ तो मेरा घरवाला सिर पीट लेगा। वह तो कहता है बैठी रह, पैरो मे महावर लगा दूँगा, क्या करूँ, वता !"

फिर दोनों हँस पडी। अरुन्धती ने कहा, "तुम तो कितनी ही बातें जानती हो। मैं तो सीधी-सादी ठहरी। पर एक बात कहूँगी, मेरे मन को जो भा गयी, ऐसी एक वात। मान ले साँझ हुई ही होगी। गाँव के उस छोर पर मन्दिर की ओर तुम देखती होगी, कोई उधर न होगा। मन्दिर के दरवाज़े से दूर अँधेरे मे दिखेगा कि अन्दर कोई दीप जल रहा है।"

वासन्ती ने उसे वाँहो में घेर लिया। बोली, "समझी, समझी। तुम उस मन्दिर को प्रणाम करोगी, अवश्य, सव करते हैं। मेरा मन करता है, मैं जाकर उस दीप को देखती, प्रणाम करती, तनिक उकसा देती—"

अरु ने कहा, "जाओ।"

"बाप रे !" वासन्ती ने कहा, "मैं भी आदमी हूँ, शायद देवता धर दबोचें तो, मुझे जी-जान का डर है !"

उधर रवि के मन के गहरे में छुरा ढँका निभृत कोना है। वहाँ खाती वह है, अकेला।

कुदाल-फावड़ा लिये साथियों के संग कन्धा लगाये वह जो आदमी जुटा हुआ था काम में, घुटनों तक गोबर-कीचड़ से सना, देह से पसीने की धार बही जा रही है, पोंछता जाता फिर पसीना बह जाता, ख़ुद काम कर दिखाता, फिर कभी साफ़-सुथरा हो कन्धे पर गमछा डाल खजूर की चटाई बिछा पंगत फैलाये परामर्श देता, काम तौलता, नये निर्देश दिया करता, समस्याओं का समाधान कर देता—उसी आदमी के निभृत मन्दिर में एक जगह एक नन्ही कन्दील जलती रहती, बुझती नहीं। वह छवि की बात सोचता और सुख पाता।

जीवन में कितनी थिरकती छायाएँ उसके मन के गहरे में एकदम बन्द दर्पण पर पड़ी हैं, फिर चली गयी हैं, वे ही अगणित नारी-मूर्तियाँ ! कोई यों ही बढ़ती चली गयी है—उसने सोचा ही नहीं। किसी को देखकर आदर से उसकी बात सोची है, स्नेह से सोचा है जिस तरह अपनी काकी या मौसी या भाभी या बहन को लेकर सोचता। इसी फूलशरा गाँव में क्रमशः लाज-संकोच तोड़कर कई आ जाती उसकी संस्था में कार्यकर्ता की तरह काम करने। नारी के सहज आकर्षण की छटा बिखेर, तरल दृष्टि डाल, मुँह दबाये विभिन्न विषयों में उसका मत माँगा है, उत्तर चाहा है। उन्हें उसने देखा है बन्धु और कार्यकर्ता की तरह। उसमें उन्हें लेकर कभी कोई विकार उगा नहीं, उभरकर आया नहीं। वहाँ प्रकटा है विश्वास, निर्भरता, भरोसा। वह उनका भाई, वे उसकी बहन। गाँव-भर के जितने कर्मी, वे मानो परस्पर के भाई और बहन हैं। भेंटने-मिलने के लिए महाभाव का प्रशस्त समुद्र—वेलाभूमि, सब वहाँ तन्मय होकर देखते आगामी सूर्योदय की आभा और वर्णछटा। आशा करते, विश्वास रखते विचारों का तीक्ष्ण प्रकाश डालकर सन्देह और संशय दूर करते। और मिलने-जुलने के लिए होता उनका कर्मस्थल, वहाँ केवल स्वप्न में ढँककर सुस्थि के शतदल पर लेटना नहीं—परिश्रम करना है, जिसमें देह से पसीना बहता, चर्बी पिघलती, मन को उमंग लगती।

और कोई विकार नहीं होता वहाँ।

अथच स्पष्ट रूप से वह औरों के मन की हर दिशा को भी देख पाता। वहाँ देखता कामना के प्रकाश के रंग और सुवास। कितने छुपे उद्देश्यों की चतुराई। केवल देखनेवाले की तरह देखता जाता, जीवन्त आदमी के स्वरूप की विशिष्टता

में देखता देह और मन दोनों को, पर उसका उससे सम्पर्क नहीं होता।

भाई और बहन।

वे आदमी हैं।

पेट को भूख लगने की तरह मन में भी कभी कोई भूख आती। भाई भी समय आने पर सन्तान का पिता होगा, बहन जायेगी पराया घर बसाने, माँ बनेगी, जन्म देगी, पालेगी, पोसेगी। वही आगामी जीवन की झलक कब किसमें कौन-सी छटा किस ठौर में खिलेगी, देह के साधारण रंग की तरह, चाल के छन्द की तरह। खिल उठे, फिर थमी रहे। कर्मसूची में कोई अड़चन नहीं डालती।

काम के लिए ऊपर से लादा गया कोई क़ानून नहीं, कि कार्यक्रम और निर्देश मानकर बाध्य होकर ठीक अमुक-अमुक काम करने पड़ेंगे। फिर भी मानो अपने-आप निर्देशित कार्यक्रम आ गये हैं। उसकी सूक्ष्म डोर एक समूह समाज-चेतना है, सचमुच जैसे कि सबका एक उद्देश्य हो—कि स्वयं को पीछे रखकर सबके उपकार की बात सोचें, उसी में से नाना कर्म-विभाग स्वतः उग जाते हैं।

कल सुबह की तरह लगता है, सब गाँवों की तरह यहाँ की भी औरतें पुआल से बाल-बच्चों की टट्टी पोंछकर टुकड़े को रास्ते पर इधर-उधर, यहाँ-वहाँ फेंक देती थीं। घर का कूड़ा-करकट घर से निकाल देने-भर से ही मानो अपना कर्तव्य पूरा हो जाता। फिर वह मैला पड़ा रहा रास्ते पर। जो उस रास्ते से गुज़रेगा, वह चाहे अपनी नाक-कान बन्द कर जाये, कूदता-फाँदता जाये, जैसे मरज़ी हो वैसे जाये। बड़े बाल-बच्चों का हगना-मूतना भी उसी तरह, अपने घर में या अपने दरवाज़े के सामने न बैठना ही काफ़ी था, फिर और कहीं चाहे जहाँ बैठें, दूसरों के दरवाज़े के सामने, कुएँ के नीचे, लोगों के आने-जाने की खुली जगह में, घर के पास के मैदान में, यही आदत थी। बड़े-बड़ों का टट्टी जाना भी प्रायः उसी तरह, वे लोग मैदान में जाते ज़रूर, परन्तु सुविधा देखकर रास्ते के किनारे, पोखरी की ढाल पर—स्थान का, भले-बुरे का विचार नहीं। विचार बस एक, कि कोई न देखे, बस, अपनी लज्जा छुपा लेने-भर से चल जायेगा—कभी-कभी अपनी लज्जा दूसरों की आँखों को दिखती है या नहीं यह विचार भी नहीं होता, अपनी आँखें नीची कर लो, काम चल जायेगा।

इतने से ही मानो सारे विचार खुद-ब-खुद आते, खिल जाते। बीमारी होती तो लोग रास्ते पर पूजा कर सिन्दूर, चावल, फूल, दीपक रख आते। मन-ही-मन कहते, "मेरे घर से रोग जाये, और किसी को हो तो हो।"

अथच किसी ने हुक्मनामा जारी नहीं किया, किसी ने ज़बरदस्ती नहीं की, एक दिन देखा गया दल-के-दल गाँव के स्त्री-पुरुष टोकरी लिये घूम-घूमकर मैला उठा ले जाकर गड्ढे में भर रहे हैं। बुहारी लेकर चलने-फिरने की जगह, रास्तों के खुले स्थानों को साफ़ कर रहे हैं। किसी ने सिखाया नहीं, अपने-आप बन्द हो गयी इधर-

उधर गन्दगी करने की युगों की आदत। पैखाना जाने के लिए गड्ढे खोदकर उस पर काठ डालकर पास में माटी रख टट्टी से ढँककर जगह बनायी गयी, अब यह मानो गाँव का साधारण चलन बन गया।

कितने ही चलन तो यों अपने-आप आते हैं। एक साथ मिल-जुलकर जगह-जगह सब मिलकर सबके मैले कपड़े-लत्ते एक साथ उबाल-धोकर साफ़ करना, भीत और फर्श लीपना-पोतना, गुहाल साफ करना, अकेले आदमी के वश का होता नहीं, समय होता नहीं, अत: साफ-सुथरा रहने के लिए जितनी बाधा होती, उदासीनता आती, मिल-जुलकर वे सारी असुविधाएँ दूर करना। नये विचार से नया चलन, नये चलन में नये विचार—इसी तरह कितनी ही बातें इस गाँव से स्वतः निकली हैं। उन्हीं में से निकली है—सामलाती खेती, मामलाती वृत्ति और मामलाती अर्जन के जीवन की चारुकला। ढीली हो, फिसलकर गिर पड़ी है जाति-कुजाति की 'छी-छी'। एक होकर दल बढ़ गया है। वह दल ऐसा मामलाती नहीं कि जिसे एक आदमी या एक दल हाँककर लिये जाता हो, अपनी इच्छानुसार, और लोग डर-डरकर मानते हों सजा के भय से। उस दल में सब अपने-आप सोचते हैं, स्वयं से पूछते हैं, तौलते हैं, कसते हैं कि विचार सामूहिक मंगल के लिए है या नहीं, अतः वे एक हैं—जैसे सब हाथ-पैर मिलकर चलते हैं।

और तभी सबका लगाव और आकर्षण भी झुक पड़ा था जमीन पर। सब मानो उस एक ही बात के लिए पागल, एक ही तथ्य कि आदमी की देह बचाये रखने के लिए जो चाहिए—वह सब आयेगी माटी से। उत्पादन बढ़ाना ही पड़ेगा। तभी इस साल की खेती में ख़ूब कस-कसकर गहरे हल चलाये गये, जमीन का रूप बदला। ख़ूब खाद दिया गया, चूल्हे की राख, पोखरी का कीचड़, गाँव-भर का कूड़ा-कचरा, गोबर झरे हुए पत्ते, सब जोड़-जाड़कर खेतों में डाले गए थे, खाद तैयार हो रही थी। कितने पुराने दिनों का तरीका, फिर और तरीक़े शहर से उड़-उड़कर गाँव में घुसे। जितना सम्भव हुआ सबका उपयोग किया गया। कितनी जगह कितने कुएँ खोदे गये गरमियों में, पुराने कुएँ-बावली का उद्धार किया गया, टांड

था। बारम्बार चारों ओर से लोग आते, देखते, परामर्श लेते, विचारते-परखते। पास के गाँव से सेवतीपाटपुर में एक चक में भी चार जाति के चार जनों की जमीन, एक मलिक, एक धोबी, एक खण्डायत (राजपूत), और एक ब्राह्मण। देखा-देखी में उन्होंने भी सारे चक को मिलकर जोतना शुरू कर दिया। धोबी के बेटे को स्कूल में पढ़ाने के लिए बूढ़े नारायण मिश्र ने अपनी इच्छा से बुला, रुपये देकर शहर भेजा। कई जगह चुपचाप ऐसी ही कितनी छोटी-मोटी घटनाएँ हुई थीं।

परन्तु नये उद्यम में मत्त होकर फूलशरा केवल उत्तेजना के भरोसे ही नहीं

चल रहा था। बारम्बार लोग परस्पर में और अपने को चेताकर कहते थे—होशियार, हमें पुआल की आग की तरह जलकर बुझना नहीं है, उसमें तो बस व्यर्थ ही समय और शक्ति की हानि है। वे कहते, केवल 'हो' से भड़क उठने पर बाद में 'हो' चुक जाती है। उदासी आती है, मुखौटा और वेश खोलकर रख दिया जाता है, विमान उतारा जाता है, मृदंग टाँग दिया जाता है। विचार के साथ सबके चलन की धार स्वतः न मिलने तक विचार जमते नहीं, खिसक जाते हैं। केवल उत्तेजना के वायदे से लोग बँधे नहीं रहते, 'बूझा' का दिन बीत जाता है, ठाकुरजी रहते हैं अँधेरे घर में, दोनों जून बस तुलसी पत्र और ज़रा-सा गुड़, साधु बाबा गाँव से झोली-डण्डा उठाकर गाँव से अपसारित हो जाते हैं। पुरानी पीठ पर व्यर्थ ही उठती है पुरानी ध्वनि की गूँज, कोई सुनने नहीं जाता। कितने मत, कितने विचार, कितने भेष पहन इस गाँव-गली में हल्ला-गुल्ला मचाकर जाने कितने अतीत में खो गये हैं। आज वे नहीं हैं। होशियार! वैसा कुछ न हो इस संस्था का। कोई बाध्यतामूलक क़ानून हो तो लोग कानून तोड़ने की चेष्टा करते हैं।

रह जाता है केवल वही जिसे एक-एक आदमी अपनाता है, जो उसे हृदयंगम कर उसके चलन की धारा बन जाता है। अन्धविश्वास नहीं, डर से मार-दबाकर बाध्य होकर सजाया गया दूसरों का मत नहीं, परायी सीख में पड़कर उत्तेजना में बहकर स्वीकार की गयी धारणा नहीं, रेवड़ हाँकने की आवाज़ नहीं—चिरस्थायी होता है आदमी का स्वाधीन विचार सुमति, आदमी के स्वभाव और परिस्थिति को रचनेवाला जीवन-नियम।

काम-धन्धे के बाद पुराने ज़माने के ज़मीदारी-कचहरी-घर में साँझ को कभी-कभी गाँव की पंगत बैठती। जीवन के साथ शास्त्र को मिलाकर उसके अर्थ पाने में समर्थ होते गाँव के साधारण आदमी, कोई बढ़ई या लुहार या अहीर या चासी या और कोई जो अपने जीवन के बारे में सोच सकता है या शास्त्र के अर्थ का अनुभव कर समझ सकता है।

पुराने बरगद की छाया तले बैठ साँझ ढलते-ढलते उस बार फूलशरा के लोग *शास्त्र और पुराणों की चर्चा कर रहे थे। बीच में लिपी-पुती ऊँची जगह बनी थी,* गाँव की लक्ष्मियों ने मन लगाकर उसे फूलों के हार से सजाया था। उसी के पास एक चटाई पर बैठे थे धोबेई मिश्र। चारों ओर घेरे थे गाँव के लोग—एक ओर स्त्रियाँ, दूसरी ओर पुरुष। थोड़ा हटकर दूसरे गाँव को जाने का रास्ता है, कन्धे पर गठरी लादे कहाँ-कहाँ के हाट- बाहुड़े बटोही एक-एक आ पहुँचे थे। धोबेई मिश्र भागवत सुना चुके थे। एक-एक आदमी उठकर अपने मन की बात कह रहा

था। उसमें गहरी श्रद्धा थी, आवेग और आन्तरिकता थी। न अभिनय था, न प्रचार के लिए कोई चेष्टा थी। हवा में मानो एक अजीब तरह की पावनता भरी थी, पेड़ पर चिड़ियाँ किचिर-किचिर कर रही थीं। सूरज देवता सचमुच जैसे कुतूहल से देख रहे थे।

बूढ़ा मुरारी राउतरा खड़ा था। खूब खुला चेहरा, सारे चेहरे पर खिचड़ी दाढ़ी, चौड़े कन्धे पर मटमैला गमछा पड़ा है। थुलथुल पेट, मुँड़ी के नीचे कसकर बँधी है एक खादी की मोटी धोती। पान चबाते-चबाते खुले मुँह से मन की बात बूढ़ा कहे जा रहा था—"ये जो ढेर-के-ढेर ताड़पोथियाँ पड़ी हैं, वे सब क्यों लिखी गयी थीं? क्या खा-पीकर आराम करने के लिए लोगों के पास और कोई रास्ता न था कि ताड़पत्र पर लेखनी की नोक चलाते थे? अपने मन की नोक भरकर वे शास्त्र-पुराण लिखा करते थे? या वे सब इतने लिखे गये थे केवल बाबाजी-सन्यासियों के लिए? नहीं, वो बात नहीं, वो सब लिखे गये थे हमारे ही भले के लिए। नरग-नरक तो बाद की बात है, किसने उन्हें देखा है। उस लोक में जाने पर कोई आकर कहेगा कि क्या कुछ है? इसी पृथ्वी पर आदमी कैसे चलेगा, सुख-चैन से उस बारे में जो सोचा था युग-युगों तक, वही बातें लिखकर रख गये हैं। कितनी आशाएँ की थीं, बेटे-पोते-पड़पोते—उनके भी पोते आयेंगे, उस मार्ग पर सचाई से चलेंगे, यह घर, यह गाँव, यह राज हँसता होगा। वह आशा आशा ही बनकर रह गयी, फलीभूत न हो सकी।"

धनि साहू उठ खड़े हुए। पतले छड़ की तरह के आदमी, पत्तियों की तरह चेहरे पर लम्बी मूँछ, पुँछा हुआ-सा लिलार, गंजे, धँसी हुई छोटी-छोटी आँखें दोनों नीली पड़ आयीं। बोले, "सच कहा राउतरायजी! विद्या रह गयी पोथी में ही बन्द होकर। इंगरेजी आयी, इंगरेजी में लिखी होती तो हमारे पढ़नेवाले लोग पढ़ते, सो तो है नहीं, उसका आदर वे क्यों करेंगे?"

सब हँस पड़े। अँगरेजी की आलोचना करने में मानो उन्हें खूब मजा आता है। धनि साहू कहते गये, "हमारी पढ़ाई तो हमारे संग रह गयी। चला इंगरेजी का राज। शहर भेजा इसलिए न कि लड़के आदमी बनेंगे, भली बुद्धि सीखेंगे, गाँव चहक उठेगा। बस जानो, वो इंगरेजी पढ़ाई ही काल हो गयी। जिसने पढ़ा उसकी रुचि बदल गयी, उसका सिर फिर गया, उसे जो कुछ चाहिए, उसने सोचा कि वो सब शहर में मिलता है। उसे गाँव में दुर्गन्ध आने लगी। सिर झुकाने लायक उसे गाँव में कोई नहीं मिला; सब मिले शहर में। इंगरेजी विद्या पढ़कर उसने जो वृत्ति सीखी—वो भी शहर में है। चाकरी-चाकरी, लिखायी-पढ़ायी का काम, शहरी व्यापार, जो भी कहो। वह शहर गया, साथ ले गया अपने बाल-बच्चों को। इतने पैसे खरच कर इतनी मेहनत कर इंगरेजी पढ़ायी केवल इसलिए कि ढेर-के-ढेर बुद्धिमान् लोग गाँव छोड़ जड़ काटकर परदेसी बने फिरें! हाय हाय!"

धीरेन्द्र मिश्र बोले, "ये जो कुछ कह गये, सो सब ठीक हैं। गाँव-गाँव में खाली डीह पड़े हैं। यह किसकी डीह है? फ़ला बाबू किरानी की। यह किसकी? तो फ़लां डिप्टी बाबू की। अमुक बाबू शहर में डॉक्टर हैं, ये वकील बाबू की डीह है। उन्हीं शहरियों की बुद्धि से रुचि से देश चलता है, बाक़ी सब तो हाथ उठानेवाले हैं, वे शहर में रहनेवाले लोग गाँव के लोगों के भले के लिए बना रहे हैं योजना। सब ये बचपन में गाँव में रहे थे, बचपन में गाँव को जितना जाना-पहचाना था, या सुन-सुनाकर जितना गाँव का भला-बुरा उनके कानों में पड़ा, बस उसी से उनमें गाँव के बारे में ज्ञान है। शहर में रहकर, गाँव के भले-बुरे के बारे में व्यवस्थाएँ बना रहे हैं। इसीलिए कैसे करने पर जल्दी-जल्दी गाँव भी शहर की तरह दिखेगा—इसी चेष्टा में वे लगे हैं। तभी गाँव की असल समस्या हल नहीं होती, वरन् बढ़ती ही जा रही है। यही तो मुश्किल है!"

उनका चेहरा उदास दिख रहा था, स्वर में खिल रही थी आन्तरिकता। बोले, "पहले ज़माने में लोगों ने गाँव क्यों बसाये थे? एक साथ सुख से रहेंगे, इसीलिए तो? मिल-जुलकर एकत्र रहेंगे, तभी तो गाँव हुए। वो एकता कब से लोप हो गयी। शहर का अकेलापन गाँव में चला आया है। कोई किसी के लिए दायी नहीं रहा, किसी के मरे-जीये से मानो किसी को कुछ नहीं लेना-देना। परिवार टूट रहे हैं, भाई-भाई में अनबन, गाँव-भर में फूट, दल-के-दल बनकर सिर्फ़ कलह-फ़साद, विरोध, मन-मुटाव। अविश्वास अनिश्चितता।

इधर किसी के झाड़ पर केले की घौद हुई, तो कल सुबह तक झाड़ पर रहेगी या नहीं—कोई भरोसा नहीं। किसी ने आम का पेड़ लगाया, और कोई उसमें से डाल छाँटकर ले गया जलावन के लिए। नारियल के पेड़ पर तो डाभ टिकने ही नहीं पाते। रातों-रात लेकर चम्पत! खेतों में वही, बाड़ी-बगीचे की भी वही दशा, कौन देखता है किसने किया? घर छोड़कर आदमी परवास में रहेगा, तो इधर धान खींचकर गायों को खिला देंगे, बाँस खींचकर जला डालेंगे, समय मिला तो खिड़की-किवाड़ भी चले जायेंगे। ज़रा-ज़रा बात पर गाली-फ़जीहत, किसी की बात कोई सुननेवाला नहीं। सहने की शक्ति भी कम होती जा रही है। नीति खिसक पड़ी।

देखो, सत भी डूब गया, बस केवल ठगकर खाने की सुविधा दिख रही है। जिसे जो दिया, समझो कि वो गया, वो लौटेगा नहीं। इधर ब्याज बढ़ गया, भाव बढ़ गये। ज़मीन के मालिक बटाईदारों को ठगने लगे, चूसने लगे। फिर सफ़ेद काग़ज़ पर निशान लिये गये तो बटाईदार भी हिस्सा मारने लगे, जिसे जो मिला, वह उसे ही दबा बैठा। खुलने का और नाम नहीं। जो सका, वह बच पाया, जो नहीं सका उसके घर चूल्हा भी नहीं जलेगा। यही हुआ गाँवों में। ऊपर से अपने अन्दर तो घुन लगा है, आदमी का बुद्धि-विचार लोप हो गया। [illegible]

वल नही, सो लड़खड़ाता है, बाहर से कोई कितनी ही मदद करे, उसकी अवस्था सुधरेगी कैसे ? मानवता जहाँ ढह गयी है, वहाँ बाहर से रुपये आकर सड़क, कुआँ, पोखरी बन जाने से क्या टूटा घर जुड़ जायेगा या आदमी सुख से रह सकेगा ?"

"एक होना ही पड़ेगा। हमने जैसा किया वैसे सबको एक होना पड़ेगा। वरना निस्तार नही है"—अनेक आवाजें इसी तरह की सुनायी पड़ी।

साधु जेना ने कहा, "एक साथ चले बिना किसी को सुख नही मिलेगा, कोई चैन नही पा सकेगा। लोग केवल हिंसा की आग में जल रहे है। रुपये छोड़ जाने या ज़मीन छोड जाने पर वह बेटे-पोतों को मिलेगी या नही यह भी विश्वास नही रहा। वरन् सारा गाँव एक हो गया तो आदमी चैन से आँख मीच सकेगा कि बाल-बच्चों को गाँव पोसेगा-पालेगा। भले-बुरे का दायी होगा, एक के लिए इतने लोग हाजिर होंगे।"

"हाँ यही तो बात है, बिलकुल यही—" चारो ओर से उल्लास मे आवाजें सुनायी पडी।

रघु जेना इस गाँव का बुद्धिमान् पुरखा आदमी ठहरा। साफ़ चमचमाता गोरा चौडा ललाट, अच्छे खासे हाथ-पाँव, देखने मे तनिक नाटे-से। उठकर कहने लगे, "बात तो वही ठीक है, बस यह मेल, यह मन रहने की बात।"

शोर थम गया। सब उधर ताकने लगे। वे कुछ चुप रहकर फिर कहने लगे, "हमने वचन दिया है, शपथ ली है, हमने बात समझी है, एक साथ हुए है, हमारा गाँव एक समूची इकाई है, यहाँ 'बारह नीति—तेरह न्याय' के भेदासुर-बाणासुर नही। हम मेल बना सके हैं, फिर भी हम है कहाँ ? चारो ओर क्या है ? हम क्या दुनिया से बाहर है ? इस दुनिया मे क्या चलता है सो तो सुना। मन को अगर कडा न रखा, तो फिर तुम्हारे कान फूँकने और लोग आयेंगे। फिर इसका-उसका देखकर तुम्हारा मन छटपटायेगा, आँखें झुलसेंगी। आदमी दो टाँगवाला है—पाँच मन पचीस प्रकृति जो ठहरी उसकी ! फिर ये कोई सतजुग नही, ये घोर कलजुग ठहरा—"

"नही, नही, वैसा नही होगा—!" कई लोगों ने कहा, कई लोग चुप्पी मारे बैठे रहे, औरतो मे अधिक चर्चा होने लगी। बाद मे सब देखते रहे रघु जेना के चेहरे की ओर। ख़ूब ऊँची नाक, मुँह पर अस्त के समय की ललायी पड़ रही है, पतले होंठ मुँदे पडे हैं, पत्थर की तरह वह चेहरा, निस्तरंग। दूर देखकर सोचते-से लग रहे है वे। तगड़े आदमी रघु जेना यों ही बातों मे वह नही जाते, सोच-विचार करनेवाले ठहरे। कुछ सोच रहे है जानकर लोगों की निगाहे उनके चेहरे की ओर उठी हैं।

रघु जेना ने कहा, "ये अपने जीवन का चलन है। जीना-मरना, घर करना, ससार में रहने की बात। हम एक नयी बात कर रहे हैं, एक नया रास्ता खोज

रहे हैं। अपने मन से तो पार पाया नही जा सकता, उसके बाद फिर है घरवालियो के मन, बाल-बच्चों के मन, सब अगर विश्वास न रखे तो यह मेल नही रहेगा। पेट के सुख के साथ मन का सुख, चारो ओर अगर ये आँखे सुख देखती रही तो विश्वास में बल रहेगा। वह सुख अपने-आप नही आयेगा या केवल गाते फिरने से नही आने का, बच्चे-औरते, बडे मरद सभी जुट पडे तो यह काम चलेगा। वरना अगर सोचे कि सामलाती में तो चल जाता है फिर परिश्रम किसकी खातिर करे, तब तो हो गये निहाल···और क्या ? एक अगर ठलुआ आलसी निकल पडे, बस फिर उसकी देखा-देखी दूसरा भी हाथ रोक बैठेगा, कोई पाशे की बाज़ी बिछाये बैठेगा है, और कोई गया मृदग बजाने। सामलाती घर टूटते कैसे है, बस इसी तरह तो ?"

धोवेई मिश्र ने उठकर हँसते-हँसते कहा, "जेनाजो ने जो कहा, एक-एक अक्षर सच है। बाधा-विघ्न बहुत है, विपद् बहुत है। इस विपद् से तरने के लिए एकमात्र रास्ता है—अपना विचार। सिर्फ़ मैंने कहा या उसने कहा और विश्वास करके अपने विचारों को नीद में सुला देने से कुछ होगा नही। वह काम तो ढाई दिन का है। लोग ज़रा-सी दातौन तोड़ेंगे नही, गुड़ाखू घिसेंगे। पिठा-पना बनायेंगे मामूली, बस जाकर सब ख़रीद लाओ। वैसे ही, मत भी तैयारी मत हैं। लो, पकड बैठो किसी एक को, आँख मूँदे रास्ते पर चल पड़ो, और लोग तो बचा ही लेंगे, हम अपनी आँख खोल देखें, इसकी जरूरत क्या है ? ऐसा करने पर दूसरो के हाथों से कठपुतली बनकर नाचने के अलावा और क्या होगा ? सब तो बनेंगे कठपुतली, रस्सी पकड़ नचायेगा कोई और। उसमे भी फिर कौन-सी स्थिरता है—आज ये नचायेगा, कल वो नचायेगा !

ऐसे ही कठपुतलियाँ नचानेवाले सूत्रधार गाँव-गाँव में बन बैठे है। एक आवाज़ उठाता है, आशा दिखाता है, बाकी लोग बस उसके पीछे-पीछे पागल हो दौड़े जाते हैं—पण्डे के पीछे-पीछे यात्रियों के दल की तरह। वे लोग फिर बन जाते है नेता। ऊपर हाकिम या व्यापारी या बडे-बड़े नेताओ के पास उनकी दौड-धूप वैसी, क्या ना हमें लो, हम भोट करवा देंगे, गाँव के लोगों को राज़ी कर विकास का काम करवा देंगे, ये करवा देगे, वो करवा देंगे। उधर लोगो को भी भुलावा देते हैं कि बाहर से सहायता लाकर ऐसा करवा देंगे, वैसा करवा देंगे।

बीच मे है ये चीतल मछली !

मान लो मदद भी आ गयी। रुपये आये देश के विकास के लिए, सबका लाभ होगा इसलिए। हुआ क्या ? एक भाग उन्ही के मुँह मे। उन्होंने घर बनाये। सड़क बनेगी तो उनको ही बस्ती होकर या इनके घर होकर या उनको जमीन होकर। पोखरी बनेगी तो उनके पिछवाड़े के पास, पुल उन्ही के आने-जाने के रास्ते में। मछलीतेल में मछली भूनी, कुछ लोगों के हाथ में रखा, दल बढ़ाया,

उन्ही के हाथ मे लोग, लोगो के हाथों मे भोट की क्षमता, समझो उनके ही हाथ मे भोट की क्षमता, उन्ही की ख़ातिरी, उन्ही का कमीशन। गाँव मे बड़ा आदमी कोई आये, आम की वन्दनवार लगा, मृदंगिया, शख बजानेवाले बुलाकर स्वागत के लिए खडे हो जाते है, उन्ही मे से कोई तो। राजा-रजवाड़े-जमीदार तो गये, यह है एक नयी श्रेणी, एक नये शोषको का गिरोह। वे ही व्यापार-वाणिज्य, भला-बुरा कब्जे मे करते है। टीन के डब्बे मे घी आया या दूध आया गाँव में बाँटने के लिए, तो वह देखा जायेगा उन्ही के घर पर। वे लोग गिद्ध की तरह हम पर भी आँख गडाये बैठे है।"

सुनते-सुनते बई मलिक छटपटा रहा था, उठकर चिल्लाया, "टाउटरों को पीटो !"

अर्पतिया ने आवाज लगायी, "टाउटरो को गाँव से निकाल दो।"

धोवेई मिश्र हँस पडे। कहने लगे, "क्यो, टाउटर पैदा होते है किस माटी मे ? माटी का शोधन करेंगे तब तो टाउटर जायेंगे, वरना वे जायेंगे कैसे ? कहीं लिखा हुआ है कि फलाँ आदमी टाउटर है, वह चला जाये तो गाँव निश्चिन्त होगा ? लोग लोभ मे पडकर रातो रात बड़ा आदमी बनने के लिए बाबाजी के चक्कर मे पडते है, रुपये का दो रुपया होगा—यह विश्वास कर उनके हाथ मे धन रख देते है ! हम क्यो एक-दूसरे को रौंदकर मैं-मैं तू-तू करे ! अपने बल से तो कुछ न होगा यह मानकर दूसरो का आसरा खोजेंगे तो लकडी से नचाने के लिए अपने आप हम में से टाउटर निकलेंगे।"

बाद में रवि ने कहा, "स्नेह-श्रद्धा से हम एक साथ हुए है। इसलिए कि सब का भला हो। मन में जब सन्देह आता है, उसकी आलोचना कर लेना ही ठीक होगा। आग को छिपा लेने पर किसी का भला होगा नही। कोई दूसरा रास्ता पकड़ेगा, कहकर जिसे जाना हो जाये। कानून जोर-जबरदस्ती कुछ नही है, मन न माने तो उसे रोकने से कोई लाभ नही। सब अपनी रुचि की बात है।"

हँसी की फुहार बरस रही थी। उन्होने कहा—"यह मेल युग-युग तक बना रहेगा।"

इसी तरह कितनी चर्चाएँ ! कभी मिल-जुलकर दल मे बैठकर, कभी काम के समय, उसमें विचार स्वच्छ होते, विश्वास दृढ़ होता। गाँव अपने इस नये रास्ते पर चल रहा है, दिन-पर-दिन उत्साह बढ़ता जा रहा है। बुद्धि पर किसी का एकाधिकार नही, नाना पात्रो मे नाना सद्बुद्धि, कभी किसी के माथे मे अच्छी बात निकलती है, तो लगता है सबका भला इसी में है, सचमुच जैसे इसी तरह

सोच रहे थे। रवि यहाँ नेतृत्व के गौरव का दावा नहीं करता।

मां-बाप को देखने बीच में गया था, पर दो-तीन दिन भी रुक न सका। पिता ने बेटे के साथ बैठकर सुख-दुःख की चर्चा करने की आदत नहीं डाली, परन्तु अब की बार चेष्टा की थी। उनका स्वास्थ्य कैसे धीरे-धीरे खराब होता जा रहा है, घर के बारे में बड़ा बेटा कवि किस तरह उदासीन है, और उन्होंने रवि से किस प्रकार की आशा की थी—इसी प्रकार नाना तरह से घुमा-फिराकर अपनी दुर्बलता और असहायता का बल और भरोसा लेकर रवि के मन को बदलने की चेष्टा की। उन्हीं लोगों की बातों के बीच मानो कहीं से सुनायी पड़ रहा था रुँधी-घुटी रुलाई का स्वर, नाराजगी में भीगा और ऊष्मा भरा।

माँ ने बहुत कम ही कहा था, मानो सब चुक गया है। कहने को और कुछ रहा नहीं, बस आँसू, दीर्घश्वास। अन्त में बोली थी, "तू यहाँ रह, वरना जहाँ है वहाँ ले चल मुझे, और क्या कहूँ। मेरा क्या बल है, कि तुझसे कहूँ?" उन्होंने संकेत दिया था; "हो तो वही सिन्धु चौधरी के घर ब्याह कर ले, कौन मना करेगा तुझे! बस वह अपने घर लौट आये।"

वह समझ गया था, उनके जीवन की धारा में कहीं से जाने कैसे एक बड़ा तूफान गुजर गया है। सब कुछ होने पर भी वे निःसहाय हैं, वे उसका साथ चाहते हैं।

"जो करना चाहता है, यहीं कर, यहीं रह, हम तेरी बाट जोह रहे हैं।" इसी प्रकार उनके हाव-भाव में कातर अनुनय था। गाँव के लोगों का अनुनय केवल हाव-भाव का नहीं हो तो, घेरकर नाना प्रकार से उन्होंने समझाया था, प्रतिश्रुति और सहायता चाही थी।

सब था एक ओर, परन्तु अपने में था एक प्रबल आवेग का अहरह धक्का। उसने उसे रुकने नहीं दिया। चुप होकर शान्ति से वह पल-भर भी बैठ न सका। माँ-बाप को तुरत-फुरत प्रणाम कर स्वप्न में तैर आने की तरह बड़े तड़के ही रवि अपने कर्मस्थल को लौट आया था।

छोटा होने पर भी एक सामलाती में चलने लायक गाँव, इतने लोगों के सम्मिलित बाहु-बल से एक बरस में कितना काम हो सका है। चकबन्दी होकर सीढ़ियों की तरह थाक लगी है, बड़ा भारी चक बना। गाँव के उधर बारहमाणिया मैदान में से कितनी जमीन निकली है, कितने बगीचे लगे हैं, पोखरी खुदी है, उस पर बड़ी-सी साग-सब्जी की बाड़ी। गाँव में सबके खूब खुले घर, पहले के अवहेलित बाउरी-बस्तीवालों के लिए भी। लोगों को अपनाते-अपनाते गाँव बदल गया है। अपनाना ही बदलने की पहली सीढ़ी है। फ़सल अच्छी हुई है, गाय-गोरू हृष्ट-पुष्ट हैं। लोग आशा से भरे हैं, सुखी हैं। परन्तु इतने में ही उसकी करनी थमती नहीं। समय को भेद कर दूर का स्वप्न देखते हैं—एक दिन चेरेगो नदी धार-धार हो इन खेतों-

मैदानों पर से वह आयेगी, गाँव का अनुष्ठान और भी बड़ा होगा, और भी दृढ़ होगा। और कितने अनुष्ठान बैठेंगे, चलेंगे कितने कल-कारखाने घर-घर में, यह गाँव बढ़ेगा, कितना कुछ कहीं से आयेगा, सचमुच जैसे बैठेगा एक विराट् मानव-मेला। सोचते-सोचते, देखते-देखते, गाँव की सीमा-सरहद भी आँखों के आगे विलीन हो जाती, अपसारित हो चले जाते चिह्न, ढूह, पेड़, घर, बरसा में उगी घास की तरह बहुत सारे ऐसे ही खड़े होते कितने गाँव-गली, स्वाधीन-सुखी आदमियों के गाँव, हँसी-खुशी उच्छरित होकर लहरें फैल जाती दूर दिगन्त तक।

उसी दिन जब नये तैयार किये गये खेत में निराई का काम चल रहा था, दिन के करीब तीन बजे होंगे। दो-तीन घण्टे लगातार काम कर चुकने के बाद खेत में उठकर जाकर ऊँचान में एक अकेले ताड़ के नीचे घास पर बैठे दूर देख रहा था, और उस पर वही लययोग उतर आया था। दिन-रात ख़ून-पसीना एक कर लोग धरती खोद भातों की थाली सजाने में लगे हैं। सारी आशा, सारी श्रद्धा और देह का पसीना इस माटी को बल देता है। लहराते गुच्छे भरे फूलों भरे धान के पौधों का हलका हरा समुद्र। आकाश में हलके-हलके मेघ छाये हैं, नीचे हलका हरित नीलम दिख रहा है। खेत के उधर और भी ख़ाली ज़मीन पड़ी है, जगह-जगह एक-एक पेड़, उसके उधर एक ओर झुरमुटों-सी जगह, बाद में ढलान चली गयी है, चेरेंगी नदी की ओर, उधर जहाँ गोल-गोल घना दिख रहा है खस का झुरमुट। खेतों में इधर-उधर लोग दिख रहे हैं, पुरुषों के साथ गाँव की कई औरतें भी खेत में उतर पड़ी हैं। वे ही जो पहले चबूतरे से नीचे कदम रखने में कुण्ठित होती थीं, बड़ी जाति की कहलाती—इस कारण उनके चलन के तरीके में श्रम की मनाही थी, वे भी शौक से निराई के काम में लग गयी थीं।

एक बार शुरू करने के बाद विचार ख़ुद ही अपना रास्ता स्वयं दिखाता ले चल रहा है। उधर कुछ ही दूर पीछे की ओर, देवदारु के पेड़ के नीचे, नये घर के बगल कला हिस्सा है। ब्राह्मण पाणु मिश्र के घर के पास ही गेड़ मलिक कण्डरा का नया घर। खाली जगह पड़ी थी, पाणु मिश्र ने स्वयं प्रस्ताव किया—रग मिश्र के सारे वंशवाले दो बरस पहले हैज़े में मर गये, तब से अकेले पड़े हैं, गेड़ मलिक आ जाये तो ठीक हो, और फिर गाँववालों ने कितनी खुशी से घर खड़ा कर दिया। एक दृश्य-पट पर सज गया है सब कुछ, मूँगिया आकाश तले तोतापंखी धान के खेत, कूर्म पीठ से धूसर टीले और चेरेंगी नदी के किनारे कलौंचा बालूचर, एक-एक ताड़, कहीं छोटे-छोटे आम के पेड़ और बाँस के झुरमुट। उसी दृश्य में एक साथ हुए हैं पाणु मिश्र और गेड़ मलिक।

ऊपर ताड़ पकने को आये, लाल और काले चित्र बने फल भरे-लदे हैं। नीचे घास पर धूसर-धूसर मधुगुप्ती की नोक। घास के दाने चुगने के लिए मानो गाँव-भर की गोरैया सारे खेत पर बैठी है, एक साथ झुण्ड-की-झुण्ड उड़ती हैं, दूर का

मैदान पक्षियों के फड़फड़ाते पंखों से झिलमिलाता दिख जाता है। दूर आकाश में गिद्धों का एक झुण्ड उड़ते-उड़ते एक ओर चला जा रहा है। खाली नीलाभ क्षितिज की ओर देखते-देखते रवि की चेतना ने अपने सामने की दिखती चीजें छोडकर स्मृति और भावना का आश्रय लिया है। घास पर घुटने मोड पीठ की ओर दोनो हाथ नीचे टेक सहारा लिये बैठ गया है। माथे पर बाल बिखर आये है, चेहरा उठा हुआ है आकाश की ओर। धूप में सीझी खाली देह में जगह-जगह कीचड के छीटे लग गये हैं, कस-कसकर बाँधने की तरह कडी माँसपेशियाँ। वैसी सफेद तो नही, मोटी धोती एक ऊँची-आँची बाँधे है वह।

रवि के मन मे गम्भीर सहानुभूति के साथ मिलकर आदमी का दृश्य खेल रहा था, और वह सोच रहा था।

अभाव से पीडित आदमियो का रूप फैल जाता, जिस तरह कि वह उन्हे बचपन से देखता आया है—नाना अवस्थाओं में, गाँव के टूटे झोंपडो में भूख से छटपटाते कई बच्चों को ढाँपे सिकुड़े चेहरे। हडीले रोगी, औरत-मर्द। शहर के बीच दिन-दोपहर में किस ओर से आकर किसके घर की बहू-बेटी ईंटें ढो रही है। साठ बरस का बूढा सिर पर काठ का बोझ लादे बेचने के लिए धूप-ही-धूप मे चला जा रहा है। हेंगा की तरह छाती और पीठ के हाड साफ दिख रहे है। चल रहे हैं फटे-पुराने पहने हाड-चाम के समूह, रूखे-सूखे सिर लिये, खोखट मे धँसी चमकती पथरीली आँखे।

खाली रास्ते पर नही, वह तो सब जगह निगाह मे आ जाता है। गाँव में, शहर मे, घर-घर में उस दारिद्र्य ने काला कपडा ढँक दिया है, तभी हल्ला नही मचता। घर का दृश्य घर के आँगन मे ही रह जाता है, एक और दूसरे को देखता है, वे लोग मान लेते है कि ससार मे जितने दिन तक रहेंगे, ऐसे ही पेट सूखकर पीठ से सट जाता रहेगा। ऐसे ही फटे-चीथड़े पहनने होंगे। जब जो मिला खा लेंगे, पानी पीकर दिन काट देंगे। साग-कुल्थी या भात पावरोटी, बस इसी में सीमित हो बँधे रूटीन में चलता होगा यह जीवन। अभाव के साथ युद्ध करते-करते उमर पूरी हो जाती रहेगी। सूखी-सूखी देह, आधा-अधूरा चेहरा, भरपेट भोजन के अभाव मे देह मे रोग, चेहरे पर श्रीहीनता, मन में आशका और उद्वेग। प्रकृति अपना काम कर जाती है, ढेर-के-ढेर बच्चे जनमते हैं, कोई मरता, कोई जीता। ये ही तो दिख रहा है, जीवन वहाँ जीने के लिए। सग्राम है, समाज में अपनी मानवता की मर्यादा रखने के लिए। कितने लोग बड़े-बड़े घर खड़े करते है, धन जोडते है, यान-वाहन मे घूमते हैं—वे इस ससार के सुखी लोग है, भद्र है। धन लाता है प्रभुत्व, सामाजिक अवस्था पर कर्तव्य और नियन्त्रण की डोर, आशा और योजना। नीचे से तारतम्य बनाये रखकर अपना आसन सदा के लिए बनाये रखने के लिए सब कुछ है। नित्य नयी योजना में बँधा काम है। उसी

योजना से आता है समाज-नियन्त्रण के लिए मतवाद—पहले अपनी निरापदता, बाद में फिर नीति-व्याख्यान, जिससे कि असमता दूर न होने पर भी असमता में अपनी अशान्ति को आग-आँधी दूर ही रखें। अभाव दूर न होने पर भी अभाव का कुत्सितपन सजे-सजाये आँगन-रास्ते को असुन्दर न करे।

मकान खड़े हो रहे हैं, व्यापार बढ़ रहा है, फिर भी सुख-शान्ति नहीं आ पाती।

शान्ति नहीं, आनन्द नहीं। अशान्ति, कुचक्र, षड्यन्त्र, मूठ, और पाप—इतना सारा करने के बाद भी जीवन बस इतना ही!

उसी में गरम निःश्वास घनीभूत होती रहे हैं, आँसू जमा हो रहे हैं, दुख संचित हो रहा है—दुख उपजाने के लिए।

वह किसी गौरैया को पकड़ लिया किसी माटिया चील ने, पेट के नीचे पंजों की अँगुलियों के बीच दबोचे लिये चली जा रही है। अन्य गौरैयाँ हटकर उड़ती हुई चली गयीं, और फिर जाकर उधर बैठ गयीं।

जो गयी सो गयी। जाने तक उसकी चेतना में लेशमात्र भी आशंका न थी, वरना वह इतनी स्वाभाविक होकर घूमती होती! जब तक जीती थी, उनमें स्वाभाविक आनन्द था। प्रकृति का सहज प्रकाश है—उसकी नन्ही-सी देह।

समुद्र मन्थन चल रहा है। नाना देशों में नाना प्रकार के आलोड़न हो रहे हैं।

वह स्वप्न देख रहा है। उसी समुद्र में से छिटक पड़ रही है रक्तिम आभा। सिन्दूरा खिल रहा है, इसी आलोड़न से उठेगा अमृत। इतने कलरव के बीच सुनायी पड़ रहा है अनजान अनचीन्हे अथच अति परिचित मानव भाई-बहनों के प्राणों का संगीत—हम स्वच्छन्द होंगे, मुक्त होंगे, फिर हम एक बनकर रहेंगे, एक परिवार, एक-एक के लिए दायी। सबके लिए दायी यह मानव-समाज। बच्चा धरती छूते ही मानव-जाति की विराट् समृद्धि और संस्कृति का उत्तरदायित्व अपने आप पायेगा—और पायेगा इस सृष्टि में निहित आनन्द, एक छन्द के समवेत संगीत में वह भी अपना स्वर-संगीत मिला देगा। हम चाहते हैं आनन्द! हम चाहते हैं शान्ति!

अपने स्पन्दन-अनुभूति में स्वतः जाग उठकर रवि तेजी से खेत की ओर चल पड़ा।

सामने ये खेत। निराई ख़ूब की है, और भी बहुत करना बाक़ी है। करके वह इसी तरह इस क्यारी में गट्टा बाँध देगा। पहले काम है! पहले काम है!

वहुत दिनों वाद विपिन ने ख़बर भेजी है।

"वीच में गया मार्च का महीना। पूछो मत। वस रोज इतने सारे बाल सिर से उखड जाते हैं। बड़े-बड़े लोग इसी कारण तो गंजे हो जाया करते है। मार्च के काम का फैसला करते-न-करते गुजर गया अप्रेल-मई। फिर नये काम का दवाव जो अप्रेल से चला तो लगा ही हुआ है। लोग मानते नही, धान पैदा करो कहने पर वे कहेंगे—हम तो सन लगायेंगे, रासायनिक खाद की बात करेंगे तो वे कहेगे यह ज़मीन को जलाकर ढेले की कर देगा। कितने निहोरे करो कि यह करो, वह करो और हमें छुटकारा दो। योजना-पर-योजना—सुवह मैदान जाने से लेकर खाना खाने वैठने तक—आदमी के जीवन के हर पहलू में हम योजना-वाले उसके साथ लट-पट करते रहेंगे। कहेंगे पाखाना ऐसे वनेगा, चूल्हा ऐसे तैयार होगा, हमारी वात न मानने पर हम और दल-वल लेकर आते रहेंगे। धर्म-प्रचा-रकों से बढकर हम प्रचारक वन गये है। गू-मूत से कैसे खाद होगा—हमने इस पर कवित्त और सवैये तक वनाये हैं। जोगी-भिखारी को मामूली-सी घूस दे दो, वे घर-घर गाते फिरेंगे, पाला गायकों को तैयार किया है, सो वे मछली, मुर्गे के हाड़ो के चूर से वनी खाद और रासायनिक खाद, जूता के कारखाने, कपडे की कल और टापिओका (गया आलू) की खेती की उपादेयता को गा-गाकर समझाते हुए चँवर डुलाते है। जुट गयी है सारी शक्तियाँ। फिर भी कभी-कभी लगता है जैसे रथ अचल है, पैसे खर्च हो रहे हैं, हमारे सिर और देह से परिश्रम हो रहा है। लोग वस रुपये ले जा सके तो वस सन्तोष है।

किसी के विरुद्ध लड़ाई की आवाज उठा-उठाकर उसमे मत्त हो जाने में जितना उत्साह है उतना और किसी वात मे नही। उसका ब्रह्मास्त्र है—दरख़ास्त डालना, दल गढना। एक दरख़ास्त मे न वेसी पैसे खर्च होंगे और न परिश्रम, खेत में लौटते दस-वीस हजार मिलेंगे जो कागज पर अँगूठा टीपने या दस्तख़त करने मे कोई आपत्ति नही करेंगे, दुकान मे, वाजार मे, लुहारसाल मे, स्कूल के चवूतरे पर, अखाड़े घर मे, दरखास्त पर दस्तख़त करने के लिए लोग मिलेंगे। दल भी सदावहार नही। किसी ने चन्दा उगाह लिया या झाँसा देकर ले लिये या चार-आठ आना ख़र्च दिये, साँझ तक कोई इस दल का था तो सुवह आँख खोल-कर देखोगे तो वह दूसरे दल का हो चुका होगा। जिधर सुविधा मिली वे उधर ही पिल पडते है। अतः कभी-कभी तो लगता है, जैसे योजना अपनी है भी क्या सचमुच ?

फिर भी हम योजनावाले लगे हैं। इतना करने पर भी दूध-दही की धार नही वही। हम रामराज्य गढ रहे है किन्तु लोग 'राम' नही हो पा रहे। 'राम' 'दूर क्षितिज तक कही दिखायी नही पड़ते, शायद वाद में आयें, हम सव जुटे है।

और अभी चल रहा है दनादन काम। उत्पादन वढाना ही पडेगा। इस वरस

की उपज अगले बरस से चार आना अधिक तो बढ़ानी ही पड़ेगी। कितने लोगों के साथ कितनी चकर-चकर, कितनी लिखा-पढ़ी, और फिर कितनी दौड़-धूप! ओह! दुश्मन को भी दया आ जाये!

पर एक बात है, यदि जन्म-नियन्त्रण नहीं किया जा सका तो फिर कितना ही उत्पादन बढ़ाओ, अभाव नहीं मिट सकेंगे। तीन बच्चे हुए कि बस पिता या माँ को अपना ऑपरेशन करा लेना चाहिए। कोई तकलीफ नहीं, बस छुट्टी मिली जजाल से। मान लो किसी ने वेसेक्टोमी करायी तीन बच्चे, मियाँ बीबी दो इतने ही तो रहे।

दो एकड़ में टापिओका (गया-आलू) लगा दिये, बरस-भर के खाने लायक स्टार्च मिल गया, धान को फिर कौन पूछता है? डालडा घी में टापिओका की भाँति-भाँति की तरकारी बनाओ। टापिओका को बनाओ भात, उसी से चलेगा, डब्बे के दूध को गरम पानी में डालकर टापिओका-दूध खाते रहो, जी भरकर खिलाते रहो, बच्चों को देने से उनका वजन बढ़ाता है, इधर जन्म-नियन्त्रण कर माँ-बाप सुखी। कितने सहज ही सारी समस्या का समाधान हो जायेगा। बड़े-बड़े विशेषज्ञों का मत ठहरा, यह भी हमारी योजना का ही लक्ष्य है...

विपिन की चिट्ठी पढ़कर वह अचकचाकर बैठ गया। मन-ही-मन विपिन को देखा—अशान्त, असुखी!

वह अपनी रुचि के मुताबिक काम नहीं करता, उसकी योजना ही उसकी नौकरी है। वह हुकुम बजाता है। उसने अपने मतामत को बक्सा में ताला बन्द कर रख दिया है।

उसमें तो उत्साह नहीं, जो काम वह कर रहा है उसके प्रति कोई विश्वास नहीं, लोगों को वह क्या प्रेरणा देता होगा?

आलोचना तो सबकी हो सकती है, पर किसी सीमा तक उसके अभियोग उसकी आशंका में सचाई है?

वे तो सदा एक आदर्श खोजते रहे हैं। वह आदर्श केवल अधिक चीजें पैदा करने का ही नहीं है। ज्यादा चीजें उसके पास न थीं। परन्तु चेतना थी, पाप-पुण्य, झूठ-सच, त्याग और भोग के बारे में उनकी स्पष्ट धारणाएँ थीं, अब भी है।

किस परिमाण में विपिन उन्हें वह आदर्श दे सका है? फिर आयी योजना। क्या वे कहते थे—ऐसा होगा? विपिन ने खुद कहा था? अनेक देशों, अनेक जातियों की देखा-देखी यह एक फरमा गढ़ा गया है, काम करने पर कुछ तो उपकार होगा; पर जो सद्-विचार, जिस आदर्श को यह माटी का आदमी बड़ा मानता आया है—इतने से ही वह नहीं मिलता; प्राणों में पुलक आता नहीं।

वह असल में इस देश का सच्चा प्रतिनिधि नहीं है। वह मानो कोई और ही आदमी है, किसी और ही श्रेणी का है।

जो और श्रेणी के नही हैं —वे ठहरे साधारण आदमी !

आदमी की प्रवणता को पहचाने बिना, मन की शक्ति का अन्दाज लगाये बिना आदमी पर अविश्वास और उसका उपहास कर कोई योजना स्थायी नही हो सकती—फालतू बुद्धिजीवो का अस्पर्द्धा आस्फालन है—वह व्यर्थ है।

विपिन की चिट्ठी पढ रवि इसी तरह सोच रहा था, आँखो के आगे एक स्वप्न —क्या होगा ? क्या होगा ?

आदमी की उन्नति और उपकार की वे चाहे कितनी ही व्यवस्था करें, आदमी के मन का नाम लेते ही वे नाक-भौं क्यों सिकोडते है ? उनके सारे काम, सारी चेष्टा की दिशा मोड़ने के लिए उसके विचार-स्नेह-भाव के विकास के लिए इसमें व्यवस्था कहाँ है ? उसके नैतिक-आध्यात्मिक विकास के लिए योजना कहाँ है ?

अपने इस सन्देह को लेकर उसने औरों से चर्चा भी की थी। धोवेई मिश्र ने कहा, "एक अन्धविश्वास हो गया है कि लोग खाते-पीते हो जायें, पक्के मकान मे रहने लग जायें, धन-सम्पत्ति के अधिकारी हो जायें तो उनका मन भी उदार हो जाता है, हृदय शुद्ध हो जाता है, ठीक जैसे और एक अन्धविश्वास है कि आदमी चैन से रहे तो मन स्वार्थी हो जाता है, उसकी आध्यात्मिक अधोगति होती है। कौन किस अन्धविश्वास का सहारा लेता है। सबका कहना है कि वे ही वास्तव मे प्रगतिपन्थी है, सत्य को खोजते-खोजते वह बूढे भी तर्क की भूलभुलैया खडी कर देते है। इन दोनो आत्माओ पर वस्तु का प्रभाव स्वीकार करते हैं, पर दोनों खोजते हैं—आत्मा को वस्तुओं से मुक्त करने की राह। लोग तो युक्तियों के पीछे दौड़े, आदमी के पास कौन आता है ?"

नन्द तहसीलदार हँस पडे। कहने लगे, "मैं सोचता हूँ कि यह दर्शन सोचते-सोचते हम भी एक रास्ता बनाकर रह जायेंगे, अगर मन चाहा तो। फिर काम और हो नही सकेगा।"

रवि हँसा नही। गम्भीर होकर बोला, "मैं तो उलटा सोचता हूँ। दर्शन पर हम लोगो ने ज्यादा विचार किया ही नही। विपिन की चिट्ठी को मै हँसी मे नही उडा सकता। विपद् की एक दिशा है वह, सावधान न रहे तो अपने काम मे से वैसे ही मन निकल जा सकता है।"

नन्द तहसीलदार ने कहा, "यहाँ उस विपद् की आशका नही है, बाबू ! यहाँ विश्वास है, उत्साह है, ज्वार मे भाटा नही आयेगा। विश्वास मे विष्णु हैं, तर्क से दूर है।"

धोवेई मिश्र ने कहा, "हाँ, विश्वास से कृष्ण मिलेंगे, अन्ध-विश्वास से टटोलते-टटोलते कंस भी मिल सकते है। जैसा मन होगा, वैसा ही मिलेंगे। केवल उत्साह में भर उठने से क्या होगा कि 'हो-ह्ला' खत्म हुई और बाद मे सब अपने-अपने घर। आदमी जिसे खुद समझ नही पाता है उसे लेकर वह जीवन नही बिता सकेगा।

अत हमेशा सच और देख-देखकर काम करने की जरूरत है।"

रवि ने कहा, "कुछ होते हैं जो आदमी पर विश्वास नहीं करते, भगवान् पर विश्वास नहीं रखते, नाक-भौं सिकोड़ते हैं, आशा और विश्वास छोड़कर वे रास्ते में बिदक जाते हैं। और कुछ हैं जो बिलकुल नीचे नहीं देखते, परखते नहीं, ऊपर-ही-ऊपर तैर जाते हैं। वे कुछ नहीं समझते। जब देखो, बस केवल उच्छ्वासों में उड़ते-फिरते हैं। ऐसी आत्मदृष्टि में जो आँखें मूँद लेते हैं, कहते हैं कि जो कुछ चल रहा वही ठीक है, वे भी रास्ते से भटक जाते हैं। हम इन दोनों विपदों से बचकर चलेंगे।"

नन्द बूढ़े ने कहा, "तुम बुद्धिमान् ठहरे, बाबू, पढ़े-लिखे। सोचते रहो, इधर-उधर की, जितनी सको। मुझमें यह बुद्धि है नहीं, यह विचार नहीं। हृदय निर्मल रहे, आदमी में स्नेह रहे तो गंगा की धारा की तरह अपने आप बह जायेगा, आप ही बुद्धि दिखेगी। उसे गन्दा कौन करेगा? हृदय निर्मल न हो तो तर्क-वर्क से जो करोगे उसमें कदम-कदम पर बाधा होगी। हिसाब करते रहोगे, और इधर घास भी नहीं फूटेगी।"

इस बात का रवि को कोई उत्तर नहीं मिला। धोबेई मिश्र और कुछ कह न सके। दोनों सिर्फ उनके चेहरे की ओर देखने-भर रहे।

इसके बाद तीनों एक साथ हँस पड़े।

बरसा के रिमझिम संगीत के बीच रवि कभी-कभी उस नयी गढ़ी गोष्ठी को नयी दृष्टि से देखता। फिर क्या? इसके बाद क्या? वह क्या सदा यहीं रहेगा या और कहीं जायेगा? सोचता—यह संगठन अपने-आप चलता रहेगा या वह हमेशा के लिए यहाँ पड़ा रहेगा? फूलझरा खुद अपना ध्यान कर रहा है, उसने अपनी दिशा पकड़ ली है, आगे बढ़ रहा है।

और वह स्वयं—वही जो सोचा था कि तीर्थ में रसोई बना चुकने के बाद हाण्डी फोड़कर चल देगा—कब तोड़ेगा वह हण्डी अपनी हण्डी?

सँभल-सँभलकर बई मलिक से कहा, "गाँव तो गये नहीं बई, क्या यहीं रहोगे सदा?"

बई ने कहा, "तुम जहाँ, मैं वहाँ। गाँव में ही तो हूँ, यहाँ कोई पराया है?"

रवि ने कहा, "तुम तो अपना ठीक चला रहे हो, मैं यहाँ रहकर और क्या अधिक करूँगा? वरन् कहीं और नयी शुरुआत करें तो…"

चौंककर बई ने पूछा, "यह बात कैसे जीभ पर आयी रवि भाई, कान्हा गये तो गुहाल किसके लिए?"

"नहीं, नहीं, ऐसा मत कह, यहाँ तो सब कान्हा है।"

बई मलिक ने कहा, "जब जाओगे तब जाओगे। तुम्हारे पीछे-पीछे मैं भी चलूँगा। फिर कभी सुनोगे कि झुरमुट बढ़ गये, जो था वैसा ही हो गया। गढ़ने में

जुग लगते है, और तोडने मे छिन-भर।"

वई मलिक उदास हो चुपचाप दूर देखता रहा, फिर बोला, "एक ढग से एक पुश्त न चले, परखकर न देखे, सह-सँभालकर माटी को जकड़कर रहने की आदत न पडे, तब तक आदमी का चलन थिर नही होता। एक जगह मान लो रोशनी करनी है, एक हाथ मे मशाल लेकर अँधेरे मे चारो ओर भवर काटते फिरोगे, तो क्या होगा? आगे-आगे रोशनी होती जायेगी, पीछे-पीछे अँधेरा। सब जगह तो वही आदमी, वही माटी, सब जगह तो काम का क्षेत्र है।"

यही वह वई मलिक है? रवि उसकी ओर देख रहा था।

वई ने और कहा, "सूरज उगता है, कहाँ पर उगता है? एक जगह तो। बीस जगह नही। फिर भी सब जगह दिन होता है, रोशनी होती है। चिकना-पक्का एक जगह काम होगा, वहाँ सूरज उगेगा, अपने-आप चारो ओर प्रकाश होगा।"

रवि ने सोचा, यही तो उसका भी मत है। यही तो उसके अन्त.करण की भाषा है। बाहर सुनाई पड रहा है—वई मलिक इसी विचार का पहरेदार है।

ऐसे ही वई मलिक राज-भर मे हैं। नीति को कोई अक्षर मे लिखता है, भाव को देता है, भाषा, भाव होता है आदमी के अन्तर में, अक्षर उसे गढ नही सकता।

अपने मन मे किसी तूफान की तरह की घिर आती है एक तरह की अस्थिरता। काम से हटने के बाद अपने आपसे एकान्त मे भेंट होते समय कानो से टकराती कोई अनजान पुकार। छटपटाहट-सी लगती। मानो इतना ही, उसके लिए यथेष्ट नही। मन करता उडकर चले जाने को।

अपनी अस्थिरता का तार पकड-पकड नीचे-ही-नीचे उतरते समय चौककर वह ख़ुद को एक नये रूप मे देखता।

सन्देह होता—वही क्या इस अस्थिरता का कारण है?

उधर देखता छवि का चेहरा, वह हँस रही है। भुला नही पाता है, बार-बार वह रूप खिल जाता है आँखों के आगे। लगता है जैसे दोनों एक ही स्रोत मे खिंचे चले जा रहे है। दो जगह दो आदमी हैं, कभी मिलना-जुलना नही, फिर भी लगता, जैसे वही पर वह है। उसके हृदय की छुपी हुई कविता, अनलिखी, अनकही, समूची—वह उसी की है।

रवि चौककर काम में मन को उलझा देता। उसमे अनुभूति होती। मानो इसी मे वह छवि का सान्निध्य पाता है। हो सकता है यह कल्पना-भर है, पर उसके पास तो यही सत्य है।

खबर उड़ती आती। वह पाटेली गाँव की बातें सुनता। छवि का नाम भी आता। लगता जैसे यही होगा, वह पहले से ही जानता था।

छवि को और स्पष्ट रूप में देखता, मानो कल्पना सच हो रही है।

बरसाती हवा बह रही है, आकाश से धार अनवरत गिर रही है। चार ही बजे होंगे, पर लगता है जैसे साँझ हो आयी। नरसिंहपति की बुढ़िया माँ विमला बाहर का दरवाज़ा आधा उड़काये रास्ते की ओर देख रही थी। ठण्डी हवा बुढ़िया की देह में साड़ी उड़ाये लिये जा रही थी। उसकी हाथ-भर चाम की देह पर हवा सरसरा जाती थी। बुढ़िया कभी-कभी ऊपरी होंठ को उठाती, दाँत भींचती, सफ़ेद-सफ़ेद दाँतों से मानो मेघों को 'टिलि-ली-ली' कर रही थी। सँकरे बरामदे में एक जगह खूँटी से एक बूढ़ी बकरी बँधी थी, उसकी देह से भीगी हवा छू जाती और उसे कँपा देती। बीच-बीच में वह भी होंठ उठाकर खीस निपोरती। बुढ़िया की इच्छा थी कि बकरी को खोल लाये, गुहाल में लाकर बाँध दे। इतने थपेड़े सहकर बरामदे-ही-बरामदे वहाँ तक जाने की उसकी शक्ति न थी। बेटा नरसिंह बुख़ार में सोया पड़ा है। दो पोते हैं—आठ का एक और छह का एक। कैसे भीगे हुए सिमट-सुमटकर अन्दरवाले दरवाज़े से हटकर बैठे हैं। पुकारने पर भी नहीं सुनते। बहू के पैर में गठियावात; चलने-फिरने में तकलीफ़ होती है। बस हाथ-पैर चलते हैं तो केवल बुढ़िया के। इस सुनसान बरसाती अपराह्न में बाहर की ओर नज़र किये खड़ी है बुढ़िया। कभी-कभी वह बकरी की ओर देख लेती है, नहीं तो ख़ाली मेघों की ओर देखती रहती है।

जलावन नहीं। उपले पानी की बौछार में घुल गये। जो दो-चार सहेजकर रखे गये थे, उनसे सुबह का काम चल गया, इस बेला अब नहीं। चूल्हा जलेगा नहीं, लड़के दोनों, बीमार बेटा और दोनों औरतें आज रात सब भूखे ही सोयेंगे।

सामने कुछ ही दूर पर बाँस का झुरमुट। बरसाती हवा के झोंको से लरज उठता था। घर के आगे बाहर रास्ते पर बरसा के पानी में एक नदी-सी हिलोरें ले रही थी।

बुढ़िया को याद आ जाती—कितनी ही उस तरह की साँझ की बातें। उधर बस्ती पेड़ों की ओट में है। इसी समय उधर झगड़ा-कलह लगता। वह चबूतरे पर बैठी सुनती। सामने यह दालान धुँधला जाता। आगे यह रास्ता पड़ा है, कोई-कोई आते-जाते। और कुछ देर बाद सियारों की हूक सुनाई पड़ेगी। कलह के हो-हल्ले के बीच दूर से तैर आयेगी अखाड़े-घर से मृदंग की आवाज़, कभी-कभार कोई संगीत—"आरे-आ-आ-आ···।" पेड़ों की ओट से घरों से दिखायी पड़ेगी रोशनी—दीपक-ढिबरी-लालटेन और चूल्हे की आग।

कोई घूमने आयेगी, आवाज़ सुनायी देगी, "अजी, नरसिंहा की माँ हैं? पति-

याइन है ?"

इस तरह एक के बाद एक कई साँझें। इन्हीं के बीच बुढ़िया के कट गये हैं तीन कोडी सात बरस, कल के जैसा दिख रहा है—ब्याह, नया घर, 'वे', नरसिंहा का जनम, उसके पीछे माल का जनम, उनका ब्याह। उनके पिता चले गये, नरसिंहा और माल के बाल-बच्चे हुए।

इसी के बीच दिख जाती है, बगुलिया के ऊपर ठकुरी जो हुई थी वह लड़की। कितनी बड़ी-चटी थी। माँ को तो पूछती भी नहीं दादी के साथ खायेगी, दादी के पास सोयेगी, जहाँ जायेगी पूंछ बनी फिरेगी। नवाँ शुरू हुआ था। ठकुरी चली गयी।

साँय-साँय रिमझिम बरसा के बीच यह जो पल-पल में अँधेरा ठुंसता जा रहा है, यह जो राउ-राउ-हाउ-हाउ, पास आने और दूर जाने की-सी झनकार आ रही है, आँखों के आगे यह जो प्रबल वेग, प्रबल गति का दृश्य है, सबने एकत्र होकर गढ़ा है एक महाभाव का जीवन्त आवेग। घर की छान का पुआल, बरगद और बाँस के झुरमुट—सब एक ही झोंके में मानो मुड़-तुड़कर एक संगीत में मिल जाने की तरह बुढ़िया की चेतना को हिला देते हैं, खींचकर ले जाते हैं अपने साथ उड़कर घूमने के लिए, फिर लाकर छोड़कर जाते हैं, फिर छांड और ले जाते हैं।

दिख जाते हैं—कितने चेहरे! कहाँ कौन था, पता नहीं किधर गये। अतीत की कितनी ही छोटी-मोटी घटनाएँ। एक दिन वे घटनाएँ कितनी बड़ी-बड़ी लगती थीं, लीक पकड़कर याद करते-करते कहीं चली जाती हैं। अनन्त समय के बीच अकल्पनीय सृष्टि। कोई उठ रही है तो कोई फिसलकर छूट जाती है। दुनिया के इतने लोगों के होने-न-होने के बीच उसी का जीवन उलझे धागे की तरह किसी परिस्थिति में कब मिलकर लिपट गया है, फिर खुल आया है। घटना वहाँ ठोस पत्थर होकर पलथी मारकर बैठी नहीं रही, केवल उसके मन में वहाँ कभी फूलकर या कभी मुड़-सिकुड़कर छोटा होने की अनुभूति दप-दपा रही है। आती है, चली जाती है। सुलग उठती है, बुझ जाती है। जाग उठती है, सो जाती है। ऐसे ही जीवन की नन्ही-नन्ही अनुभूतियाँ हैं। टटोलना और सहलाना स्वतः हो जाता है। हवा-पानी की बौछारें खा-खाकर खड़ी है बुढ़िया देह।

उसका जाना-पहचाना संसार बदल गया है। इस एक ही बरस में एक नया परिवर्तन आँखों को साफ़-साफ़ नजर आ रहा है। गाँव में एक नया मेल, सारे दुख-सुख एक साथ होकर एक-एक सामलाती घर की तरह। इस घर की एक सिरे की भीत टूट गयी थी, उन लोगों ने खड़ी कर दी है। खाने को अब अभाव नहीं, जरूरत के चावल, दाल, नमक, तेल आप-ही-आप दे जाते हैं। दो बच्चे पढ़ रहे हैं। गरीबी पर अब कोई चोट नहीं करता या कोई अनादर नहीं करता।

पानी-हवा, छाया-आलोक के रूप ने आवाज दी है—"आ विमला, आ-आ—!"

नरसिंहा की माँ, सब छोड़कर चली जायेगी। उड़ जायेगी, खो जायेगी, डूब जायेगी।

बूढ़ी बकरी मिमियाने लगी। उसने बहुत सहा है, और नहीं सहेगी। नरसिंहा की माँ ने उधर नजर डाली। दीर्घ साँस छोड़कर सोचने लगी, नरसिंहा की माँ को अमर वर मिला है। तीन कोड़ी मात हो गये, फिर भी यह जंजाल टूटा नहीं।

पानी पर छपा-छप सुनायी पड़ा। आवाज पास आती जा रही है। कोई आ रहा है। किवाड़ तनिक खोलते-खोलते धड़ाम् से पूरा खुल गया। घर-भर ने मानो 'है-है' हँसी भर गयी, देह सिहर उठी। अँधेरा घिर रहा है। बूढ़ी बकरी में-में कर रही है बारम्बार। मानो वह कुछ देख रही है, कुछ समझ रही है। छपा-छप और भी स्पष्ट हो गयी, नपी-तुली जैसी, रुक-रुककर। अबकी देखा, बाँह ढाँपे, कुछ ओढ़े हुए कोई झुका हुआ-सा लम्बा आदमी आ रहा है। थोड़ा-बहुत पहचान में आ रहा है। इसके बाद बरसा के बीच ऊँची आवाज सुनायी पड़ी—"नरसिंहा की माँ है?"

दधि अहीर बरामदे पर चढ़ आया। छतरी ओढ़े है। एक बड़ी टोकरी लाया है। उसमें कुछ सूखे काठ की फरचनें हैं। धार होकर पानी बहा जा रहा है। छतरी भीत पर टिकाकर उसने कहा, "क्या करूँ बता, आते-आते देर हो ही गयी।"

सूखा काठ देखकर बुढ़िया खुशी में चमक उठी, "तुम्हें कैसे पता चला, बेटे, कि हमारे घर पर लकड़ी नहीं है?"

"सुबह शान्ति की माँ आयी तब देख जो गयी थी। जानूँगा कैसे नहीं?" शान्ति उसकी बड़ी बेटी है।

"हजारी उमर हो बेटे! हाँ-हाँ, सच आयी तो थी शान्ति की माँ। बेटे के लिए दूध-बारली दे गयी थी। बाल-बच्चेदार ठहरी कैसे सारी बातें याद रहती होंगी, इतनी बरसा में फिर तुम्हें भेजा?"

"नहीं, केवल भेजा ही नहीं है। आज बार हमारी पड़ी थी, रवि बाबू भी थे। यह जो कठिन मौसम हो गया, जलावन के अभाव में कितने ही घरों की यह हालत है। जहाँ-जहाँ सामलाती में रसोई होती है, वहाँ तो कोई कमी नहीं, जैसे हमारी बस्ती में। जहाँ अपने घर में रसोई हो रही है, वहाँ किसी के यहाँ लकड़ी नहीं, कहीं चावल नहीं। उस पर फिर वह खबर भी मिलती नहीं। जहाँ-जहाँ से खबर आती है, हम कुछ लोग नजर रख रहे हैं। घूम-घूमकर देख रखे हैं।"

"कितना काम कर रहे हो, रे, बेटे!"

"ये तो कुछ नही, अब तो बाढ़ पगला उठी है, अखबारों मे छपा है—कल सुबह से तीन नाव चिवड़ा-चावल, तेल-नून आदि चीजें लेकर हमारे गाँव से कुछ लोग जा रहे हैं। रवि बाबू भी जा रहे हैं। और भी दस-पन्द्रह लोग जायेंगे—।"

बुढ़िया ने आँखें फाड़कर कहा, "इस झड-पानी में नाव। यह तो झडी लग गयी रे बेटे! कितने दिन पर छोडेगी, कौन जाने! इस मौसम मे चूहा भी बिल से नही निकलता, उफनती नदी मे जीवन को हथेली पर लेकर आदमी जायेगा!"

दधि अहीर ने कहा, "मैं भी जा रहा हूँ जो, किसका क्या हो जायेगा! नदी-नाले चढे हैं, पाट फैल गया है, पुश्ता टूटा है, घर बहे जा रहे है, गाय-भैंस बह गयी हैं। हम अगर वहाँ होते तो हमारी भी तो वही हालत होती! अपने गाँव में वैसा होता तो फिर किसी की आशा करते? बिना गये अपना मुँह भात कैसे निगलेगा? नरसिंहा भैया को भी साथ ले जाते, उसके जैसे नदी मे तैरनेवाले कितने है? क्या करें, बुखार मे पड गया!"

बूढी चौक पडी। बोली, "हाँ, मुँहजला बुख़ार! बिचारा उठ ही नही पाता। बहू को गठिया है, पैर ही नही उठता। कितने दिन में बेटा उठ खडा होगा, कौन जाने! जाते हो, भला करते हो बेटे! पर इस मौसम की ओर तो देखा भी नहीं जाता।"

दधि अहीर ने बताया, "औरतें तो मानती ही नही, मरद तो बिलकुल ही। ख़बर सुनकर कौन थिर होकर बैठेगा? वह पठान बस्ती मे हैज़े की ख़बर सुनते ही धोबेई मिश्र दवा का बकसा लेकर चले गये वहाँ। अर्पात गया, जगु सोई, उच्छव, दासजी आदि कितने ही लोग गये। औरतों ने कहा—हम भी जायेंगी, यहाँ कौन विचार में पडा रहे, हम भी चलेगी। बहुएँ—लिगराज पट्टनायक की स्त्री, गन्धर्व मिश्र की पत्नी, नाण्डू पाइकरा की बहू, माधू साहू की घरवाली, आदि सब उठकर चल पडी, फिर और भी इसी तरह कितनी ही बहू-बेटियाँ। धोबेई मिश्र ने कहा, ठीक है, चलो, जोग न होगा तो साँप भी नही खायेगा। डर क्या है? खेतों के पाट पर पानी की तेज धार बह रही है, साँप भी थिर नही हो पाता; पानी-हवा-अँधेरा—वे लोग गये। हो चाहे जितना भी अँधेरा हो, रोशनी तो जल रही है, ठाकुरजी तो हैं। कहाँ है—'भय किसे डर किसे, जगन्नाथ सहाय जिसे।' यह मन रहा तो जगत् का उद्धार हो जायेगा। छोडो, गेण्डू, सेण्डू के घर जाऊँगा, उनके घर भी जलावन नही, जितना चाहिए रख लो, फिर कल आऊँगा—"

आधे अँधेरे मे से बूढी बकरी फिर मिमियाने लगी "मे-मे—"। विमला बुढ़िया ने कहा, "लो रे, मेरा आगलगा मन! सब भूली जा रही हूँ! दे दे रे बेटे! ला उस बकरी को ज़रा लाकर बाँध देना तो! ओ हो, आज कैसा भाग है! कैसा

दुरजोग है ! आकर जीव आधा हो गया, इस पानी हवा में—"

दधि अहीर दो छलांग मारकर पहुँच गया बकरी के पास। बुढ़िया कह रही थी—"भगवान् तेरी हजारी उमर करे रे बेटे !"

तीन नावें जब किनारा छोड़कर पानी में तैरती चल पड़ीं, समय तब चार बजने में पन्द्रह मिनट बाकी था। आकाश के मचान पर दिख रही थी काले मेघों की टोपी, नीचे हरे नीले मेघाई प्रकाश के बीच सफ़ेद रोयों की तरह हलकी बौछार की पोशाक फूले-फूले झकोले में घरा रही थी, हुलस रही थी, चारों ओर दाबे बैठी थी। आँखें जितनी दूर जातीं, बस पानी की धार। देखते ही देह सिहर उठती। पलस्तर-सा मारती उठती गँदले पानी की सतह। जितनी भी दूर जाते हैं, मानो वही-वही फैला है। तट को न देखे बिना मानो कोई चारा ही नहीं। वह जैसे का तैसा है। नाव के पास-पास पानी की हिलोरों का चलता हुआ स्रोत हो। नाव के सिरे पर डाँड चलाते-चलाते इस ओर से उस ओर तक चल रहे थे दो जन नाविक। कितनी देर बाद मेघों की बौछार हलकी पड़ी, किनारा साफ़ दिखने लगा। हिलता हुआ दृश्य हिलोरें खाता-खाता पीछे की ओर चला गया। अब गति का अनुभव किया जा सकता था। उसमें पीछे का आगे जा रहा है, आगे का पीछे आ रहा है। सब अस्तित्व केवल एक न ख़त्म होनेवाली यात्रा में है। जीवन सिर्फ़ एक यात्रा है—भला-बुरा नहीं, जय-पराजय नहीं, केवल यात्रा-भर—

किनारे पर कहीं सपाट धरती। वहाँ अकेला घना पेड़, कहीं केवल ख़स के झुर-मुट। कहीं आते घने बगीचे। झुके हुए बरगदों का संसार। जड़ों से बने खम्भों पर पत्तों की हरी छत। कभी आता कोई एक गाँव, बाड़ी-बगीचा, घर कोठत, थोड़ी-बहुत लताओं से बनी छावनी, नारियल के बगीचे, अकेला देवालय, झोंपड़ी, सिंदूर पुता ग्राम देवी का गाछ, पोखर, गाँव का रास्ता, एक-एक गाँव एक-एक विशिष्ट रूप लेकर पास आता, एक जैसा होकर दूर चला जाता। जगह-जगह नदी के किनारे पर अकेले एक-दो एक-दो आदमी, किनारे के पासवाले गाँवों में झुण्ड-के-झुण्ड लोग बैठे हैं, चल रहे हैं, अपने सीमित संसार में निविष्ट हैं, नाना कार्यों में व्यस्त हैं, नाव को जाती देख उधर देख लेते हैं। छोटे-छोटे बच्चे एक साथ चिल्लाने लगते हैं, बड़ों में से कोई-कोई ज़ोर से पुकार उठता है। हाव-भाव करती हवा में ठीक से कुछ सुनायी नहीं देता किन्तु उस अपने ठाँव में अपने गाँव की माटी, पेड़-पौधे, गाय-गोरू, घर-संसार के बीच सजा वह आदमी, स्त्री-पुरुष, बाल-बच्चे, बूढ़े-बड़े—सब मानो एक-जैसे हों।

कहीं अकेली उस गँदले पानी में गगरा डुबा रही है किसी के घर की बहू।

वह सिर उठाकर देखने लगी है।

कहीं गिद्धों का झुण्ड कुछ घेरे है। सांप-जैसी लपलपाती गरदन बढ़ाकर लोंदा-का-लोंदा नोंचकर उड़ जाता है।

पतली-सी फुनगी पर बैठी हैं कुछ छोटी-छोटी चिड़ियां। चुपचाप बैठी मानो कुछ सोच रही हैं, इसी भंगिमा में कहीं दूर देख रही हैं।

बांका खजूर का एक पेड़ पानी पर झुक गया था। उसके नीचे कोई सियार खड़ा था।

ढांव-ढांव बाजे की आवाज आ रही थी, कहीं पर देवी की पूजा चल रही है।

दूर कहीं हलकी-सी रोशनी की धौंस दिखायी पड़ी। जितनी दूर तक देखो, लगता है जैसे धान की क्यारी फैल गयी है, क्षितिज तक, अंधेरे बग़ीचे के सिर तक।

पीछे चला गया। फिर वह आयेगा। जाता है, फिर आता है, फिर चला जाता है।

इसके बाद छाया घनी हो गयी। घने पेड़, सपाट जमीन, गांव के बग़ीचे और बस्ती, धान के खेत, उसके कोने-कोने में भर आया अँधेरा। हिलकोरें लेता, रीता पानी और हवा में अंधेरा! मिलकर दिख रही थी विषण्ण बरसा की सांझ, हिलते-गँदले पानी में लम्बी-लम्बी छायाएँ बह गयीं। नाववाले ने पूछा, "यहीं रुकें या अगले गांव में रात बितायें ?"

"समय नहीं, फ़ुरसत नहीं रुकने को," रवि ने कहा, "अपने काम की जगह तो अभी कितनी दूर पर है। चलते रहें जितनी दूर चल सकें।"

चेरेंगी नदी टेढ़ी होकर मुड़ गयी है। दाहिनी ओर की पतली धार गयी है पाट की ओर। अचानक कितना सुनसान लग रहा है। मानो स्थल की सृष्टि शेष हो गयी है। उसके साथ-साथ पूरी हो गयी है स्थलवासी आदमी की परिचित चेतना। दाहिनी ओर एक विराट् ख़ाली सूनी विस्तृति है। अँधेरा पानी। ऊपर मेघों भरे आकाश में भी कुछ रोशनी है। नीचे की विस्तृति में है एक अनजाना विस्मय। वही तो रास्ता है। उस मुहाने पर कलवांसा-सा खड़ा है कपिलेश्वर महादेव का देवल; दाहिनी ओर कोई एक पेड़ है। देवल के द्वार की ओर से रोशनी टिमटिमा रही है।

"जय महाप्रभु।" मांझी ने छत पर खड़े होकर हाथ जोड़कर प्रणाम किया। सब हाथ जोड़ रहे हैं।

धरती और पानी की कलौंस दोनों किनारों तक लगी है। दूर उस लहराते अँधेरे के बीच कहीं खो गया है गांव, खेत, बाड़ी, आदमी के अस्तित्व के सारे स्मारक! बीच में खड़ा है केवल वह पुराना देवल, पता नहीं कब कोई तेरह-

चौदह सौ साल पहले बना होगा।

मोड पार करते-करते देवल छुप गया। तैरता-तैरता पास आ रहा है,खुम का अँधेरा वन, कुचलने रौंद देने को भागा आ रहा है। वह पहुँच गया, दोनों ओर पास-हो-पास लगा-सटा-सा। चल रही है खस-खस, साँय-साँय, छपाक-छपाक की आवाज़। उसी के सहारे-सहारे घुमाता माँझी लिये जा रहा है। घना-घना अँधेरा और उसमें हलका-हलका कहीं उजाला दिख जाता है। फिर ढँक जाता है। केवल अँधेरा—दोनों ओर, नीचे ओर ऊपर। केवल साँय-साँय खसर-खसर। बीच-बीच में पता चल जाता है कि कुछ दूरी पर कोई घो-घो की आवाज़ हो रही है, मानो समुद्र की लहरें टकरा रही है। अचानक वह लदा-फदा अँधेरा कट गया। वह उधर उसकी धार दिख रही है, बायीं ओर। दूसरी ओर पाट में पानी बिछा पड़ा है।

मेघ बरस नहीं रहे। सूँ-सूँ कर ठण्डी हवा बह रही है। बहाती ले जा रही है। अँधेरे में छाया के नाचने की तरह माँझी डाँड़ चला रहे हैं। नाव मोड़नेवाला जम्बू बेहेरा बैठा हुआ दूर देख रहा है। उस अँधेरे में मानो उसे सब कुछ दिख रहा है। बोला, "वहाँ दिख रहा है उरी गाँव—आज रात वहीं। ऐसा विकट मौसम! इसमें भला नाव का क्या भरोसा? भोर होने पर फिर जो होगा—" इण्डी की कलौंस जैसे मेघ का ढक्कन फटकर कहीं दिखायी पड़ जा रहा है एक-एक तारा। नीचे काले पानी पर एक के पीछे एक कर नावें चली जा रही है, आकाश और पानी के बीच हलकी नीली स्याह विस्तृति, चारों ओर एक-सा ख़ाली-ख़ाली, सब तरफ पानी की अँधेरी दुनिया, कितनी दूर तक दिख रही है। उसके उस ओर ऊपर-नीचे सब अँधेरे में घुलमिल गये है। खोखले अँधेरे का घेरा पास नहीं आता, कितनी ही दूर जाओ, फिर भी दूर ही है। इसी के भीतर से जम्बू बेहेरा ने कहीं उरी गाँव को ठौराया था।

"कहाँ है उरी गाँव?" रवि ने पूछा।

"वह देखो, बाबू, वो दूर दिख तो रहा है। वह जो अँधियारा दिख रहा है न, वही है सातबहिना बरगद। रोशनी भी तो दिख रही है, वह क्या है···लटकन होगी।"

"मुझे कुछ नजर नहीं आता। तुम्हारी आँखें तो धन्य है!"

रवि उधर दूर देख रहा है कौतूहल से। अस्पष्ट, पता चल रहा है—गाढ़े अँधेरे की तरह विराटकाय कोई जन्तु मानो दूर तैर रहा है। इसके बाद साफ़ दिखने लगा, एक ललाई-सी रोशनी टिमटिमा रही है।

मानो वही अकेली रोशनी का बिन्दु अँधेरे में से तीनों नावों को खींचकर लिये जा रहा है।

उधर दूर देखते-देखते रवि की चेतना में भावों की लहर फैल गयी।

कोसों तक चली गयी थी ठोस धरती। वहाँ कितने खेत, मैदान, गाँव-गली।

अब वे सब पानी में डूब गये है, द्वीप की तरह तैर रहे है गाँव सब। पानी पर न कोई चिह्न है, न कोई वाड़ है, वस सब ओर सिर्फ अँधेरा और पानी है। उसी के नीचे युग-युग की आदमी की स्मृति ! कितने सुख-दुख की कहानी, ज़मीन के अधिकार के लिए कितने कलह-फ़साद, मुकदमे !

स्थान का व्यक्तित्व भी लुप्त होकर उसपर फैल गया है विस्मृति का अँधेरा दरिया, जो कि इस इन्तजार में है कि जितना कुछ बचा है वह भी लुप्त हो जाये। धान के पौधे सड़ेंगे, गन्दगी फैलेगी, दीवारें धँसेंगी, आदमी मरेंगे, दबेंगे। हाय-हाय कर उठेगी अँधेरे और पानी पर खाली हवा, वो जैसे हँस रही है। इस नन्हे आदमी की जीवन-भर की चेष्टा से गढ़ी हुई वाम्बी इस विस्मृति में कही खो जायेगी। वही जिसे कि वह कहा करता है इतिहास, अपनी संस्कृति, अपनी परम्परा की डोर।

सिर्फ़ अँधेरा···दूर ऊब-डूब होती-सी वह प्रकाश की बूँद···वही मानो बार-बार याद करा देती है कि यह अँधेरा है···यह काली किटकिटाती विस्मृति है !

दूर झक् से बिजली चमकी। फिर दुबारा। फिर एक बार। गुल केवट ने कहा, "कैसे हँसी-ठट्ठा नकल कर रहे हैं हमें दिखा-दिखाकर, यह सिर सलामत रखना, हे माँ ! भोंदूपने मे रात की वेला मे न चलनेवाले रास्ते पर जा रहे है ! तेरा नाम लिया है, कैसे उरी छूएँगे, और डरा नही—"

गुल केवट मानो कोई डेंगू छाया हो, अँधेरे के साथ बतिया रहा है।

जम्बू बेहेरा ने कहा, "महाश्मशान है ! यह कोई मामूली है—"

सचमुच तो, यह दिगन्त तक फैला एक महाश्मशान, एकदम खुला पड़ा है। पानी पर हवा खेल रही है।

उरी का उजाला और नजर नही आ रहा। दूर-ही-दूर पर इधर-उधर झक-झक बिजली कौंध रही है। हवा में घड़-घड-घड़-घड़ की आवाज़ बढ़ती-ही-बढ़ती जा रही है, हवा का वेग बढ़ गया है।

चुपचाप जम्बू बेहेरा ने रवि से कहा, "देखो कैसा तेज हो गया है ! बहुत विकट जगह है यह ! सखालीपाड़ा का पाट ठहरा यह मना कर रहा था···। कितनी नावें खायी हैं, कितने आदमी मर गये हैं, अँधेरा हुआ कि बाढ़ के दिनों मे रास्ता रुक जाता है। भूत थेई-थेई कर नाचते हैं।"

रवि ने कोई बात नही कही।

जम्बू बेहेरा ने उसे सान्त्वना देने के लहजे में कहा, "खैर, उसमें अपना क्या आता-जाता है ? अपनी देह कीली हुई है, मन में पद है, देवी-माता रास्ता बना रही हैं। ऐसे में बाप-दादे कितने दरिया मे घूमते थे, कितने शरीर गये हैं। पर जोग बिना कुछ नही घट सकता।"

जम्बू बेहेरा फुसफुसाता-सा बातें कर रहा है। रवि का मन उधर नही है।

उस अँधेरे में वह अपनी कल्पना में देख रहा है एक उज्ज्वल आलोक। युग-पर-युग बीत गये हैं, कितने आते हैं, जाते हैं···जन्मते हैं, मर जाते हैं···जलता रहता है वह आलोक ! उसने कितनी प्रतिमाओं को जीवन्त किया है, मूकों को वाणी दी है, जड को चेतन किया है, गति प्रदान की है। वे घूम रहे हैं, काम कर रहे हैं, गढ़ रहे हैं, तोड़ रहे हैं, अँधेरे में कहीं खो जाते हैं, कोई निमिष-भर, कोई कुछ वर्ष तक। आलोक जल रहा है।

वही तो अनुभव दे रहा है रक्त कणों में तेज का···देह में शक्ति का। बाढ़ के अँधेरे-तूफ़ान-बरसा में चला जा रहा है मानव-यात्री। धार टूटी नहीं। आनन्द सूखा नहीं, भय नहीं, डर नहीं।

तूफ़ान घिर रहा है। घबड़ाहट होने लगी, राउ-राउ झाउ-चाउ ! देह में बरसा की बौछारें पड़ने लगीं। जम्बू बेहेरा ने कहा, "छावा तले जाओ बाबू !"

उलटे, रवि अनुभव कर रहा है एक उद्दाम पुलक। काहे की यह झड़ी-बरसा है ? यह तो उसका सनातन उपादान है। अन्दर की गरम शक्ति को बाहर पहुँचनवा देती है।

देह से टकराकर फिर देह-ही-देह से निचुड़ जायेगा।

अन्दर जाग उठती है, इस हाव-हाव करते झड़-तूफ़ान में खेलती-फिरती उसकी अपराजेय आत्मा। वह स्वाधीन है ! वह मुक्त है।

वो जो दिख रहा है, पाट का पानी, वह सूख जायेगा, इसी धरती में अँकुरा उठेगा सस्य। यही फिर आदमी की चहल-पहल दिखेगी।

फिर आयेगी शरद्।

आदमी गढ़ रहा है—गढ़ेगा ! एक दिन आयेगा जब बाढ़-सूखा, अकाल या हैजा नहीं होंगे। प्रकृति सहयोग करेगी आदमी के उत्थान के लिए। खेत-बग़ीचों को हरियाला रखने के लिए इसी उजाड़ पर से गुजरेंगी नहरें।

और आदमी गढ़ेगा एक विराट् परिवार। वहाँ सब सबके लिए होंगे। केवल स्नेह,

नहीं।

यह तूफ़ान उसी एकीकरण का संगीत है।

याद आया पाटेली गाँव का वही घर···नारियल के पेड़···बग़ीचे···घर की छान···और वह नारी···सिन्धु चौधरी की बेटी—छवि। इस तरह अपने-आप छवि जाग उठती, आँखों को बाँध रखती। आलोक के अन्दर से वही तो उठ आयी है मानो कि आलोक से ही सजी हुई है। वही चेहरा···वे ही आँखें···नासा··· ओठ हैं ! पवित्र···निष्पाप···निरीहता के साथ यहाँ अतल प्रेम भरा है। रवि की चेतना में उद्दाम पुलक फैल जाती है।

उसकी दृष्टि में है—अनकही भाषा की तडित। यही है यह रोशनी ! नाव उसी ओर खिचकर चली जा रही है। कब वह पहुँचेगा, नहीं जानता। यह खिचाव ही जीवन के उन्मेष की अनुभूति है।

ध्यान टूट गया। सामने उरी गाँव के पास आ पहुँचे हैं। घने पेड। एक ओर कहीं पर लालटेन जल रही है। नाव किनारे की ओर जा रही है।

माँझी से रवि ने कहा, "बाढ़ का इलाका यहाँ से बहुत दूर है, यहाँ रात में न रुककर आगे चले तो कैसा रहे ?"

जम्बू बेहेरा ने पीछे की ओर देखा। फिर माथे पर दोनों हथेली रखकर कहा, "इस दुर्गम रात मे अनदेखे रास्ते चले आने के बाद भी मन नही भरा ? जो कहते हो और भी…फिर ? भाग अच्छा था। नही तो मोड़े दे रहा था, अब तो फिर कल सुबह ही कोई बात…।"

रवि ने कहा, "पानी आज रात-भर बढता रहेगा, घर टूटते होंगे।"

जम्बू बेहेरा ने कहा, "बढ नही रहा, खीच रहा है, यही तो असुविधा है। देखो न, किनारे से कितना टूट गया। चेरँगी नदी मे भी यही बनसी-काँटा रखा था किनारे पर, जो काँटे से सूता अधर-ही-अधर मे लटक रहा है। नदी मे पुश्ता टूटा है, पानी खीचे ले रहा है।"

रवि ने कहा, "पुश्ते टूटे हैं, धूम-धड़ाम कर पानी उछलता-कूदता जाता रहेगा। रोना-चीखना मचा रहेगा—"

"उन्हे भगवान् का भरोसा है। कल जो होगा। कौन बाहर निकले अब इस मौसम मे !"

पिछली नाव पास आती जा रही है। किनारा पास आ रहा है। पीछे से आवाज़ सुनायी पड रही है, "नाव को दाहिनी ओर खीचो, दाहिनी ओर, हाँ दाहिनी ओर।"

तूफ़ान गरज रहा है, सीटी मार रहा है, चडचड़ा रहा है। रवि ने मुड़कर देखा, खाली अँधेरा और स्याह पानी। अपने मे अनुभव कर रहा था जैसे घर छूने की ख़ुशी हो रही है। वह भीगकर लथपथ हो चुका है। हवा सिहरा देती है। ऊपर सूना रास्ता। अँधेरे मे हिलमिलाते पेड। कोई आदमी नही।

याद आ रहे हैं—निवाया घर, चूल्हे की आँच, छान तले का धुआँ, पिता, माँ, और छवि ! वह चिढाती-सी हँस रही है।

रवि किनारे के दलदल में कूद पड़ा। फिर बरसा की बौछार आ रही है। हवा मे मानो घर-उजड़े लोगों की समवेत रुलाई भरी है। उत्क्षिप्त होने की तरह लगा। बडी कोफ़्त हो रही थी। ध्रोवेई मिश्र ने कहा, "आज की रात देखें, यह मानो कह रही है कि आदमी जितना भी करे, प्रकृति के आगे उसके करने की एक सीमा है। वह भी प्रकृति का अग है, जैसे मियाँ की दौड़ मसजिद तक।"

"हम और कुछ नहीं कर सकेंगे ?"

"करेंगे, उन्हीं सर्वशक्तिमान् शक्ति का ध्यान करें। कहेंगे—माँ, शक्ति दो, जग का मंगल करो। तुम्हीं प्रलय कराती हो, तुम्हीं फिर रखती हो, तुम्हीं पालती हो!"

रवि ने कहा, "आदमी कर सकेगा, भरोसा रख सकेगा, मरकर दिखा सकेगा कि जीवन है।"

बई मलिक ने कहा, "नाव तो बढ़ेगी नहीं, माँझी नहीं मान रहे। आज रात यहीं। इस गाँव के लोगों की भी तो ज़रूरतें होंगी।"

रवि ने चचल होकर कहा, "पहले नाव को तो ठीक से बाँध लो।"

जम्बू बेहेरा ने कहा, "उसमें और कोई दूसरी बात है? बासेली देवी का नाम ले नाव बँधेगी, वजर-बन्धन होगा, चाहे कितना ही तूफ़ान आये, कुछ नहीं होगा।"

बरसा खुल रही है। भीगकर लथपथ। बरगद के पास से जाते समय कुछ सुनायी पड़ रहा है, कट-कट मड़-मड़कर हिलती-सी हवा रोदती बह गयी। कितनी रुँधी-रुँधी रुलाई, कितनी विकल चीखें, कितनी हा-हताशाएँ, सब मिलकर, घुलकर कानों के पास खेलती फिर रही है। दूर गाँव के अन्दर किसी के घर में फिर भी लालटेन जल रही है, कोई रखवाली के लिए बैठा है।

रवि घाट की ओर देखकर चल पड़ा। बस, केवल अतल अँधेरा, केवल विस्मय।

बारम्बार छवि याद आ रही है। मानो वह उसे देख पा रहा है ठीक सामने; फिर भी कितनी दूर है वह—बीच में कितना घना अँधेरा, कितने झड़-तूफान, कितने हृदय-मथे दीर्घ श्वास।

निशा-भोर की उजास—कितनी दूर है वह!

पाटेली गाँव में बरसा मूसलाधार पड़ रही थी।

चौधरी के घर से बाँध-ही-बाँध होकर पश्चिम की ओर चलने पर दाहिने, गाँव की बस्ती आयेगी। बाँध के नीचे सघन बग़ीचा, इसके बाद सीधा रास्ता, फिर नीचे धान का खेत, क्रमशः पश्चिम की ओर, बालू-ही-बालू फैली है, फिर बाँध के ऊपर में खड़े होने पर बायीं ओर दिखेगा तीखा कगार, तिरछा होता गया है, दाहिनी ओर नीचे-ही-नीचे उतर गयी है तटबन्ध के कगार की चिकनी ढलान। वहीं रास्ता गया है जोगी बस्ती को।

उसके उधर दिख रहा है, डोमों की बस्ती के इस सिरे पर अकेला खड़ा सेमल

का पेड़, कुछ जरा हटकर।

जोगी बस्ती के लोगों का कहना है कि मूल पाटेली गाँव यही है। उन्ही के पूर्वजों ने इस गाँव को बसाया था, इसे नाम दिया था। इसी माटी में दवे है उनके अकलनीय युग के पूर्वज, और जाने कितने ही अभी भी बैठे है, जीवित। उनका कहना है, इस खण्ड में यही थी अदग्ध धरती, किसी जमाने नदी अन्दर थी, सिद्ध साधक यहाँ रहेंगे—इसलिए नदी सरक गयी। सिद्धों ने यहाँ डेरा जमाया। उस दिन से है वह यहाँ। प्रमाणस्वरूप वे दिखाते है पास-पास टीले पर खडी दो पुरुष-भर ऊँची तीन बाम्बियों को, कहते हैं ये ही तो हैं काश्यपनाथ, ये ही कपिलनाथ, ये ही कमलनाथ। तीन सिद्ध ध्यान करते-करते वैसे ही मानो जीवित बाम्बियाँ वन गये। उन्ही के वंश के हम है, वही रक्त है। अकलनीय युग का साधना पीठ। अकलनीय युग की बस्ती। उसके उधर जो पाटेली गाँव है वह तो नयी बस्ती है।

पर देखते ही धरती कह देती, नदी ने कभी यहाँ तटबन्ध तोड़ा था। जानकार—देखे हुए आदमी ही कह सके कि कब तोडा था। अब तो उनमें से कोई बचा नही।

चारों ओर माटी इतनी बलुई होने पर भी किसी-किसी के पिछवाड़े में छोटा-मोटा बगीचा भी दिखता। नारियल, कटहल अच्छे फलते। किसी को बुख़ार होने या दस्त लगने पर डाभ की खोज होती तो इधर ही पहले गाँव के लोग आते है। नारियल के अनेक पेड़ है। जोगी बस्ती का प्रसिद्ध लाभ लड़ाई-झगड़ा लगाने के लिए असल बीज है, इसी को लेकर कितने घरों में मतान्तर हो जाता है। साग-सब्जी अच्छे होते। गाय-बकरी मोटे-ताज़े दिखते। जोगियों का कहना है कि यह सारी उस जोग-विभूति की दया है, सब उसी की महिमा है।

वैसे ही इस महिमा के कारण जोगी बस्ती के लड़के-लड़कियाँ सुन्दर होते हैं। जोगी बस्ती की बेटियाँ तो अपनी सुन्दरता के लिए सारे इलाके में प्रसिद्ध है।

गोल-गोल होकर मुँह बन्द चेहरे लिये तीनों सिद्धनाथ! उनकी समाधि-पीठ के चारो ओर थूहर और लम्बी-लम्बी नागफनी बढी हुई है। फूल खिलते है, पिछवाड़े में लगे हैं गोल-गोल कई बबूल के काँटेदार पेड, फूलो से लदे-भरे।

किन्तु जोगी बस्ती की असल बुनियाद को अस्वीकार करती है डोमों की बस्ती। बस्ती के उस सिरे पर आज भी जगह-जगह इक्के-दुक्के पाटली के झाड़ खड़े दिख जाते हैं, उनमें रक्तिम लाल-लाल फूल खिलते है। उनका कहना है कि वे लोग पहले आये थे। पहले यह भाग पाटली वन था, उन्होंने ही बस्ती बसायी थी; अतः यह है पाटली गाँव। फिर पता नही कब की बात है? हाँ, हाडिपा गुरु गोविन्दचन्द भ्रमण करने को लेते आये। जगत्-भर में घूम रहे थे। तब पाटली वन की अपूर्व शोभा देख वे यहाँ कुछ बरस रुक गये थे; उन्हें लुभाने के लिए इन्द्र ने

पाटेली-कन्या भेजी। पाटली वन में पाटेली-कन्या ने उनकी सेवा की, जनमे एक-के-बाद-एक कर दो पुत्र, एक कन्या—अजपा, अछपा, अरूपी। बाद मे हाड़िपा गुरु चेते। बोले, 'मुझसे इन्द्र ने डरकर इतना बड़ा काम किया, ससारी बना दिया, उसी दोष से पाटेली-कन्या को अभिशाप दिया—तू और तेरे बाल-बच्चे होंगे पाण (डोम), ठाकुरजी की पूजा के समय बाजा बजायेंगे तो तुम्हारी मुक्ति होगी।' इतना कहकर गुरु हाड़िपा अन्तर्धान हो गये। अरूपी ब्याह कर गयी जहँतरागढ़। अछपा डट गये चण्डी बरमपुर। अजपा यही रहे, घर-ससार बसाया, वश बढ़ाया।

"इन तीनों थल के पाण इस ओड़ राष्ट्र-भर में एक नाम है, पूछ देखो। छोटे होने पर क्या हुआ, हाड़िपा का रक्त अब भी इस देह में है। कौन नही जानता उनकी महिमा? नारियल के पेड को कह देते कि 'झुक', तो लरज जाता था, डाब तोड़ लेने तक वैसे ही सिर झुकाये रहता। 'सीधा हो' कहते, तब उठता। किसी गाछ पर चढ़कर उसे 'चल' कह देते तो बस उड़ चलता आकाश-मार्ग से, फिर जिधर इच्छा होती उधर जाते। माटी को सोना और सोने को माटी, जिन्दे को मुरदा और मुरदे को जीवित! वे सब कुछ कर सकते थे। इन्द्रपद पा जाते, उस पाटली-कन्या ने उन्हे विभोर कर लिया।"

ऐसे गुरुगम्भीर होकर बूढ़ा शतुरा डोम या नरसिंगा डोम सिर हिला-हिलाकर धीरे-धीरे बात कहता, "यह जोगी बस्ती—वह तो कितने बाद की है, कल की तो बात है, नदी के कछार में खस के झुरमुट साफ कर झोंपड़ियाँ खडी की गयी थी।"

जोगी बस्ती मे केन्देरा का अभ्यास करते समय उधर से सुनायी पड़ती महुरी की उत्ताल गूँज। इस तरफ़ टूटी दीवार पर बकरी में-में करती तो उधर फूटी दीवार पर चढता गजा मुर्ग़ा पहर की आवाज लगाता।

दोनों बस्तियों के सामने लम्बा पसरा है जोहड़। उसमें दल भर गये हैं, पानी मे खिलनेवाले केन्दुली, पहले नदी ने यहाँ जब बाँध तोड़ा तो बहुत सारा बहाकर ले गयी थी। लगता है, उसी से यह जोहड़ बन गया। वो भी पता नही कब की बात होगी, किसी को याद नही। जोहड़ कम ही गहरा है। किनारा छोड़कर जितना-जितना लम्बा नीचे की ओर खिसका है, उतने ही उसके सहारे-सहारे जोगी-बस्ती और डोम-बस्ती के पिछवाड़े की बग़ीचियाँ-बाड़ियाँ फैल गयी हैं, जगह-जगह केले के झाड़ भरे है।

उस बार की उस घोर बरसा में जोहड़ भरा था, खेत भरे थे। चारो ओर खेत-बजर सब जगह से पानी बह आया। नदी के किनारे नीचे की ओर सहस्र धारा से घाई खुल गयी। बह गया भुस-भास कर। इधर पानी में उब-डूब होती जोगी-बस्ती, उधर और भी छूट रहा है नाला, जितने केवड़े के झुरमुट काटकर डालो, या माटी काट-काटकर आड़ी डालो, मुँह बन्द होता ही नही। इधर पानी की ऊँचाई उठती-बढ़ती जा रही है, किसी के घर के आँगन में पानी लहरें मार रहा है,

किसी की दीवारों पर हिलोरें ले रहा है, बराबर मूसलाधार बरस रही है। ऊपर पानी, नीचे पानी। गरज-गरजकर आ रही तेज बौछारें, उड़ाये लिये जा रही हैं, हिला देती है। उधर आशंका, कब नदी का पुश्ता ढह जायेगा। इतनी खूंटो-ठुंसी बस्ती में कोई टीला भी नहीं है। पानी बढ़ा तो सब निराश्रित। जिधर देखो, बस केवल पानी-ही-पानी, जीभ सूख जाती है।

पाटेली गाँव के लोग उस पुश्ते को बचाने में जुट पड़े हैं, घाई खुल गयी तो क्या होगा! एक दल के लोग टखनों तक के पानी में होते हुए जोगी-बस्ती में पहुँच गये हैं। उन्हीं में छवि भी है।

डोम-बस्ती के चारों ओर पानी घिर गया; किन्तु वह जोगी-बस्ती से तनिक ऊँचाई पर है, पानी दीवार के पास सरक आया है लेकिन आँगन में नहीं घुसा। जोगी-बस्ती में सिर्फ हाव-हाव लगी है। थाली लेकर फिर आने पर भी वे लोग चाली हैं, भिक्षाटन तो उनकी पुरातन परम्परा के अनुसार एक मर्यादा है, कभी-कभी का मौज है। मानो वह एक प्रकार से सामाजिक कर्तव्य भी है। घर में हल-बैल है, कोठला, भारी, पेटी-पिटारा है, कितने जमाने का जोड़ा हुआ, कितने फटे-पुराने कपड़े, पूड़ा, अलाय-बलाय, कितनी अनावश्यक चीजें जो कभी काम नहीं आतीं, फिर भी घर से निकाल देने को मन नहीं करता। किसी के साथ कौन-सी स्मृति जुड़ी है। अचानक आँगन में पानी लहरें मार रहा है, दरवाजा लाँघ रहा है। पहले चीजें उठाकर रखी जा रही है ऊपर, सन्दूक और बक्से हों तो उनपर। फिर यहाँ से वहाँ रखो, जहाँ तनिक सूखी जगह हो। देखते-ही-देखते पानी भर आता है, घर के अन्दर पानी की सतह ऊपर और ऊपर उठती जा रही है, क्या होगा इसके बाद? सचमुच क्या घर छोड़ बाहर जाना पड़ेगा? आशका घिर रही है; किन्तु बढ़ते-बढ़ते वहीं रुक रही है—वही, जहाँ आदमी के मन में आशा है कि यह पानी घटेगा, छूट जायेगा। और अधिक कुछ होगा, ऐसी कोई कल्पना ही मन में नहीं आती। परन्तु चल रहा है हो-हल्ला, उपदेश देना-लेना, विचार-सलाह, पानी को लहराते देख विश्वास दहल उठता है। कोई एक-दो गाय-गोरू लेकर किनारे की ओर मुँह किये चल पड़ा, पीछे-पीछे और भी धार आ गयी, बाल-बच्चे लेकर गाँठ-गठरी लाद चटाई-चादर सिर पर ढोकर चल पड़े कुछ लोग—वे ही लोग जिनका घर में अधिक कुछ नहीं है। थोड़ा-बहुत जितना है, उसी के लिए तर-तर हो रहे हैं। खेत में कहीं घुटने तक, कहीं कमर तक पानी, जिधर नजर दौड़ाओ, पानी-ही-पानी। बरसाती हवा और भी जोर-जोर से बौछारें मारती आ रही है। जाते लोगों को देखकर रुके हुए लोगों की छाती में छन् से सिहरन भर जाती है। पाटेली गाँव के लोग घूम-घूमकर बहलाने में लगे हैं, पुश्ते के नीचे से छेद निकला है, उपक्रम करने पर भी नहीं दबता। पुश्ते का भरोसा नहीं, रात आ रही है, चले आओ बन्ध के ऊपर, पहले जीवन, बाद में और कुछ।

औरतों के दल मे छवि थी। घर-घर वही सिर चकराती भँवरों मे उसने कब क्या किया, उसे कुछ याद नही। किसके बच्चे को गोद में उठाया, किसके घर की चीजें बाँधी, किसका हाथ पकड घसीटते-घसीटते बाहर खीच लायी कि कही दीवार न धँसकर ऊपर गिर पड़े। ढूल-ढालकर गिरती किसी की भीत देखी, लोगो की चीख़-पुकार उसके कानों मे पडी है। बुद्धि आकर कहती गयी—यह कर, वह कर!

'चले जाओ', 'चले जाओ' कहते-समझाते ये लोग जोगी-बस्ती से डोम-बस्ती की ओर पहुँचे। डोमों की चोदह-पन्द्रह घरों की बस्ती। जोगी-बस्ती से पहले से वे लोग तैयार है। पोटली, गठरी, बहँगी लटकाये बाँध-छूँधकर आगे बढ़ गये। अस्सी बरस का बूढ़ा शतुरा डोम सबको चेता गया है—यह तो कही धाई टूटा पानी है, खेत का बहाववाला पानी इतने ताव में नहीं आयेगा। ऊँचे घराने की औरतों को अपने दरवाज़े पर देखकर उसे बडा आश्चर्य हुआ। "किधर आज कहाँ आ गयी बेटी, साआन्तानी, आप लोग! देखो न, कैसे पानी दबाये आ रहा है!" पर वे सब तो मिल गयी घर मे, सबसे।"

उन्ही के साथ मिलकर चीजें ढोते, बच्चों को गोद में उठाये फिर रही हैं—छवि, केला की स्त्री, रघुआ की माँ, साथ की जितनी बहू-बेटियाँ। दुख-दुर्दशा में एक साथ दल बाँधे आदमी हैं, सब मानो एक ही घर-परिवार के है। कोई भिन्न जाति नहीं, बस्ती नही, अलगाव की चेतना ही वहाँ नही।

मेघो ने अँधेरा कर रखा है। सूँ-साँती हवा। पानी मे बहाव तेज हो गया है। जाँघ तक, कही कमर तक के पानी में लोग-बाग धकेलते-धकेलते आगे चले जा रहे है।

छवि वग़ैरह ने इसी तरह तीन बार आना-जाना किया। तब तक जोगी-बस्ती मे लोग कम हो चुके थे, डोम-बस्ती में अब और कोई नही रहा था। चीजें सिर पर लेकर गाय-भैंस खीचते कोई-कोई आ रहे हैं। पुश्ते पर तब भी लोग माटी डाल रहे हैं। आपस मे कह रहे हैं—"खेतों की ओर इतना पानी किधर से आ रहा है, या दूसरी नदी मे, दूर कही, कोई धाई टूटी है?"

बाँध पर पैर रखने को भी जगह नहीं है। सबसे पास अहीर-बस्ती के सामने आम का बगीचा है। चीजें सिर पर लादे, बाल-बच्चों को काँख मे लिये, गाय-गोरू लिये, जोगी-बस्ती और डोमों की बस्ती के लोग चल पड़े उसी ओर। जिसे भी जगह मिली, वह अहीरो की बस्ती मे, किसी गुहाल के कोने में, या बरामदे मे, या चबूतरे पर जा टिका; नही तो पेड़ के नीचे, जहाँ कही सूखी जगह मिली। कही गीली, कही कीच—भली-बुरी जगह का कोई विचार न रहा। लोगों की भीड़ से बगीचा भर गया। पूछ-ताछ करने नही तो केवल देखने के लिए ही बस्ती-बस्ती से स्त्री-पुरुष आये। वही छवि और उसके साथ की स्त्रियाँ, लोगों को रखने-बैठाने के काम मे जुटी थी। उनके उद्यम से अहीर-बस्ती मे जगह-जगह गुहाल झाड़-बुहार-

कर साफ़ किया गया, लोगों को राँधने-पकाने के लिए चूल्हे जलाये गये। भीगे कपड़े सुखाने के लिए, देह तपाने के लिए बगीचे मे जगह-जगह आग जलायी गयी।

दुख-सुख से सब मिल गये। गाँव ने उन्हें अपना लिया।

पहर रात भी नही गयी होगी, अहीर-बस्ती के भीगे रास्ते पर बैठ गयी एक बड़ी पंगत। केले के पत्तों पर भात और डालना (दाल में ही सब्जी वगैरह डालकर बनाया गया खाद्य-पदार्थ) परोसा गया। सिन्धु चौधरी देखने आये थे। तबतक छवि और साथ की स्त्रियाँ जा चुकी थी, भोजन का जुगाड़ करके। साथ मे शतुरा डोम की पतोहू ले गयी थी, उसके महीने-भर का बच्चा जो था। घटा-टोप अँधेरा, रास्ते मे फिर बरसा, पर छवि का मन ताज़ा था, मानो वे गढ जीतकर आ रही है, छवि को याद आया, ऐसे ही बरसाती रात थी उस बार। भीगा हुआ पहुँचा था वह, जिसका वह ध्यान करती—रवि ! क्या करता होगा वह? छवि के मन मे उत्साह भर रहा है उसके चेहरे की कल्पित भंगिमा। यही तो राह है, यही तो काम है। मन-ही-मन कोई कह रहा है—अँधेरा-बरसा आदमी को एक जगह करता है, दुर्दिन उसे एक कर देते हैं!

शतुरा की पतोहू सुबकते-सुबकते कहती है—"इतनी बरसा हुई, वे क्या करते होंगे। उस समय घर का क्या हुआ होगा! भीतें तो गिर चुकी होंगी!" उसका स्वर मानो अन्धकार मे, बिजली की तरह झक् से सब दिखा जाता है। दिखायी पड़ जाता है लोगों का विपद् से पुता चेहरा, असहाय भाव से टिमटिमाती आँखें। बरसा छूट गयी। छवि के मन मे चिन्ता भरी हुई थी, कम नही हुई थी।

रात बीतने से पहले ही जोगी-बस्ती के पास नदी का पुश्ता टूटा। उसके दूसरे दिन नाव लिये पहुँच गया था फूलशरा का दल। उसमे रवि भी था।

पाटेली गाँव मे जोगी-बस्ती के लोग, डोम-बस्ती के लोग-बाग घर छोडकर सब निकल गये, सब नही, कोई-कोई रह भी गया।

चारों ओर सुनसान हो गया, हलका अँधेरा घिर आया। जोगी रोहीनाथ ने अपनी स्त्री दुलभा से पूछा, "पिछवाड़ के किवाड बन्द है, तो दूल?"

नाम लेकर दूल के अलावा और कुछ पुकारने की पारी नही आयी। छत्तीस का होगा। छरहरे, इकहरे बदन का आदमी, लम्बा नही और नाटा भी नही। हाथ-पैर तेज़ है। पर ब्याह किये अठारह बसन्त पार कर चुकी है दूल, पर अभी तक किसी से 'माँ' का सम्बोधन उसने नही सुना।

दूल ने भी बहुत जिद की—सब जा रहे है, हम भी चलें, पर रोहीनाथ राज़ी नहीं हुआ। औरों के घर की बजाय उनका घर कुछ ऊँचा है। रोही ने तर्क किया,

"इस बाढ़ से बेसी डर तो निगोड़े आदमियों का है। सच, क्या सब चले जायेंगे, सोचती हो? घरों की ताक में आज कितने ही लोग होंगे, कितने ही घरों का आज पटिया साफ़ हो जायेगा। क्या होता है, हो जाने दे, आज रात-भर सबर कर, इतनी चिन्ता क्यों?"

पर सभी जब जा चुके, चारों ओर सूना-ही-सूना हो गया तो रोही का दर्शन-तत्त्व दूल को कुछ कमज़ोर-सा लगा। घर मे खाट पर रोही बैठा है, खाट के पायों से तीन बिल्लियाँ पीठ रगड़ रही हैं। उनके पास और दो हैं। सारे डीह-भर में पानी ढुलक रहा है, दरवाज़े पर जो नारियल खड़ा है, मानो वह पानी में से ऊपर उठा है। रास्ते की ओर का भाग ऊँचा होने पर भी पानी आकर दरवाज़े के सामने रास्ते पर लग गया है। क़तार मे बस्ती फैली है, पर कोई कहीं नहीं।

दूल की छाती के अन्दर थरथराहट भर गयी। कहा, "बैठे क्या हो, आओ तो सही रास्ते पर, यह क्या हो गया?"

"और क्या देखूं? पानी ही तो है! वसुधा पर जलार्णव हो रहा है। आज रात-भर का खेल है, फिर वह अपने स्थान को लौट जायेगा, और क्या? इधर आ, वहीं देख।"

दूल का मन नहीं माना। पानी मे घुस एक-एक कर गाय-बकरियाँ लाकर उन्हें घर के अन्दर और सोने के कमरे के बरामदे मे बाँधा, पर हों चाहे जानवर, भीड़ में उन्हें भी तनिक आश्वासन मिला।

धड़ाम से एक आवाज़ आयी। एक साथ गाय-बकरी सब चिल्ला पड़े। खाट पर से कूदकर दोनों बाहर आये। पिछवाड़े में रसोई की पिछली दीवार गिर गयी थी। आँगन खुला पड़ा था, पिछवाड़े से सब दिख रहा था, केवल ख़ाली मैदान, समुद्र फैला पड़ा है, पानी हिलोरें ले रहा है, पानी-ही-पानी।

झक् से बिजली चमकी, फिर झक्, झक्, झक्। घर-बाहर सब एक हो गये हैं। पानी मे तैरते-से कुछ-कुछ इधर-उधर टापू।

पानी मे छपाक-छपाक करते दोनों बाहर आये। रास्ता सुनसान पड़ा है। बिजली चमकने पर स्रोत दिख जाता है। कितने ही घर पछाड़ खा गिरकर सो गये हैं। इधर दिखता है, मानो समुद्र लहरा रहा है। दूल बरामदे से नीचे उतर गयी। कमर तक पानी, फिर शीघ्रता से ऊपर चढ़ आयी। सारी देह सिहरन से भर गयी। बोली, "पानी तो बहुत बढ़ गया है, अच्छा, भगवान् को पुकारें! भय को जितना देखेंगे, वह उतना ही भयावना दिखता रहेगा!"

चिवड़ा भिगो खाकर खाट पर लुढ़ककर समय काटने लगे। आँखों मे नींद कहाँ? बाहर घोर अँधेरा भरा था, घर के अन्दर एक लालटेन सन्दूक पर रखी जल रही है। अभ्यस्त भजन को दुहराते-दुहराते कुछ समय कट गया रोही का, इसके बाद वह भी बन्द हो गया, अपना स्वर ख़ुद को चौंकाता-सा लगा। दूल के

गले तक बात उठ आती थी कि कहूँ—तुम्हें ऐसी बुद्धि कैसे हुई ? सब गये, सिर्फ तुम क्यों नहीं गये ? सचमुच यह प्रलय की रात कटेगी भी ? जीवन रहेगा भी ? जान-बूझ क्यों विपद् को बुलाया ?

पर वह मन को मजबूत कर ख़ुद को सँभाल रही थी, रोने को जी चाहकर भी वह रो नहीं रही थी। यह विपद् मानो संसार-भर में उसके सबसे प्रिय व्यक्ति के प्रति उसकी आँखों में और अधिक आदर भावना भरकर परिचित करा रही है, और अधिक निविड भाव से गूँथ रही है उसके साथ। उसे लगता है—उसका सब कुछ तो यही है, इसी के लिए तो वह जीना चाहती है, यही तो उसके जीवन का हेतु है।

रात गहरी हो गयी। आधी रात हुई होगी। भयंकर धडाम्-धडाम् की आवाज़ से दोनों फिर चौंक पड़े। उस कमरे की बाहर की तरफ़वाली दीवार धराशायी हो हो गयी थी। बिजली खिल्ली उड़ाती-सी चमककर चली गयी। सब खुला था।

तब बावली की तरह दूल ने काँपते हुए रोही को जकड लिया और फफक पड़ी। बस बाल-बाल बच गये थे, नहीं तो दीवार उनपर भी तो पड सकती थी। रोही ख़ुद को दूल के बन्धन से मुक्त कर उसके हाथ को पकड खींचता-सा, आतुर होकर कहने लगा, "हे भगवान् ! हे भगवान् ! चल, चल—"

घर के आँगन में सब एकाकार। भीत, कमरे की दीवार, सब बैठ गये थे, इधर-उधर पानी फैलता जा रहा था। रास्ते की तरफ़वाला कमरा अभी भी बचा था। पर उस कोठरी में पानी घुटनों तक। दूल चिड़चिड़ा रही थी, "सब गया—सब गया—ईं लो—मेरी गाय खडी-खडी ही मर जायेगी।" अँधेरे में टटोलती-सी सबकी जेवड़ियाँ खोल डाली। खोलने पर कौन किधर चली जायेगी या बह जायेगी, यह विचार न था। इसके बाद रोही को डर लगा। दूल नहीं दिख रही थी। वह चीख़ा, "दूल, दूल, कहाँ गयी ?" भण्डार-घर के टूटे ढेर के नीचे से दूल की रुलायी सुनायी पड़ी। लम्बी छलाँग भरकर फाँदता हुआ रोही उसके पास पहुँच गया। हाथ पकड़ खींच लाया, "बड़ी बाढ़ आयी है री ! निकल आ, छान पर चढ जा, छान पर चल।" टूटी दीवार की झुकी हुई छान पर से होते हुए बाहरवाली कोठरी की छान पर वे जा बैठे। बरसा थमी हुई है। चारों ओर सूँ-सूँ सुनायी दे रहा है। पीढ़े पर बैठकर रोही ने पुकार लगायी—"कोई है···बचाओ···रक्षा करो !" मानो उसी की पुकार की प्रतीक्षा थी। दूर-दूर से वैसी ही और भी लम्बी चीख-पुकार सुनायी दी—"हो ओ—ओ—रक्षा करो—"

सुनायी पड़ रही है घर्रायी आवाज़ें, उस भयंकर रात में किसी का व्याकुल स्वर, मानो और किसी व्याकुल व्यक्ति को सान्त्वना दे रहा हो कि विपद् में भी हम एक हैं, गोठ से अलग नहीं, जीये साथ-साथ, और अब भी साथ-साथ ही···।

थोड़ा हल्ला कर घुटे-मुँदे मन का उफान बाहर निकालकर रोही और दूल ने

जब स्वयं को तनिक आयत्त किया तब रोही ने दूल से कहा, "शायद पाण-बस्ती का फगू बूढ़ा रह गया ? घुटने की गाँठ तो फूली हुई थी, देह अचल थी ही, बेटा नहीं, घरवाली नही, कोई नही। शायद बूढे को कोई ले नही गया ?"

अकुलाहट मे दूल ने पूछा, "अब क्या होगा ?"

रोही ने हिम्मत से कहा, "कुछ नही री, दीवार गिर गयी, पानी भरा है, तभी ऐसा दिख रहा है, पानी घटने पर सब घर खड़ा करेंगे, चिन्ता क्या है ? ऐसा होगा, मैं क्या जानता था ? धीरज रख, जो होना था सो तो हो गया, भगवान् को पुकार !"

फिर आ गयी बौछार। दोनों भीगने लगे। दोनों ने एक स्वर मे पुकारा, "हे भगवान् ! हे भगवान् !"

उस बौछार के बीच कितना कुछ कही गिरने लगा। घड़ी-घड़ी में बिजली कौंध जाती। पानी लहरा रहा है, कितने घर उखड़ गये, टूटी-फूटी दीवारों के पार दिख जाते हैं खुले आँगन, ढेर-की-ढेर बनी कोठरियाँ, दीवारें और धराशायी छप्पर।

नीचे गाय-बकरियाँ बिखरी फिर रही हैं, रँभा रही हैं, साँय-साँय हवा के झकोरे और नीचे सूँ-सूँ करता पानी का बहाव।

और फिर अचानक प्रलय आ गया। घोर गर्जन शुरू हो गयी, मानो समुद्र उछल आया है, या एक साथ धड़-धड़-धड़-धड़ करती रौंदती जा रही है कोई तेज रेलगाड़ी। दूल चिल्लाने लगी, "सब शेष, सब खत्म हो गया ! नदी का बंध टूट गया है !" 'भगवान्' ! 'भगवान् !' चिल्लाकर उन्होंने प्राणपण से पुकार लगायी —आदमी के कानो तक पहुँचाने के लिए—"हो—बचाओ, रक्षा करो।" उछलते पानी की गरज, बरसा की हाव-हाव मे कही उनका स्वर घुल-मिल गया। प्रबल वेग से तूफ़ान की तरह रौंदती आ गयी ढेरो लहरें, बिजली की झक्-झक्-सी लगती थी—मानो सदल-बदल उछलती-छलाँग भरती आ रही हैं, घर-द्वार, पेड़-पौधे सब खीचती-उखाडती आ रही हैं ! ओह ! कितना क्रोध, कितना रोष भरा है, कितनी गरज-तरज, भीमाकार है ! पेड-के-पेड उखड़े जा रहे हैं, और झकझकाती झलकों मे दिख जाती है ऊपर को मुँह किये पेडों की जडे, आडे पडी छानें, ढेर-के-ढेर कुरी जो उखडती जा रही है, लहरों और गोल-गोल चक्कर काटती भँवरो की उछल-कूद मे। बिजली थम जाती है, अँधेरा दलदला जाता है, फिर बिजली कड़कती है, और उसमें कौंध जाता है बिलकुल जानी-पहचानी बस्ती का रूप। कितनी जल्दी बदलकर हो गया है एकदम अनपहचाना; जहाँ जो कुछ था उसका रूप आँख मीचने पर भी साफ़ दिख जाता है मन-ही-मन। बाहर वहाँ उसकी सत्ता लुप्त हो चुकी है। पास में जो कुछ था वहाँ अब और नही है, कोई पेड़, कोई बाग-बगीचा, किसी का चबूतरा, किसी की दीवार, पल-पल मे वह सजा-सँवरा बदलकर

अपरिचित हो गया है। नया भी कितना कुछ बह आया है, छान-छप्पर, काठ; चीज़ें। पुराना कहीं जा चुका है। फिर भी दौड़ती-भागती लहरें आ रही है—लहरें, दल-की-दल बाँधे। और अँधेरे के ढक्कन तले जब कुछ नजर नही आता, केवल घना अँधेरा-ही-अँधेरा भर जाता है, कानों में अनवरत घू-घू पानी की आवाज़। बीच-बीच मे आदमी की व्याकुल चीखें, और तब छाती दहल जाती है। तबतक धाई के टूटने का प्रबल तोड़ उनके घर के ऊपर तक सारा जोर लगाकर नही उठा था, घर तनिक बग़ल मे होकर कुछ ऊँचाई पर है, पर बिजली की चमक मे दिख जाता है—कितना ऊपर बढ़ गया है, आस-पास सब जगह ध्वंस और प्रलय की ताण्डव-लीला चल रही है। दूल रो रही है, चीख़-चिल्ला रही है; रोहीनाथ पागल की तरह बक रहा है, रो रहा है, आवाज़े दे रहा है। और उस कोठरी के ऊपर दोनों बैठे एक-दूसरे को बाँहों में भरे है, कही कोई किसी को छीन न ले जाये। बढते हुए प्रलय की आवाज़ के बीच दूल की आवाज सुनायी पड रही थी, "ई लो, बह नेता (बाछा) बह गया!—ई लो, बाछड़ी गयी—माई री, मेरी बकरी कहाँ जा रही है—" तबतक प्रलय की भँवर रौदती आ गयी थी उनकी छान के नीचे तक और मानो वही दिखाने के लिए बिजली चमक उठी हो। रोहीनाथ ने देखा, उस कोठरी के अलावा उनकी सारी-की-सारी कोठरियाँ गिर पड़ी है, छान गिरकर ढेर हो चुकी है, बिछे बाँस भँवरी खेल रहे हैं, कितने बहे जा रहे है, और उसकी आँखो के आगे बहे जा रहे है—गाय-बकरी, घर की चीजें। सन्दूक-हण्डी, कपड़े-लत्ते का सारा ससार, और जाने से पहले मानो माया टूटने के पूर्व इधर-उधर बिखरकर सब कुछ पानी की भँवर के चारो ओर घेरा काट गिरता-पड़ता है, उठता-डूबता है और फिर अन्तर्धान होता जा रहा है। फिर ढेर-का-ढेर अन्धकार। छटपटाकर रोही और दुलभा जी-जान से चीख उठते है—"बचाओ-बचाओ—कोई—मर गये! मर गये!—" छान बार-बार काँप रही है, हिल रही है, चर-मरा रही है। बिजली चमक जाती है और दिखता है—कहाँ है गाँव, कहाँ है कोई घर, कोई आँगन, कोई रास्ता! सब पर अथाह पानी बिछा पडा है, चारो ओर। छान की थूनी, ढोर-डाँगर, लोंदा बनी चीज़ें। कितना कुछ उठकर साँय-साँय करता कही चला जा रहा है। पानी की विस्तृति पर चाँय-चाँय बिजली चमक जाती है, और उसमे दिखता है—वहाँ न जोगी-बस्ती है, न डोम-बस्ती, न रास्ता, न बाड़। तैरते-तैरते वन-जगल के बीच कही एक-आध छान सिर टेके है। चल रही है कान फाड़ती धाई टूटने की गरज, कितनी ऊँची लहरें छलाँग भरती-सी आ रही है, एक के पीछे एक, असख्य, और कितनी जल्दी सिर चकराने-जैसी भँवरों मे चक्कर मारकर कही चली जाती है।

फिर आ गयी तेज़ बौछार। आकाश विदीर्ण करती-सी ढाँय-ढाँय बिजली कड़क उठी। रोही और दूल एक हाथ से छान को और दूसरे से परस्पर को जकड़-

कर व्याकुलता में चिड़चिड़ाते गला फाड़कर चिल्ला पड़े। अचानक लगा एक ज़ोरदार झोंका आया है, झाल में भड़ास से घर दब रहा है। छान हड़हड़ाकर पानी में जा रही है। छपाके से बौछार आकर उन दोनों पर पड़ी, और फिर तो पलक मारते ही कुछ-से-कुछ हो गया—किसी जीवित जन्तु की तरह खींच-खाँच, छट-पटाकर, मानो वह छप्पर एक सिरे से टूटकर मुक्ति पा अलग हो गया। चकराती भँवरें घूम-घूमकर गाँय-गाँय करती हुई अँधेरे में कहीं वहा ले चलीं दो आदमियों को अपनी पीठ पर बैठाकर। अपनी वज्रमुष्टि में छप्पर और उन दोनों को जकड़-कर बहाता ले गया धार्इ के टूटने पर आया वह बाढ़ का पानी। पता नहीं किधर-से-किधर !

फूलशरा गाँव का बाढ़-सहायता-दल !

रात-भर ठहर गये उसी गाँव के नि. प्रा. स्कूल के घर में। पास में ही राधू पृष्टी का घर। उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की, उलटे घर से बालटी, लोटा, रस्सी आदि निकालकर दिये, कैसे वे उनके ज्यादा-से-ज्यादा काम आ सकें—उसी की फ़िक्र में लग गये। अट्ठाईस-उन्तीस के युवक राधू पृष्टी। ततैया की तरह पतली कमर, हड़ीली देह, कुछ लम्बे चेहरे पर चपटी नाक के नीचे मक्खी की तरह मूँछ, चमकती आँखें, तर-तर बाल। मेट्रिक सेकेण्ड क्लास में पढ़ाई छोड़ जिला-बोर्ड में अनट्रेण्ड शिक्षक रहकर वेतन से पाँच प्राणियों का कुटुम्ब चलाते हैं।

उनके मुँह से सुनायी पड़ते—कभी आशा के टूटे-फूटे शब्द। उनमें कभी मिरच की-सी तेजी, कभी नीम की-सी कड़ुआहट।

राधू पृष्टी ने वही बात शुरू कर दी, "अच्छे काम से निकल पड़े हैं, घर में जगह देने से इनकार करेगा, कौन होगा ऐसा नीच ! और स्कूल-घर की फिर क्या हालत है। गला-टूटा छप्पर, सारे फ़र्श में गड्ढे-ही-गड्ढे। दीवारों पर बाम्बियाँ, चलिए, आप ही देखें। कुण्डा तो नहीं, फिर ताला कहाँ पड़ेगा ? टूटी-सड़ी कुछ डेस्क, उनमें भी कई चोरी हो चुकी। घर की छान से बाँस खींच ले जाते हैं। जो चाहता है यहाँ आकर रहता है, चूल्हा बनाकर कोयला-राख चारों ओर बिखेरकर चल देता है, उसपर फिर गाय-गोरू भर देते हैं और सारे फ़र्श पर गोबर-गोमूत्र। वे तो चाहते ही नहीं हैं कि यहाँ कोई इस्कूल-फिस्कूल रहे, यह स्कूल उठ जाये तो गणी तरेई वहाँ खलिहान बनाने की सोच रहे हैं। उन्हीं की जगह जो ठहरी ! मान पति सेक्रेटरी बने, उस दिन से उनका गुस्सा अधिक है। आधे बच्चों को रोक दिया है ! इस गाँव में और है भी कौन, ये दो ही तो पैसेवाले, ज़मीनवाले आदमी हैं। बाकी किसी की दो बीघा, किसी की एक और किसी की आधी बीघा, नहीं

तो दुखी-दीन है। उनमें फिर कम्यूनिस्ट, कांग्रेसी, राजपूत, यादव आदि कितने दल है। खैर, पाई टूटी, वाढ आयी, तभी तो आज स्कूल-घर की जरूरत पडी है, राधू पृष्टी को नींद से उठाया गया ! अपने गडगड़ाते भाषण मे राधू पृष्टी जो वात कहता गया, मानो उसके द्वारा उन अपरिचितों की सहानुभूति वह मांग रहा है, उपस्थित समस्या के साथ मानो उसका कोई सम्बन्ध न था।

वे फिर कहने लगे, "ये तो हुआ इस गाँव का हाल-चाल, वाबू ! इस गाँव में कौन निभा पायेगा, वताओ? एक के साथ जितनी वात की, जितने दाँत निकालकर हँसे, दूसरे के साथ भी नाप-तौलकर उतनी ही वात कहना, गिन-गिनकर उतने ही दाँत दिखाकर हँसना पड़ेगा, वह सोचेगा वरना कि तुम दूसरी तरफ़ के आदमी हो। वन फिर तुम्हारे नाम पर होगी पिटीसन, आकाशनामा, महजरनामा दरख़ास्त। समझ लो, रास्ते पर चलते समय आवाज़े कसी जायेंगी। वताओ, ऐसे भी कोई चल सकता है? हमारे सव-इन्सपेक्टर आये थे, गणि तरेई की तरफवालों ने लिख मारा मेरे नाम कि वस सव-इन्सपेक्टर साहव साइकिल चढे दौड़े आये थे, फोडा होने पर भी। मैंने कहा कि पधारें, गणि तरेई, क्या कहता है, वे मेरे मुँह पर कहें। वोलेंगे और क्या? किसी ने कोई चोरी की है? पहले कहलवा भेजा कि ज्वर हुआ है, मैं नही आ सकूँगा। फिर सव-इन्सपेक्टर ने कहलवा भेजा तो एक कम्वल ओढ वाहर निकलकर वोले, "वावू मेरा धन्धा ही मुझे भारी है, मैं ये दरखास-फरखास की वात नही जानता—"

फूलशरा गाँव के दधि अहीर ने कहा, चारो ओर तो वाढ़-वरसा। घर-द्वार वहे जा रहे हैं, आदमी किलविला रहे है, मास्टरजी, ये सारी ख़वरे क्या आप तक नही आती? अभी वही वात वड़ी है—"

राधू पृष्टी ने कहा, "अरे वावू, वात तो आयी है। यह तो कोई भी देखते ही जान जायेगा। और यह जो ख़वर, वह तो गाँव-भर मे हल्ला हो गया है, पर कौन समझता है या उपाय-विचारता है?…अच्छा, मैं चलूँ, या और कुछ दरकार है?"

राधू पृष्टी ने विदा ली। इसके वाद पहले कौन हँसा, पता नहीं, पर वाद मे तो सबने मिलकर हो-हो कर ठहाका लगाया।

धोवेई मिश्र ने कहा, "भेंट होते-न-होते गाँव के वारे में कितनी ख़वरें हमारे कानो मे उँडेल गये। उन्होंने क्या समझ लिया कि हम किसी अखवार के सवाद-दाता हैं?"

वई मलिक ने कहा, "गाँव की वात धोवी घाट कह देता है। यही तो गाँव का इसकूल है, उन्होंने जो कहा वही वात है। ये ही तो गाँव के मास्टर हैं, गाँव के लोग तो है।"

रवि ने कहा, "देश-भर का भला-बुरा इनकी नजर मे वडा नही। वड़ा, 'मैं' है। जिधर देखो, 'मैं', 'मेरा', और कुछ नही। उनकी देह पर आँच न आने तक

चाहे दुनिया में प्रलय हो जाये, उन्हें परवाह नहीं। हर काम में नजर रहती है अपने स्वार्थ की ओर।"

जम्बू बेहेरा ने कहा, "झूठे ही यहाँ आये। नाव में इतने लोग रहे, हम भी रह जाते तो अच्छा रहता। फ़ालतू में केवल घर में गोबर पोंछो, घर बुहारो, इधर पानी जो चू रहा है चारों ओर, सुबह अपने रास्ते चले जायेंगे, फिर बेकार में यह किलबिलाहट। क्या कहते हो, लौट चलें ?"

धोबेई मिश्र ने कहा, "बस्ती में कहने गये हैं। लोग आते होंगे, ख़बर लेंगे, मास्टरजी न अपनी बात कह गये, गाँव में और लोग भी हैं, सबको तो सारी दुनिया पीली नजर नहीं आती होगी।"

रात के लगभग नौ बजे होंगे। झड़-बरसा की अँधेरी रात, देहात में खाना-पीना कर सोने की बात। कोई-कोई सो भी गया होगा। फिर भी ख़बर पाकर एक-एक कर लोग आने लगे। खड़ाऊँ डाले, छाता थामे, दो-चार जन लालटेन लिये और लाठी टेकते हुए आ पहुँचे। खुद गणी तरेई भी। गणेश की-सी तोंद, ठिगने गोरे आदमी, चेहरा गोल, और उस पर मोटी मूँछ। कहा, "यहाँ क्यों? कौन आप लोगों को उजाड़ में ले आया ? चलिए अपना दालान है, वहाँ रहिए। पास में है ठाकुरजी का घर, वहीं भोजन-पानी की व्यवस्था होगी। भला मास्टर है, ज़रा भी बुद्धी या अक्कल नहीं ?" कोई युक्ति-तर्क नहीं सुना, लोग लगवाकर चीज़ें ढोकर सबको अपने साथ ले चल पड़े गणी तरेई। फूलशरावालों ने उनका आतिथ्य स्वीकार किया।

"नाव के पास कोई गये ?" उन्होंने पूछा।

लालटेन देकर उधर भी लोगों को भिजवा दिया। गणी तरेई के घर के आगे, ज़रा बगल में, एक स्वतन्त्र कमरा है। सामने खुला चबूतरा। वहीं उनका खुला घर है। बस्ती-बस्ती से लोग-बाग आकर पहुँचने लगे। आ पहुँचे मान पति, सफ़ेद झक धोती-पंजाबी पहने, चादर डाले, छड़ी लिये। विकल राउत, बैरागी जेना, और कितने बिन-बुलाये लोग आ पहुँचे। और कई गरीब सहायता-प्रार्थी लोग भी। बरसा छूट गयी है। कीड़ों की भीड़ के बीच गणी तरेई की पेट्रोमेक्स जल रही थी, सब जमा हो गये थे। गणी तरेई ने ऊँची गम्भीर आवाज में कहा—"यही तो देख रहे हैं, हमारा गाँव, पाट के बीच एक टापू है, बाढ़ के दिनों में चारों ओर चिलिका, यहाँ किस ज़माने से हम भाई, काका, मौसा, कहकर भाई-चारे में बँधे रहते आये हैं। कलजुग आ गया, कलह बढ़ा, बिना बाद-छिद्र के आदमी इस ज़माने में कहाँ ! पर धरम तो अभी तक डूबा नहीं, सत् का भी एकदम लोप नहीं हुआ। अभाव है केवल बुझा-समझाकर एक करनेवाले आदमी का। वह सच्चा हुआ, सत् पर हुआ, तो लोग उसकी पुकार सुनेंगे, एकजुट होंगे, वह भण्ड हो गया तो लोग उसकी पुकार को कान भी नहीं देंगे, उलटे आन्तरिक

विश्वास टूट जायेगा। इस बाढ़-झड़ के मौसम में नाव लेकर, सामान ठीक कर, आप महान् लोग सहायता करने आये है। हमारा मन उल्लास से भर जाता है, मन मे श्रद्धा आती है। बैठकर विचारें—जो कहेंगे, वही करेंगे, नहीं करेंगे क्यों?"

मान गोविन्द पति ने सिर हिलाकर कहा, "सच है, दस आदमी एक मन हुए तो सब होगा, क्यों न होगा? टोकरी—जितना यह छोटा-सा गाँव, उसमे फिर बारह अलगाव! कुछ भी बात नही होती।"

उधर से नुखुरा मलिक खड़ा हो गया, "जी, आप लोगों का तो हाथी-से-हाथी साँढ-से-साँढ-जैसे दलो का लडाई-झगडा है, बीच मे हम मेढ़क, चूहे रौंध-चिथकर मरते है। हमारी खबर कोई लेता ही नहीं। अब जो अवस्था है मेहनत-मजूरी की, सब बन्द। चूल्हा तक नही जलता—

गणी तरेई बोले, "ठहरो, सुनो, मान बाबू ने जो कहा, वही सच बात है। भेद-भेद रहने से तो भेद मिटेगा नही। छोडो, अब सब एक होवें। क्या करना है, निश्चय करें।"

धोबेई मिश्र कहने लगे, "पहले इस गाँव के पीड़ितो की सहायता।"

तरेई, पति दोनो ने समर्थन किया। मान पति ने कहा, "सहायता दी जा रही है, पहले गाँव-भर के लिए बात तय करे। सब राजी है। फिर दूसरा बडा काम है—चारो ओर इतनी बडी बाढ घिरी है, इस गाँव से वहाँ नाव जायेगी, लोग जायेंगे, जितना सम्भव होगा, चीज़ों और पैसो से मदद की जायेगी।"

सब राजी हो गये। उसी पर चर्चा चली आधी रात गये तक।

उसी गाँव मे उस अँधेरी बरसाती रात मे मानो एक नये जीवन ने जनम लिया है। जन्माष्टमी की तरह पवित्र उसकी स्मृति है। सब उत्फुल्ल थे।

सचमुच देखते-ही-देखते बाढ-सहायता के काम मे गाँव के लोग उत्साहित हो उठे। परस्पर के बीच देन-लेन के ज़रिये गाँव में कौन-सा अभाव किस तरह मिट सकेगा इस बारे मे एक स्पष्ट विचारधारा तैयार की गयी। लोगो को चुनकर दायित्व दिया गया। उसके दूसरे दिन सुबह दायित्व लेनेवालो ने काम शुरू कर दिया। गणी तरेई, मान पति ने अपने-अपने वादे के मुताबिक कुछ-कुछ चीज़ें निकालकर दीं।

सुबह राधू मास्टरजी ने आकर फूलशरा के दल के लोगों से भेंट की। सारी खबर वे सुन आये थे।

राधू मास्टरजी ने ठण्डी हँसी से चेहरा मोड़कर कहा, "ये हो-हा भी दो-दिनिया है जी! ऐसे ही जोश में आते हैं, फिर सो जाते है। ख़ुद कहते हैं, फिर लाँघ जाते है। और आपके जाने के बाद हर आदमी अपने-अपने रास्ते चला जायेगा।"

गम्भीर होकर रवि ने कहा, "जब जायेगा तब जायेगा। फिर निकलेगा।

हो सकता है समय आये, जब और नही जाये, नष्ट नही होगा, रह जायेगा। यह जड़ से ही विरोधी आलोचना, अविश्वास और सन्देह लेकर देखते रहे तो कभी कुछ नही होगा। आइए, आप भी जुट जाइए इस महान् काम मे !"

उरी गाँव ने राधू मास्टरजी का इन्तज़ार नही किया। वे लोग उरी गाँव से निकले तब वहाँ से दो नावें भी निकल पड़ी उनके पीछे। कुछ चीज़े भी गयी।

वे देखते जा रहे थे उस विभीषिका को—बाढ़। पाट, नदी, नाले सब मिल गये है, जितनी भी दूर नज़र जाती है, क्षितिज की रेखा तक—केवल पानी-ही-पानी। मटियाला हलद मिला गँदला पानी।—पानी बिछा पडा है, नाच रहा है, दौड रहा है, गरज रहा है, हिल रहा है। फिर पा गया है अपना वही आदिम अधिकार, जब सारी पृथ्वी पर वह व्यापा हुआ था।

अबकी आकाश उतर आया है धरती पर, वह भी हिल रहा है। लहरें टूट रही है, रग बदल रहा है। सब कुछ इसी गँदले पानी मे हो रहा है।

खोयी हुई सृष्टि के प्रेत की छाया की तरह इधर-उधर नाना रूप। कहीं कुछ पेड। जड़ नही, धड़ नही, केवल पानी पर कलगसि हरे विमान की तरह दिखता, उनके सहारे पतली-पतली सफ़ेद लहरे पीटता पानी बहा जा रहा था। नाव पास जाती, विमान हिल उठता। कही मुड़े सड़े-गले हाडो की तरह बाँस की खपच्चियाँ दिखाता बाँका-टेढ़ा पसरा है गाँव का छप्पर। दीवार नहीं, पेंदा दिखता नहीं। कही माटी धुली दीवार के सिरे तक पानी भरा है, केले की बाड़ी के बीच एक-आध घर दिखता, कही घर का पता ही नही चलता, जाने-पहचाने पेडो का बग़ीचा अपनी गरदन तक के पानी मे खड़ा है।

इसी पानी के मशान तले थी एक दिन ठोस माटी, चील्हा ससार। घास पर ढोर चरते, बगुले और मैना घूमते। टिड्डे कूदते। चींटियों की धार एक-दूसरे को सहारा दिये भोजन ढोये चली जाती। पैरो की आवा-जाई से नन्ही-नन्ही पग-डण्डियाँ खुल गयी थी। आना-जाना लगा था। यही कही था गाँव, रास्ता, ठाकुर-जी का मन्दिर, धोबी घाट, धान के खेत। कही लगा था झगडा, मुकदमेबाजी, किसी सीमा-सरहद के लिए, कोई थोड़ी-सी माटी, किसी ताड के पेड या आम के लिए, किमी के खेत से गाय चरकर बँधी गयी थी, किसी ने किसी का झोपड़ा उजाडकर धान का कोठला भरा था। यही किसी घर की दीवार पर किसी ने अल्पना आँककर देवी की पूजा को थी, कोई चबूतरे पर हाथ टिकाये बैठा था, पचाक्षर जाप रहा था—क्या किया जाये?

रवि मूक बना उस पानी की ओर देख रहा था, आँखों के आगे मानो वही रूप फैल जाता है—पानी मे घुल गया है, खिलखिलाती हँसी, हँसते-हँसते रुलाई, आशा-निराशा। वही माटी···जो युग-युग से आदमी के सम्पर्क और स्पर्श से हो गयी थी मानवी। दिख रहा है नदी का किनारा, बाँस का वन, बाड़ी, जोहड़,

गाँव-भर का ससार, चूल्हे से उठता धुआँ, रास्ते पर खेलते बच्चे, रंभाती गाये, पानी का मटका ले जाती हुई बहू-बेटियाँ, जूआ डाले लौट रहे चासी, सब तो थे, जैसा कि हुआ करता है, और अब कहाँ गये सब ?

वह दिख रहा है—बहते पानी पर बित्ते-बित्ते-भर धान के सडे पौधे, गँधा रहे हैं, कही वह सो रहा है पानी पर गहरी नीद में, एक प्रकार से कसाय हलद ललवांसा उसका रग। पानी के कुछ-कुछ ऊपर झाँक रही है दो कतारें केवड़े के झुरमुटों की, थूहर और बारहमासी—यही होगा शायद गाँव को जाने का रास्ता, और इसी पानी पर क़तार मे खडी है रामजड़ा की फुनगियां, यही वाड़ी रही होगी ! केवल ढेर-के-ढेर धँसी भीतें हे, उजडे हुए पेड। मरे-गले मुरदों की सड़ाँध, सड़े-गँधाते। मकोडों के झुण्ड से खस के पत्ते काले हो गये है, और केवड़े के पत्ते भी। जगह-जगह अटककर रह गयी है घर-गिरस्ती की चीजें—हण्डी, टोकरी, खाट, कपड़े-लत्ते। जात-जात की लाशें तैर रही है—गाय, बकरी, कुत्ते, सियार भी। जगह-जगह आदमी के शव भी फूलकर सड़ गये हैं। रूप ही बदल गया। पानी काटते-काटते लपलपाते साँप बढते आ रहे है नाव की ओर, माँझी पानी मे डाँड़ पीट-पीटकर उन्हे भगा रहे है। वह था एक गाँव। सहजन, कटहल, नारियल आदि के पेड़ जगह-जगह पर अब भी पानी मे से सिर उठाये हिम्मत के साथ खड़े हैं।

पर कहाँ गये इस गाँव के आदमी ? बचे है तो ? यही चिन्ता एक साथ सबके मन में थी।

पानी जा रहा है, ठाँव नही, राह नही। हाव-हाव राव-राव करता बढता आ रहा है बरसा का तूफान ! नाव के ऊपर लहरे चोट कर रही है, वह ऊब-डूब होने लगा है। आगे से डाँड़ लगा रास्ता मोड नाव को बढाने मे पसीना-पसीना हो रहे है माझी। बाँहों और कन्धे की मासपेशियाँ मोटी-मोटी आबू होकर फाड़ डालने की तरह बाहर निकल पड़ती हैं, आगे बिकराल भंवर।

मुरदा बह गया है, फूले बेलून की तरह उलटता-पलटता, लहरो के घोडे पर चढकर झूमता-झूमता जा रहा है बेधड़क। साँप लिपटा हुआ है, झींगा घेरे हुए है, त्रोटि झूल रही है। आकाश में चिड़ियाँ उड़ रही है, एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर फुदक रही हैं।

बरसा रुक गयी है। बहाव धीमा पड गया है। दूर कुछ धूप निकल आयी है। पानी जल रहा है, आँखें झुलस जाती है। धूप गयी। अबकी हिलता हुआ दर्पण, नाना प्रकार की उलटी छवियाँ, ताड़ के पत्ते नीचे, धड़ ऊपर, सिर नीचे और पैर ऊपर।

बेतहाशा पानी। अनन्त है। कही वह चित लेटा है। कही सीधा दौड़ रहा है। कही गोल चक्कर लगाकर असख्य बाम्बियाँ एक साथ कूदती नाच रही है,

कही माटी मिला पानी, बीच-बीच में, खेलता घूम रहा है, सफ़ेद फरफराते सोते की तरह। पानी का विलास, पानी का खेल। उसके नाना भाव, नाना भंगिमाएँ हैं।

केवल पानी ही है। आदमी नही। उसके हाथ की करनी लुप्त हो गयी है।

कितनी ही दूर छोटे-छोटे द्वीप कही तैरते-से दिख रहे हैं। शायद वे बस्तियाँ हैं। गाँव के रास्ते पर नावें चल रही है, पानी के घेरे में एक-एक टूटा घर है, वह भी ख़ाली पड़ा। वो सुनायी पड़ रही है कानों को भेदती चीख़। नारियल के गाछ पर से आदमी पुकार रहे है। नाव लगी। तर-तर उतर आते है छलाँग भरते-से काले-काले तीन आदमी।

"धीरे-धीरे, हड़बड़ाओ नही, हम हैं।" नाव से देख रहे है। पास-ही-पास एक···दो···तीसरा नही उतर सका, थोडी ही दूर आया होगा कि पानी में छप्प से गिर पड़ा। तुरत कूद पड़े दो जन। पहले रवि, और उसके पीछे-पीछे जम्बू बेहेरा। बई मलिक कूद रहा था, पकडकर रोके है उसे अपनी वज्रमुष्टि में निधिरणा। कहा, "थिर होकर बैठ, इतने लोग कूद पड़ें तो आदमी खोजने किसे जायेगा? अरे, वे दोनों अच्छे तैराक है।" गाछ से उतरे दोनों आदमी, लड़खडा रहे हैं, सुबक रहे हैं, पर वह रुलाई सूखी है। लोगों ने उन्हें बैठाया। "और भय नहीं, पहले कुछ खा लो।" रवि के साथ बाजी लगाने की तरह जम्बू बेहेरा पास-ही-पास चला गया है। वह जाता आदमी डूबता है, उठता है। जम्बू बेहेरा चिल्लाता है, "हटकर रहना बाबू, बाँहों में भर लेगा!" उस्ताद तैराक ठहरा जम्बू! उसके कन्धे के नीचे हाथ का सहारा देकर कितने ढग से ला रहा है! नाव पहुँच गयी। वह आदमी पानी से खींचकर ऊपर लाया गया। पानी की धार वह रही है, दोनों ऊपर चढ आये। सारी नावों में 'हो-हा'। लोगों ने घेर लिया।

"फिर ऐसे भुस-भास कूद नही पड़ना रे बाबू!" जम्बू बेहेरा ने कहा, "अच्छा तैरना जानते हो, सो तो ठीक, पर मजे के लिए नदी-पोखर में तैरना एक बात है, बाढ़ में तैरना और बात है। जिसका अभ्यास है, वही कूदे तो ठीक। हममें कई हैं, नही तो—"

रवि हँस रहा है।

वही दोनों आदमी अपनी कहानी कह रहे हैं—रो-रो, हाँफ-हाँफकर। यह शिअल साही था। बाढ आ गयी, घर-द्वार गये, उसके बाद—।

तीसरा आदमी पानी की उलटी कर रहा है।

उत्तेजित होकर वे और-और गाँवों की बातें कह रहे हैं, इधर-उधर हाथ दिखा रहे हैं।

हर नाव से बात-चीत कर तय हो गया कि किस-किस रास्ते चला जाये।

चार नावें अलग-अलग रास्ता पकडकर चल पड़ी। दो शिअल गये। जो पानी से खीचकर लाया गया था उसे सँभाला धोवेई मिश्र ने। एक शिअल में रहा रवि के साथ। धोवेई मिश्र उससे साँझ के समय मिलेंगे। और नावे कब मिलेंगी पता नही।

अब रवि की नाव अकेली है। तीन माँझी और मोडनेवाले मँगवाल। जम्बू वेहेरा को छोड़कर उसमे फूलशरा के दधि वेहेरा, ओड़वा शिअलसाही के चचू शिअल, रवि और वई मलिक थे।

"ओ हो, उधर अमुरी, बँतुरी गाँव, भइरिपुर, अरिपण्ड, चोटल, तरणा, सागेणा, तोरी भजिण, आढ़ेणा, नरुआ, अलशखा हो'''उधर, सब जगह एक ही दशा—!" हताश होकर चचू शिअल कह रहा था।

जम्बू वेहेरा ने कहा, "जो हाथ आयेंगे उन्हे ले आयेंगे, नाव भरकर। एक-एक खेप में—"

चंचू ने कहा, "आदमी रहे हों तब तो!"

वह बच्चों की तरह फफक उठा। तीस बरस का गबरू, डेगू आदमी! चौडे कन्धे, मजबूत कमर, मोटी-मोटी न होने पर भी कसावदार मासपेशियाँ, हड्डीली काली देह को घेरे हुए हैं। पर उपवास और दुर्दशा ने चचू की टनक तोड दी थी। अपने को तनिक सँभालकर कहने लगा, "तीन दिन और तीन रात जान लिये भूखा-प्यासा उस पेड़ पर पड़ा रहा। क्यो रहा! क्या यही देखने के लिए? सब तो जिधर-तिधर बह गये। हम तीन रह गये, क्या करने?"

रवि ने उसकी ओर देखा। तीस बरस में ही वह बूढा हो गया है। माथे की सलवटें मुडी-तुची, धूसर आँखें धँस गयी हैं, गाल पिचक गये है, चेहरे पर हताशा और व्याकुलता भरी है। रवि की आँखें छलछला आयी।

जम्बू वेहेरा ने कहा, "कोई नही मरा होगा, यार, क्यों रो रहा है? ये सारा विघटन होने पर जितना भयावह दिखता है, उस तरह आदमी का नाश नहीं होता। कही कोई एक-आध, वरना सब थोड़े ही मरते है। आदमी ठहरा वह! वह क्या मामूली चिमडा है? ऐसे मरता तो कब का उसका गोत डूब जाता, आदमी नाम का शब्द ही न रहता।"

नाव चल रही थी। रवि ने देखा, सचमुच तो, इतनी बड़ी खण्डप्रलय मे भी आदमी है। कोई है नारियल के पेड पर, कोई बरगद पर है। कही किसी पेड़ के तने पर आकर छान का टुकड़ा आ लगा है, उसपर भी आदमी है। और उनमे से कुछ ने देखा, कही छान बह न जाये सो तने से कसकर बाँध दिया इस दुर्दशा से बचने के लिए। खाट के चारो पैर उलटाकर खाट-से-खाट बाँध, उसपर भी कोई परिवार अपना ससार फैलाये तैरता बहा जा रहा है। कही केले के गाछो का भेल बाँध सहजन की फली तोड़नेवाली लग्गी को डाँड़ की तरह खे रहे हैं लोग, कहीं

कोई बह रहा है बाँस के भेरे मे, कोई काठ के भेल में, कोई ख़ाली हण्डियों को जोड उनके भेल में, नाचता रहे चाहे वह लहरों के मुँह में, बहाव मे मुड़ता-लरजता जाता है, जो होगा भाग्य मे, इस अवस्था मे—यह हमारी स्वाभाविक परिस्थिति है, यही अपनी दुनिया है—माटी की नही, पानी की, सुस्थी की नही असुस्थी, उद्वेग, अस्थिरता और अनिश्चितता की, यहाँ जीवन का नाप होता है घण्टो और मिनटों मे, बरस और महीनों मे नही।

और दिख रहा है कि इस प्रलय में भी आदमी आदमी को खोज रहा है, पुकार रहा है। हथेलियो की पतवार बनाकर तैरता-तैरता भेल के सहारे भी बहा जा रहा है—कैसे एक से दो होगा, दो से चार हो जायेगे।

और फिर तो सामने कही से बिजली की तरह बहाव में तैरता आ गया कोई आदमियो से भरा खाटों से बना भेल और पानी में खड़े एक विशाल फाशि गाछ से टकराकर वह उलट गया। तीनों खाटें अलग-अलग छितर गयी। डूबकर तैर गये कुछ आदमी। फिर भी खाट के पैर पकड़े-पकड़े बहने लगे। कुछ तो वैसे ही पानी मे बह गये। नाव से दो माँझियों ने छलाँग लगायी। वई मलिक और दधि बेहेरा कूदे थे, रवि के हाथ को कसकर थामे था जम्बू बेहेरा, "अबकी पारी अपनी नही है, धीर रखो, मैं कहूँगा।" उद्धार करने के लिए नाव आगे बढ गयी। तभी वह आया एक छोटा-सा बांस का भेल, जिसपर ठसाठस आदमी-औरतें भरी थी। ठीक उसी के आगे तीन औरते पानी मे बही जा रही है।

"वह गयी, वह गयी—।" एक चिल्लाया।

भेल के अन्दर से ऊँची आवाज़ मे कोई चिल्लाया, "और जगह नही है, और किसी को नही लाना।" दूसरा चिल्लाया, "होशियार, होशियार, और बोझ बढा तो भेला डूब जायेगा!"

परन्तु साथ-साथ कई आवाजें निकली, व्याकुल, अनुनय—"अरे, कोई ले आओ, हम देखते रहें और अपनी आँखो के सामने ये डूब मरेंगी!"

भेले के ऊपर से पहले कोई एक कूदा, साथ-साथ और चार आगे-पीछे हो कूद पड़े। केवल वे तीन स्त्रियाँ ही नही, और भी चार आदमी बह आये। ऐसे सात जनों को लेकर वे भेले के पास आये। 'लाओ, लाओ!' की चीख़ और उधर 'जगह नहीं, जगह नही' की विरोधी आवाजें कही ढँक गयी। चढ़ गये छहों जने, भेला दब गया। एक ओर रहा। भेला एक ओर होकर दबने लगा। फिर भी सब चिल्ला रहे थे, "लाओ, लाओ—" फिर दो चढ़े। अचानक भेला दब गया, पल-भर मे हड़कम्प मच गयी। ये इतने लोग बाढ़ मे डूबने-तैरने लगे। तभी रवि कूद पड़ा, जम्बू बेहेरा भी कूदा। भेला दूर-ही-दूर बह गया। चल पड़ा आदमियों को उठाने-खींचने का काम। लोगों को नाव पर लाये जाने के बाद गिनती-शुमारी के बाद पता चला, महि दलपति नही मिल रहा है। तीनों औरतों को बचाने के लिए

वही तो भेले से पहले कूदा था।

लम्बा-छरहरा गोरा चौबीस-पचीस बरस का जवान, सिर पर फरफराते घने घुंघराले बाल, नाक के नीचे आधी मूँछ, पान के पत्ते की तरह धारदार चेहरे पर ठिठोली की तरह बाँकी हँसी, उसके कन्धे पर चम्पई रंग का मैला-सा गमछा पड़ा था, छाती पर जनेऊ। हाथ में एक लम्बी बाँस की पकड़े वह भेले के एक सिरे पर खड़ा पानी में डाँड़ चला रहा था।

इलाजग गाँव का महि दलपति। उसका बाप गोकन दलपति गयी बाढ़ के दिनों हैज़े में चल बसा। स्त्री भी तभी चली गयी थी। इस भेला में है उसकी बुढ़िया माँ, वही जो काली मुटल्ली, चिल्ला रही है, "अरे—मेरा महि कहाँ गया ?—" उस बुढ़िया की पुकार तेज़ होती जा रही है। अधीर हो चीख रही है, "सब तो आ गये, मेरा बेटा कहाँ गया ? नहीं आ रहा है ?" उसके पास पाँच-सात बरस की वह छोरी और छोरा है—वे उसी के बेटे-बेटी हैं। "भाई—हो—भाई—" आवाज़ दे रहा है। पन्द्रह बरस का उसी की तरह का चेहरेवाला वह छोकरा। नाव के इस सिरे से उस सिरे तक दौड़-धूप कर रहा है। दूर देख रहा है, अनवरत पुकार रहा है, वह उसका छोटा भाई है।

महि दलपति कहीं भी दिखायी नहीं पड़ रहा। चारों ओर निगाह दौड़ाते हुए नाव खे रहे हैं, बहाव-ही-बहाव में। फाशि गाछ के नीचे भँवर पड़ रही है, जगह-जगह गब-गब करता गँदला पानी लहरा रहा है, जिधर देखो पानी-ही-पानी। लोग फुसफुसाने लगे—

"भेला पकड़े वह बह गया लगता है।"

"शायद कोई खाट पकड़कर चला गया होगा।"

"नहीं, नहीं, गाछ भी तो बह गया, उसी पर चढ़ गया होगा।"

"कहीं जाये, ख़ुद ही ख़बर आ जायेगी। नहीं तो बाढ़ उतरने पर वह आप ही चला आयेगा, और क्या ?" पर अपनी-अपनी बात पर अनेक को विश्वास न था। वे जानते थे कि वह बह गया है। भेंट होगी तो इस लोक में नहीं।

महि दलपति। इलाजग का वह विनोदी व्यक्ति। कितनी ही बड़ी बात हो, वह हँसी में उड़ा देगा। कितना ही आदरणीय व्यक्ति आये चाहे, वह हँस-हँसकर बातों की एक-आध चोट कर ही देगा। 'यात्रा' में वह द्वारी हुआ करता है, गाँव-भर के लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। रामलीला में वह मन्थरा बनता, फिर रावण की माँ नवकेशी बुढ़िया—और फिर रावण के दरबार में दूत बनता, जो युद्ध की ख़बरें देता, आशान्वित लोगों को निराशा की बात कहता—वह भी हँसता, विकट हँसी।

और लोग उसे कहेंगे—महिया, बेगार करनेवाला आदमी। कम-अधिक सबके कभी-न-कभी काम आया होगा। लँगड़ी बुढ़िया माताजी उसी के लिए चल

जाती थी। पाँच वरस हुए किधर से आकर इसी गांव में पहुँची थी। उसके लिए झोंपड़ा बनाया था, कमर कसकर रस्सी और कटारी लेकर खड़ा हो गया था महिया ही तो। आज जलावन नहीं। आज दो मुट्ठी के लिए बुढ़िया भूखी रह जायेगी। कितनी बार किसी की खोयी हुई गाय खोजने गया है। कौंजी घर से गाय छुड़ा लाने गया है। गाँव के सामलाती काम में बिना खाये-पिये घूमा है, धूप-ही-धूप में। लोगों को लगाया है, स्वयं काम किया है। त्रिवेणीश्वर महादेव के पुराने देवल की मरम्मत और पंकीली पोखरी की खुदाई के काम में वही तो अगुआ बना था। पसीने में डूबकर काम किया था। उस ज़रा-सी पोखरी में आज काँच की तरह साफ़ पानी है, देवल का अहाता साफ़ है, चोकोरे पर बैठकर भोग-अन्न लेकर खाते समय, कोई फाँक वगैरह नहीं ताकि कहीं से मैला-कुचैला निकले, दो पुश्त ऊँचा विमान सरीखा मन्दिर समय और हवा-पानी के दाग अब और नहीं दिखाता, सफ़ेद, पैर जमाये खड़ा है टीले पर, चारों ओर के खेत-बाड़ों पर, अब चारों ओर के जलार्णव के ऊपर।

और उसी इलाक़ा के लोग कहेंगे—गाँव के जिन कुछेक लोगों के लिए अखाड़ा घर चलता है, 'याना'—पर्व ठीक समय पर होते हैं, महि दलपति उनमें अगुआ है। वह मृदंग पर थाप देता, यद्यपि उस विद्या में उतना पारंगत वह नहीं है, वह स्वयं कोई अच्छा गायक भी नहीं। पर बरसा हो या अँधेरा, घर-घर घूमकर लोगों को खींचकर लानेवाला आदमी है। भौंहे नचा-नचाकर सिर हिलाकर, मुँह-से-मुँह सटा हिलते-डूबते ताली बजा-बजाकर गायक-वादकों में उत्साह देने में उससे बढ़कर और कोई नहीं। आप ही तेज हो जाता, झोंक बढ़ जाती, पगत मस्त हो उठती। साँझ ढले अखाड़े-घर में कोई पहुँचे। जाते-जाते वह ज़रूर याद करेगा कि दो-चार जनों को लिये महि दलपति ज़रूर बैठा होगा, गप्पें मारता होगा। सचमुच ही वह होगा, पहुँचते-न-पहुँचते दो बातें जोड़ देगा। सोचने की ज़रूरत नहीं पड़ती, वहीं-का-वहीं कह देगा, "क्यों आज के बच्चों को दूध पिलाते-पिलाते देर हो गयी? देरी भी तनिक होनी ही चाहिए, नहीं तो बड़े-बड़ों के समान होंगे कैसे, सुबह का समय देकर छाया ढलने के समय आना ही ठीक होगा। टगर के फूलों की माला सूख जायेगी, यह क्या हुआ? तो तोरई के फूलों की माला नहीं मिलेगी क्या?" वह क्या कह देता।

एक चिहुँक उठेगा। दूसरा समझा देगा, "महिमा की बात का बुरा मानने लगे?"

डूबते आदमी को बचाने वह कूदा था, और अब वह दिख नहीं रहा।

शायद उसकी पीठ-पीछे भेले पर बैठे लोगों में से, जिन्होंने आपत्ति की थी कि वह जाती औरतों को भेले पर लाने से भेला डूब जायेगा, उन्हीं की बात उसके मन को छू गयी है, चिढ़ाने की तरह। दुगुना होकर उसकी ठनक बढ़ गयी।

शायद उसके रक्त में भर गयी थी एक पुरानी आदिम ऊष्मा-विपद् में कूदकर मानवीयता दिखाने की बात का विचार आते ही।

शायद चारों ओर की प्रलय में से कोई अनजान पुकार उसके कानों में पड़ी थी। वही जो कभी किसी को सूती अँधेरी रात में बिछौने से खींच लाती है, जैसे कभी सुनायी पड़ जाती है निविड़ अन्धकार में झमझम बिफर पड़ती बरसा के समय, और कभी ताँबई आकाश तले जब राव-राव गरजता हो तूफ़ान, कड़-मड़ाकर टूट रहे हों पेड़-झाड़, घर की छान उड़ रही हो, विराट्-विराट् चिड़ियों की तरह पख फैलाये साँय-साँय करते उड़ जाते हैं, खण्ड-खण्ड छाया जैसे मेघ। किसी अजीब जादूगरी के साथ एक होकर मिल जाने का नशा, किसी गुप्त रहस्य को खोलने के लिए प्राणों में अमिट प्यास की ज्वाला खींचकर उसे ले गयी।

नाव-भर के लोगों के मुँह पर उसी की बात। कितने लोग तो हिचकियाँ भरने लगे, घण्टा-भर पहले तो भेले पर खड़ा था वह समूचा आदमी—साफ़ दिख जाता है।

महि दलपति लापता है।

"होगा तो वह ख़ुद ही दिखायी देगा—ठाकुरजी उसे, ढाँपे रखें। कितना उपकारी आदमी—" जम्बू बेहेरा कह रहा था। रवि गुमसुम बैठा था, पानी की ओर देख रहा था। हठात् धूप निकल आयी, आँखें झुलसाने की तरह पानी में रोशनी नाच रही है, ऊब-डूब होने की तरह बड़ी-बड़ी लहरों पर नाचती-नाचती नाव जा रही है, जिधर देखो, पानी-ही-पानी। रवि सोच रहा था उसी महि दलपति की बात। उसके लिए दिन बार नहीं, इश्तहार छपे नहीं, कोई जानता भी न था कि यों वह कूद पड़ेगा, वह ख़ुद भी क्या जानता था? वो चला गया, उसके लिए कोई शोक-सभा होनी नहीं है, स्मृति-मन्दिर खड़ा होगा नहीं, इतिहास भी नहीं कहेगा उसकी बात। कोई जानेगा भी नहीं कि वह इतना महा-प्राण था, बहसबाज़ी न कर, जीभ न थकने तक बकवास किये बिना, असल काम के समय उसने काम कर दिखाया। उसका क्या मूल्य चुकायेगी यह दुनिया? यह मानव-जाति? धरती के कितने दूर-दुरुस्त पर पड़े हैं मानव भाई, उनका नाम, वर्ण, रंग, सहृदयता, वे जान भी नहीं सकेंगे कि उसने कितना महान् त्याग किया, वे उसकी बात सुन ही नहीं पायेंगे।

चिलचिलाती धूप चुभती जा रही है। पसीना बहा जा रहा है। सफ़ेद-हलद आग की लपट की तरह कतार-की-कतार लहरें नाच रही हैं उछल रही हैं। काले-काले टुकड़े होकर बहे जा रहे हैं कितने फल, डाल, पत्ते, पुआल, लकड़ियाँ; घनी-घनी होकर कितनी ही नन्ही मछलियाँ बह रही हैं, कौन हिसाब रखता है! ऐसे ही बहते-बहते गये हैं, कितने दिन कितनी रातें। कितनी मानव-सृष्टि, कितने हँसी और रुलाई से भरे जीवन। फिर भी ऐसे ही विचारकर छोड़ा नहीं जा

सकता उस स्मृति को, वह एक आदर्श, आदमी से ऊपर, और भी बड़ा है।

दूर नजर गड़ाये वह शान्त हो रो पड़ा।

जहाँ आदमी है वहाँ भरे-ठुँसे है। चारो ओर पानी है और कही छोटे टापू पर वे खुले मे पड़े हैं। गाय-गोरू, आदमी सब एक जगह, एक साथ। कही टीले पर थोड़ा बच गया है, केवल नीचे भीगा है, वहाँ भी भरे है। और कहाँ पानी की धार पर धार-धार होकर गाँव की बस्ती फट गयी है। कितने घर ढह गये, छप्पर सो गये, किसी की एक भीत गिरी है, कोई खड़ी है। और जहाँ गाँव का थोड़ा भाग सूखा है, तीनों ओर या चारों ओर पानी भरा होने के बावजूद, वहाँ आस-पास के गाँवो के लोगों ने आसरा ले रखा है। आदमी झुण्ड-के-झुण्ड! कोई बगीचे के तले, कोई खुले मैदान में, कोई किसी के छज्जे के नीचे टिका है। उन सारे गाँवो मे पानी न घुसने देने के लिए लोगो ने जगह-जगह डालें डाल माटी कूट-कूट, वाड पीट-पीट, नाना उपायो से ऊँचे बन्ध खड़े किये है। जगह-जगह दिख जाता है, छोटे काठडे पर या डोंगी पर चढकर लोग आना-जाना कर रहे है, कही कोई केले के भेले पर। कही वसी डाल रखी है, कोई जाल खीच रहा है। गाँव के नीचे-नीचे जगह-जगह पर लोग पानी से सूखा काठ खीच रहे हैं। जहाँ खतरा नहीं, वहाँ मौज भी चल रही है। बाढ यहाँ एक प्रकार का चमत्कारपूर्ण देखने लायक दृश्य है। वैसे भिगुरा गाँव के नीचे बहाव पार करता-करता कोई सियार बहा जा रहा है, किनारा पकडने को उसका मन कर रहा है, पर किनारे-ही-किनारे पर लोग लकडी-ठेंगा लिये 'हो-हो' करते दौड़ रहे हैं, इधर और एक दल है जो केले के भेले मे चढकर डाँड़ चलाते उसका पीछा कर रहा है।

नाव देखते ही कहाँ-कहाँ से पुकारें आने लगी हैं।

"आओ, उतर आओ, हमारी हालत देख लो, हम तो मरे—देख जाओ," आकुलता-विकलता से पूर्ण चीखें। चले जा रहे है—यह जानकर गालियाँ भी आ रही है। इतनी बड़ी बाढ़ मे बाहर के आदमियों का यह पहला स्वागत है। आशा बढ उठती है।

लोग बिलखते हुए भागे आ रहे है, झुण्ड-के-झुण्ड तैरते आ रहे है, कोई गले तक तो कोई कमर तक का पानी पार कर भागे आ रहे हैं, कीड़े-मकोड़े की तरह घेर रहे हैं।

आशा मुरझा जाती है, यह सरकारी नाव नही है, रुपये या थोड़ी-बहुत द्रव्य की मदद मिलेगी नही। फिर भी पहली खेप इतनी ही। बाद मे और-और आयेगी। खबर फैल जायेगी। चिवड़ा या चावल जो मिला उसी मे मुट्ठी-मुट्ठी-भर पहले चला जा रहा है सीधा मुँह में "मुझे-मुझे—हमको—" बूढ़ा-बच्चा-जवान सबकी आँखो पर वही एक भगिमा। पेट को कुछ मिले तब जाकर दूसरी बात। और चीजों की ज़रूरत। नमक चाहिए, चीनी-गुड दरकार, सर्दी-ज्वर, दस्त, खाज-

खुजली आदि की दवाएँ चाहिए। पान-तम्बाखूवालो के मुँह वेस्वाद हो चले थे, "लाये हो, कुछ दोगे ?" छोटे बच्चे, बडे-बूढे, बीमार गिरते-पड़ते कह रहे हैं, "दोगे कुछ बिछाने को ?" वैसे ही किरोसिन चाहिए, किसी को बीड़ी भी, "बस पूछो मत, बाढ के दिनो मे ये साँप जैसे कर रहे है, रात में लट्ठ थामे रखवाली की ज़रूरत पड़ती है, नही तो कही-कहाँ से वह आयँगे, घुस पड़ेंगे, ज़रा-सी रोशनी न रही तो आदमी के जीवन का कोई भरोसा ही नही।"

जाग-जागकर बाँटने का काम चल रहा है। परिवार मे कितने लोग है, वृत्तिवाड़ी सब कैसा है, भूखे कितनी वेला से है, कम-से-कम कितना चाहिए, पहले क्या फिर क्या, ज़बानी-ही-ज़बानी लोगों से पूछ-ताछकर एक मोटा-मोटी हिसाब लगाकर सहायता का काम चल रहा है। आदमी-आदमी को पाव-भर चावल, आधा पाव चिवडा, सारे परिवार के पीछे पाव-भर गुड, किरोसिन पाव-भर, मिश्री आधा पाव, चीनी आधा पाव, मागू आधा पाव, मुट्ठी-भर मिरच, एक डला इमली का। घर-घर के लिए एक तम्बाखू का पत्ता, चार-पाँच पान, उसी के अनुपात में सुपारी-मुर्ती। बिलकुल असहाय हालत देखकर किसी को आठ-दस हाथ का कपड़ा, बुखार के लिए कुनाइन, मर्दी की गोलियाँ, दस्त के लिए सल्फा, किसी को खाज का मलहम, फिर और अन्यान्य दवाएँ। लोगों की भीड में काम करते-करते अपना काम रह जाता। फिर दिन ढले चार बजे उठाऊ चूल्हे पर रसोई शुरू होती, नाव-ही-नाव मे। शाम होने से पहले ही खाना-पीना हो जाता। दोनों वेला का काम चल जाता, यानी सारे दिन मे एक ही वक़्त।

ख़बर आती कि कहाँ-कहाँ भाई टूटी है, कहाँ के लोगों की अवस्था कैसी है। एक-एक कर काग़ज़ मे लिखी जाती। ख़बर पाकर गाँव-गाँव से नावो पर चढकर लोग आ रहे हैं। कोई अनुनय करने, कोई हाथ बँटाने, और कुछ लोग रह भी जाते, जी-जान लगाकर काम करने।

छोटे द्वीप की तरह दिख रही है विश्वनाथ देवल की कण्डरा-बस्ती। सबके घरों की पिछली भीतें ढह चुकी है। आँगन में पानी खडा है। समान स्तर पर फैला है क्षितिज तक। पीछे कही खेत थे, कही पतली-सी 'कनधरा नदी' थी। सब मिल-कर एक पाट हो चुके हैं, एक नदी हो गये हैं। घरों मे पानी घुसा था, घरो के अन्दर कीचड़-भरे आँगन पर किसी पोखर से दल बह-आकर जड़े जमाने लगे है। मानो छात के नीचे बन्द-गोभी की क्यारी लगी हो। कैसी एक क्यारी के कीचड पर फटी धोती डाले सो रही है बई दास की स्त्री और उसके बगल में बच्चा। दोनो अस्वस्थ है। सामने भीड जमाये छोटे-बड़े सब खड़े है। जेवड़ी से बँधी गायें देख रही है।

"दो—लाओ, दे जाओ क्या लाये हो!"—आकुल मिन्नत है उस चेहरे पर, आँखों मे।

कुछ हटकर बीच में उस ओर जहाँ पानी की लहरें जोर मार रही हैं, उधर छुपी है नेन्तीगढ की प्रसिद्ध दुर्गा देवी। तीन हाथ ऊँची काले पत्थर की प्रतिमा, बिलकुल सजीव लगती है। सैकडो साल पहले की बनी है। थोडा हटकर पानी पर बेंत का झुरमुट सिर उठाये खडा है। एक ओर पानी में से उठ खड़ा है नेन्तीगढ का बाँस-वन। नेन्तीगढ के बाँस की लाठियों की इस आणविक युग मे भी गाँव-गाँव मे धाक है।

और पास ही विश्वनाथ देवली की कुम्हार-बस्ती है। पानी-कीचड़ मे भट्टी चमक रही है, आँवा बुझ गया है, भीत गिर गयी है, छप्पर टूट गया है। ध्वस का एक बीभत्स दृश्य। ढेर-के-ढेर आदमी भरे पड़े हैं। चारो ओर पानी।

"आओ-आओ···" "दे जाओ, दे जाओ···" वही परिचित चिल्लाहटें।

यह आ गयी गवडिहि की धोबी-बस्ती। चारो ओर पानी, घरो के अन्दर पानी। माथे पर हाथ ठोक-ठोककर साठ बरस का बूढ़ा राम सेठी व्याकुल होकर रो रहा है। बारह प्राणियों का उसका कुटुम्ब है। घर मे पानी खड़ा हुआ था, अब गिर गया है, भीत से टुकडे-टुकड़े जा चुके है, उनमें डालियों के टुकडे, केले की छाल, पत्ते आदि जो कुछ सका ठूँस दिया है। नन्हा पोता रो-रोकर सबको हिलाये दे रहा है। "ये पिछवाड़े से तो कल रात एक स्यार घुसा था।—" राम सेठी ने रोते-रोते कहा, "कहाँ से धन आयेगा इस घर को फिर खड़ा करने के लिए ?"

और एक द्वीप। यह बाउरी-बस्ती है। वही आकुलता-व्याकुलता, वही रोना-धोना। चेहरे पर भूख-प्यास-दुर्दशा और नैराश्य का करुण चित्र अकित है। कितने बरस के परिश्रम से मजूरे आदमी ने पेट काट-काटकर घर खड़ा किया था, कितने कपड़े-लत्ते जोड़े थे, कितना सब नया-पुराना भरा था। सब चला गया है। इधर यह गोपालिया भोई का घर है। कुटुम्ब चलाने के लिए गोपालिया ने तीस रुपये कर लिये थे, बाढ़ आने से पन्द्रह दिन पहले ही कलकत्ता भाग गया, मजूरी करेगा, करजा उतारेगा। घर पर युवती स्त्री, होगी कोई अठारह-उन्नीस बरस की, और उसके चार महीने का बच्चा। दो कोठरियाँ है, एक तो बस ढेर हो गयी है, सारी दीवारे ढह चुकी है, दूसरी कोठरी की पिछली दीवार मे इतना बड़ा छेद, कोठरी की दीवार फट चुकी है। हाण्डी, टोकरी आदि जितनी छोटी-मोटी चीजें थी, सब बह गयी हैं। बच्चे को छाती से चिपकाये गोपालिया की स्त्री देवी की मूर्ति-जैसी अपने टूटे घर में खड़ी सामने ताक रही है। वह कुछ माँग नही रही, बोल नही रही, हिलती नही, मानो आँखों पर पलक झपकती ही न हो।

और एक गाँव। नाम है आईया। कतार-के-कतार झोंपड़े गिरकर सोये पड़े हैं। कही एक-आधा घर अभी भी सिर उठाये खड़ा है। घर के किनारे-किनारे लोग-बाग बैठे हैं। पास-पास सटे हुए। उसके इधर से बाढ़ की नाव चली जा रही

है। वे उठते नही, पुकारते नही, अथच उनकी दुरवस्था स्पष्ट पहचान में आ रही है। बीच मे पचासी वरस के बूढ़े दादा बैठे हैं, उस जमाने के ठोस हाड़ो के ढाँचे पर चमड़ी झूल आयी है, शेथा गोल चेहरा भावहीन दिख रहा है, नाव लगी है। बच्चो ने घेर लिया।

"चले आओ बच्चो, चले आओ !" बूढे गोपाल स्वाँई ने आवाज़ दी।

चचु शिअल ने कहा, "यह गोपाल स्वाँई, इस इलाके मे इतना बूढ़ा और कोई न होगा। ख़ानदानी काश्तकार है। बाढ में सब गया। और वो उनका भतीजा भ्रमर स्वाँई, बात का धनी, खाण्डे की धार पर चलनेवाला आदमी। इतने घर-बारी आदमी, आज किस हालत मे पडे है !"

दधि अहीर ने कहा, "बच्चो के लिए कुछ चिवडे नही लोगे, दादा ?"

गोपाल स्वाँई ने कहा, "बाप-दादो के जमाने से आज तक हमने कभी भीख नही ली। प्राण रहने तक लेंगे भी नही।"

वई मलिक ने नरमी से कहा, "भीख क्यो लोगे दादा ? यह तो समझो तुम्हारा ही धन है, बस इस घर मे न होकर उस घर मे था। बाढ उतरने दो, तुम भी पहले की तरह बाल-लीला करना, देन-लेन करना, अभी तो ले लो।"

भ्रमर स्वाँई गम्भीर बना खडा है। उमर पैंतीस होगी। एक टोकरी मे पाँच सेर चिवडा, एक भेली गुड़, दधि अहीर पकडे हुए है। कुछ बच्चे ललचाये-से उधर आँख उठा रहे हैं, हिम्मत नही हो रही, बार-बार बड़े आदमी के चेहरे की ओर देख रहे है। कोई कुछ नही कहता। रवि ने बूढे के पास जाकर नमस्कार किया। विनय के साथ कहा, "मैं पाँव पडता हूँ, दादा आप अनुमति दें।" उसके स्वर से दर्द फूट पड रहा था, "दया करो, अनुमति दे दो, बच्चे कुछ-कुछ खा लें। कल को बाढ़ उतर जाने पर तुम हमे खिला देना। समय क्या यही ख़त्म हुआ जा रहा है ?"

पीठ मोडकर गोपाल स्वाँई ने कहा, "अच्छा, ले लो रे बच्चो !" चिवड़ा, चावल, चीनी, गुड़, किरासिन, ढिबरी, नाना चीजे बाँटी गयी।

दूसरी ओर बल स्वाँई का घर। घर के अन्दर घुटनों तक पानी खड़ा है। अहाता, भीत सब ढेर हो चुके हैं, उसपर ढही पड़ी है घर की छान। सामने का गुहाल किसी तरह बच गया है, टूटी भीत के सूखे पत्थरो को फोड़-तोड़कर फ़र्श पर बिछाया गया है। चटाई पर लेटा है एक नन्हा बालक। एक ओर बाँस की ढेर, उसके ऊपर-नीचे घर-भर का सामान। पागल की तरह खोल-खोलकर बल स्वाँई ने सब-कुछ दिखा दिया। दो चटाई। एक छोटा पिटारा, उसके अन्दर एक खाली बोतल पड़ी है, पहले उसमे सरसो का तेल रहा करता था। बच्चों के लिए लाये गये शटीफूड का एक खोल। एक छोटी हाण्डी, उसमे दो-चार मिश्री के छोटे-मोटे डले, एक छोटा-सा आईना, एक फटी धोती, और एक डब्बे में चवन्नी-

भर तम्बाकू का पत्ता, साड़ी का टुकड़ा, बेटे के लिए उसके मामा ने भेजा था एक चम्मच, दो कटोरे, एक सरौता, एक चांदी की टूटी हुई चूड़ी, चवन्नी-भर का चन्द्र धूप जिसमें लाख भरी हुई है, एक टूटा हुआ सींग का कंघा, चांदी की एक मुंदरी, एक काजलदानी, एक पेटा-कोरना और मुट्ठी-भर कूड़ा-करकट।

"इतना-भर है, और कुछ नहीं। और है दो पाव जमीन, उसमें बालू का ढेर भर गया।"

"क्यों पागल की तरह हो रहे हो—" उसकी मरती-सी स्त्री उसे बोध दे रही थी।

"लोगों को दिखाने से क्या होगा? बचना होगा, बचेंगे, मरना होगा तो मरेंगे, देह को काठ करने से नहीं चलेगा?" वह मैले आंचल से मुंह पोंछ रही है।

इसी तरह गांव-गांव में वे टूटे-फूटे ढेर-के-ढेर, वैसे ही पानी-कीच, वैसे ही बुलबुलाते लोग। आगे-पीछे सब तरफ फैली हुई है अकूल जलराशि, फेन तैर रहे हैं, लहरें नाच रही हैं, जितनी दूर तक नजर जाती है सिर्फ पानी-पानी-पानी।

और चार नावों में से एक भी लौटकर नहीं आयी। परन्तु स्थानीय मदद कुछ तैयार की जा सकी। एक की देखा-देखी और कई नावें में फिरने लगे। डोंगी में बैठा नेतपुर की लँगड़ू दलेई फिर रहा है, नाटा आदमी बायाँ पैर तनिक लँगड़ाता हुआ, भूख-प्यास बिसर गयी है, पत्थर-सा चेहरा। कितने लोगों को वह निकाल लाया है। अपनी जान की उसे कोई परवाह भी नहीं। अपना काम या विपद् कुछ भी बाहुल्य दिखाकर नहीं बखानता। बस केवल सट-साटकर उसकी डोंगी पानी की भँवर की तरह चल देती है, एक सिरे पर परत-की-परत सोला के गट्ठे लदे पड़े हैं, अचानक अगर नाव उलट जाये तो बैठे लोग अगर अपने पेट के नीचे एक-एक सोला का गड्डा दबाकर पानी पर हाथ-पैर फैलाये पड़ गये तो उद्धार पा जायेंगे।

लँगड़ा दलेई डोंगी खेते-खेते इस गांव से भाग जाता उस गांव, और लोग उत्साह में पुकारते, "हे ई लँगड़ा गया!"

एक बार वह एक साथ छह बिलाइयों को नाव में चढ़ाकर ले आया था। उसकी इतनी अभिज्ञता में यही एक बात मानो उसे मन को भायी थी। वही बात वह बार-बार हांकता। वे जहां धनुवा बड़ी नदी में मिला है, और दिनों भी अकूत पानी रहा करता है, उसे कजला गण्ड (घेर) कहा करते हैं, बीच जगह में छोटा-सा टापू छह सौ हाथ लम्बा और तीन सौ हाथ चौड़ा। मील-भर में और वैसी बस्ती ही नहीं है, ख़ाली टापू पर एक जोड़ा परिवार है—भोवनी बारीक। उसके कुटुम्ब में छह प्राणी, और जन्ह बेवा, उसका बड़ा बेटा, भ्रमर जेना और उसके बाल-बच्चे। घने-घने चार कुचला के पेड़, खूंटे की तरह बेशुमार खजूर के पेड़, ताड़ के पेड़ों के सहारे-सहारे, टापू के बीच घरों का झुरमुट, गाय-गोरू भेड़-बकरे थे, बाड़ी

में साग-तरकारी भी उपजी थी, भोवनी बारीक और भ्रमर जेना ने अपनी रुचि के मुताबिक संसार गढ़ा था। फिर रात मे आयी बाढ़, पीढ़े पर चढ़ जाने कैसे लोग तो बच गये, सुबह शायद बिसरपुर का अमीर बेहेरा नाव लेकर आया और उन्हें वहाँ से निकाल लाया। और कुछ देर बाद आया लँगड़ा दलेई। कही से बिल्ली के बच्चे आकर पैरों मे लोटने लगे, म्याऊँ-म्याऊँ कर बिल्लियो ने बिलबिलाहट दिखायी, मानो—"हमे ले चलो—"। वह उन्हे निकाल लाया था।

और घूम रहे थे बॉमवाल गाँव के प्रसिद्ध पाला गायक हृषिकेश सिंहारी—जनता के आदरणीय साहित्यकार। सिर पर घने घुंघराले बालों की लटें लदी है, कनपटी पर झूल रही है। तीखी नाक खड़ी है, मोटी-मोटी आँखों में भावनाएँ छलछलाती-सी, मुँह पर एक भी बोल नही। नाव में चढ़कर घूम-घूमकर जन-सेवा में जुट गये हैं, मानो उसके लिए पागल हो उठे है।

एक नाव लेकर चढ धाये है सान्तरापुर के बिजी बाबू, नेतपुर के बशी परिडा, इञ्चल के उद काचेरी—तीनों युवक हैं, एक-सा वेश। हाफ़पैण्ट एक-एक, खुली देह, सिर पर गमछा बँधा है। उनकी नाव में हवा भरी हुई तीन मोटर के ट्यूब हैं, अनेक मोला के गट्ठे हैं, और भी सरंजाम है, चिवड़ा, चावल, चीनी, किरासिन वग़ैरह। बिजी बाबू उनके नेता। दोनो हाथ लटकाये, आगे-पीछे झुके-झुके-से दोनों पैर फैलाये पानी की ओर देखते हुए नाव पर खड़े हैं। छाती और पीठ पर मांस के गोल-गोल पिण्ड हिल जाते हैं, वे मानो इस हवा-पानी के साथ युद्ध करने को तैयार होकर खड़े हैं। नाव में एक विशाल पताका फहरा रही है। दिन तमाम होता आ रहा है। बिजी बाबू कितने डेंगू दिख रहे हैं। रवि की नाव रुकी है उरआली भोई बस्ती के नीचे। भोई बस्ती अब एक छोटे द्वीप-जैसी है, कतार मे खड़ी हैं टूटी दीवारें, धंसी छानें। जगह-जगह इक्का-दुक्का घर खड़ा है, पीछे की दीवार नही, पिछवाड़े में दिख रहा है पाट मे फैला पानी। उसी ध्वस के सामने एक जगह खड़ा है सत्तर बरस का अन्धा धरमा भोई, पास ही उसका बाईस बरस का गबरू बेटा बिका, पेट और पीठ मिलकर एक। आगे-पीछे की दीवार नही, बीच मे कीचड़ पर छान के नीचे बैठी है बिका की स्त्री, फटी मैली छोटी-सी साड़ी पहने है, गोद मे तीन महीने का रोगी बच्चा थामे है, बगल मे चार बरस का बच्चा चिवड़ा चबा रहा है, नाव की ओर देख रहा है। धरमा भोई के पास ही एक जगह बैठा है साठ बरस का बूढ़ा अन्धा अर्पातिया भोई, तीन महीने पहले उसका गबरू जवान बेटा मरा था, विधवा बहू नन्हे बच्चे को छाती से चिपकाये दूध पिला रही है, उसके पास चौदह बरस की चढ़ती उमर की बेटी, छोटी-सी फटी साड़ी लपेटे अचम्भित-अचम्भित आँखों से नाव की ओर देख रही है, पिछवाड़े मे उसके दो ढेर हुए कमरों का मलवा। वैसे ही वहाँ टिमटिमाते देख रहे है कुँअर भोई, मणिया भोई, केशव भोई, गोविन्द भोई, भरतिया भोई और उनका बड़ा कुटम्ब। चीख़

उठे—"बिजी बाबू—बिजी बाबू !"

बिजी बाबू परिचित है इस बस्ती में।

मणिया चिल्लाया, "अब क्या देखोगे बाबू, हम नहीं हैं, हम तो मर चुके, मिट चुके।"

केशव ने कहा, "चार दिन से निराहार है, बाबू।"

गोविन्द ने कहा, "अब कितने युग तक सिर बेचे पड़े रहेंगे कि घर का झोपड़ा खड़ा करेंगे इस पेट को काट, धन जोड़कर ! बस बड़े साआन्त की मनो-कामना पूरी हुई समझो। हमारे उठने पर इस जगह बैंगन लगाने की बात कह रहे थे। एक हिस्से में बगीचा लगायेंगे और एक में साग-सब्जी करेंगे अबकी बार।"

बिजी बाबू नाव से चिल्लाकर बोले, "अरे बाढ़ आ गयी तो आदमी भी बहाँ गये ? हाथ में एक लकड़ी हो तो देखो साँप भी नहीं आयेगा, और बड़े साआन्त या उनका दादा साआन्त भी घुस सकेंगे, हैं रे ? अरे, बाढ़ क्या सिर्फ तुम्हारे ही गाँव में आयी है ? मैं तो चार दिन हुए देख-देखकर आ रहा हूँ, बाढ़ डाल-डाल गयी तो हम पात-पात है। लोग किस हीन अवस्था में हैं इस प्रलय के बीच, कोई है और कोई चला गया। क्या करें समय ही ऐसा आ गया !"

बिजी बाबू अपनी बात के बहाव में आप बहे जा रहे थे। मानो किसी ज़माने के साथी हों। रवि से कहा, "सुना, सो आपको देखने चला आया। कल भेंट हुई थी एक और फूलशरा की नाव से, धोवेई मिश्र बैठे थे उसमें। आपसे भेंट होने पर खबर देने को कहा था कि उधर काम की भीड़ है, वे आ न सके। लोग कहाँ छोड़ रहे हैं कि आयेंगे ? आकर भी क्या करेंगे ? बाँट-बूँटकर काम करना ही ठीक है। मोटर के ट्यूब का जोड़ा, सोला के गट्ठे, कुछ रखे रहें, कभी काम आ ही जायेंगे।"

उनकी नाव पास आकर लगी।

कुल आध घण्टे की बातचीत। गाँव-गाँव जगह-जगह की ख़बर, लोगों की दुरवस्था, सहायता के लिए उपाय विचारना। चारों ओर से कुछ-कुछ चर्चा छिड़ी। वहीं बिजी बाबू से खबर मिली, वे सुनकर आये हैं कि पाटेली गाँव में जोगी-बस्ती और डोम-बस्ती की सीध में बहुत बड़ी धाई हुई है, वे उधर नहीं गये, थोड़ा घूम-कर उत्तर की ओर से आये हैं। उद काचेरी ने घड़ी देख आकर बताया, "छह बज गये, चलना है उधर दलवा साहापुर की ओर ?"

बिजी बाबू ने हँसकर कहा, "उद, तुमने अच्छी याद दिलायी। चलो, चलो, बादल फिर घुमड़ रहे हैं।" रवि ने कहा, "रुकना तो पड़ेगा, रात में यहाँ रुके तो—"

उद ने कहा, "बशी बेहेरा सरीखे साथी हों तो फिर अँधेरी रात में भी पाट हमें रास्ता छोड़ देगा। अब तक तो रुके नहीं।"

रवि के सिर में एक ही बात बार-बार कोई कह रहा था, "पाटेली गाँव में धाई टूटी है।"

"हम भी चलेंगे, वेहेराजी !" रवि ने कहा, "चलो फूलशरा।"

वैसे सीधे खड़े हैं नाव पर पास-ही-पास वे तीनों जने। आगे सबसे डेंगू बिजी बाबू, दूर जाते-जाते ख़ाली विस्तृति में वे लोग कहीं खो गये। रवि की छाती में छनक-सी-पड़ी। एकदम जाना-पहचाना, अत्यन्त प्रिय, किसी जमाने के तीन मित्र मानो दीर्घ विच्छेद के लिए विदा हो गये हों, हालाँकि आधा घण्टे पहले अचानक नाम भी कभी नहीं सुना था।

जगह-जगह उसी स्लेट पर अनजान अक्षर लिखे जा रहा है—वह छलछलाता सफ़ेद स्रोत। रवि देख रहा है।

याद आ रहा है महि दलपति, उससे भी पल-भर की भेंट, वही पल-भर के बाद कहीं छिप गया। सोचा, "बचा होगा तो ?"

सरसराती भँवर सफ़ेद अक्षर लिखी गयी। मटियाली स्लेट ने करवट बदली। डूबते प्रकाश ने झलक दिखायी। लालिमा लिये झिलमिला गया, कितना सजीव ! अचानक वह फिर बुझ गया, सुनसान छाया, ऊपर नीचे कुछ होगा, अतः सब-कुछ थमा हुआ है, कितनी बार इस सन्धिवेला में ऐसा ही तो लगा करता है, कुछ होता है ? कहाँ आरम्भ, कहाँ शेष है ?

दूर-दूर काली रेखा-जैसी गाँव की कतारें दिख रही हैं। किनारे-किनारे अकेले-दुकेले पानी में टापू जैसे दिख रहे हैं; चारों ओर जलार्णव हो गया है। मेघों से लदे आकाश तले बाँकी रेखा में चल रहे हैं कतार बाँधे चिड़ियों के दल, आँखों में साफ़ नजर आ रहा है उनका समाज, खस का वन भी अच्छा-ख़ासा है, कहीं पानी में बगीचा खड़ा है, बस दिखता नहीं तो एक केवल आदमी; सिर्फ़ कहीं से उग आये जगह-जगह छोटे-छोटे द्वीपों पर छायान्धकार में टिमटिमाती आग की धाँस, उसका चूल्हा, उसका प्रकाश, ये ही उसके हस्ताक्षर हैं।

एक दिन ऐसे ही घेरे था यह पानी सारी पृथ्वी को। ऐसे ही आदमी ने अपना घर-बार किया था, धूप-बातास सहकर वंश बढ़ाया और इतिहास का निर्माण किया था। यह आग उसी का हस्ताक्षर है। चाहे वह न दिखे, पर खोया नहीं। पर *यह आग ही खो गयी है उसके मन के विचार में।* उसकी साँस फूल उठी है सारे ध्वंस से बढ़कर। उसके मन का अन्धकार इस बाढ़ के अन्धकार से भी घना हो गया है। समाज फट गया है, केवल बाढ़ के पानी में बहते अकेले-अकेले आदमी की तरह। फिर भी वह एक होगा। समय का हिसाब नहीं है। आशा चिरजीवी, जीवन मृत्युंजयी है, आनन्द उसी अमृत का बाह्य प्रकाश है।

ख़ूब धीमे से उसके उत्तर में गूँज उठती है अनकहे संगीत की मूर्च्छना, जो कानों को सुनाई नहीं पड़ती। मिल जाती है जीवन के स्पन्दन में, अनुभूति के रन्ध्र-

रन्ध्र में व्यापकर पुलक उत्पन्न करती है।

अबकी वह प्रकृति के साथ एक हो गया है। गोद में भरकर थामे हुए है वही अन्धकार, वही बाढ़ का पानी। कभी-कभी किसी के निःश्वासों की तरह चेहरे और देह में हवा भर जाती है। एक विराट् जीवन्त शरीर की तरह दिखाती पड़ रही है वह स्थूल अँधेरी सृष्टि! उसमें कितने अतीत घुलकर निश्चिह्न हो गये हैं, —उसकी चेतना कह रही है, कितने अनगिनत प्राणियों का उन्मेष और विकास और विलय, पुनः-पुनः आया है नये-नये रूपों में; लगता है जैसे ऐसे ही इसी विराट् शरीर में आत्मा के स्फुलिंग की तरह यह रहता आया है युग-युग में, कितने नये वेशों में नये खेल खेले हैं। उसे थकान नहीं, उसका कभी विलय नहीं।

इसी पवित्रता के स्पर्श के नीचे-नीचे तैर जाता है उसकी चेतना के सामने एक स्वप्न। ये जहाँ नाव चल रही है—यहाँ शायद कोई देवालय था। वो रहा देवालय। सचमुच जैसे यही है। अभी रात नहीं, साँझ-सी हुई है, ठीक जब सन्ध्या-दर्शन को उसका मन हुआ करता है। रास्ते के दोनों ओर सघन बकुल के पेड़, बेड़े में जगह-जगह दीपमालिकाएँ जल रही हैं, झुण्ड-के-झुण्ड लोग बैठे हैं, कहीं झाँझ-मृदंग, कहीं खँजरी चल रही है, कहीं केवल फूलों से सजी चटाइयाँ रखी हैं, शास्त्र पढ़े जा रहे हैं। रास्ते के सिरे पर और भी प्रकाश है, क़तार-की-क़तार में दीप सजे रखे हैं, सामने गरुड़-स्तम्भ। बहुत भीड़ है, स्तम्भ के दोनों ओर अनेक दीप जल रहे हैं, उसके ऊपर झरोखे में आरती का दीप जल उठा है, इस सिरे से उस सिरे तक ठसा-ठस भरे आदमियों की भीड़ के ऊपर से ठाकुरजी दिख जाते हैं—वो दिख रहे हैं। मानो किसी ने विश्व की सीमा बनायी है इस गोलाकार अँधेरे से, दो प्रकाण्ड आलोक मण्डलों के बीच वही अँधेरा काला कोया बन गया है। दीये के प्रकाश में दिख जाता है कि जो अँधेरा-सा लगता है उसमें बिन्दु-बिन्दु अमदर आलोक रेणु भरे हैं। मानो अगणित ब्रह्माण्ड अगणित तारे अत्यन्त सूक्ष्म होकर वहाँ टँके हैं। नाना बाजों, पुलकध्वनि के बीच वह देख रहा है—नित्य लीलामय सनातन जीवन के आनन्द की झलक। सामने दिख रहे हैं जगन्नाथ। चर्मनयनों से देखने पर वे अरूप, निराकार, शून्य, महाशून्य हैं। चिन्तन में साकार रूप दिया जाये तो वे अव्यक्त, अज्ञेय, निर्गुण, निर्लिप्त।

प्रीति पुलक से भक्ति की अनुभूति में धारण करने पर साकार, सगुण, सर्व-व्यापी, एक आकार नहीं असंख्य, एक गुणभावापन्न नहीं अनेक। प्रीति के क्षणों में निविड़ भाव से सज्ञान होकर नाना रूपों में जिन्हें अनुभव किया जा सके, अपने अन्तर और बाह्य में। वे निर्गुण नहीं सत्-चिद् आनन्दमय पूर्णब्रह्म हैं!

कौन कह रहा है, कौन समझा रहे हैं? वह मुड़कर देखता है—काँप उठता है गेरुआ धारण किये विशाल मानव, सिर के घने बालों के नीचे ऊँचा प्रशस्त ललाट, आयत नेत्रों में गम्भीर दृष्टि! उस चेहरे से तेज टपक रहा है, उसने

प्रशान्ति, विश्वास, आनन्द, स्नेह है।

"चुपचाप क्या सोच रहे हो ?" वई मलिक ने पूछा। रवि का स्वप्न भग हो गया। वई ने कहा, "कल सुवह पाटेली गाँव।"

रवि हँस पड़ा।

वई हँस पडा—"पाटेली गाँव में सिन्धु चौधरी है, वहुत भले आदमी, इतने खानदानी घराने के पुराने साआन्त होने पर भी क्या हुआ, वहुत सीधे-सादे हैं। ठाकुरजी जैसे। लोग वहुत चाहते है।"

रवि के मन का चित्र मानो वई मलिक के मुँह पर फूल खिला रहा है। आधी हँसी लिये रवि देखता रहा। वई मलिक कहता गया, "उनकी एक ही तो वेटी है—छवि। जिन पर सूरज-चाँद की भी छाया नही पडती, वे वाहर निकल पडी है लोगों का भला करने। कितना स्नेह, कितनी सेवा, कितना उदार मन! घर-घर घूमकर दीन-दुखियों की सुध लेना, कलह मिटाकर मेल वढाना और फिर उनकी सेवा-देखरेख। क्या-क्या वे नही कर रही! गाँव-भर मे धूम मचा दी! उनके पीछे-पीछे और भी कितनी ही औरतें निकल पडी है, काम कर रही है, उनकी देखा-देखी निठल्ले लोग भी मिल-जुलकर काम से लग गये हैं; इतने हिंसक हो उठे थे गाँव-भर के लोग! सत्रह गुट, सत्तानवे दल, और अव देखो, जिसके मुँह से सुनोगे, वस गाँव का उपकार कैसे होगा—यही वात।"

रवि हँस रहा था। कहा, "अच्छा हुआ, कल शायद भेंट होगी, क्यों ?"

वई मलिक ने कहा, "हमारे साथ मिलकर फूलशरा मे काम करती तो कैसा, अच्छा नही होता ?"

रवि ने पूछा, "फिर पाटेली गाँव का काम ?"

वई ने कहा, "उधर तुम्हारी माँ साआन्ताणीजी दिन गिन रही हैं कि कव वेटे के सिर सेहरा देखेंगी। जितनी वार कहो, तुम कानों मे वात पडने भी नही देते, हवा मे उडा देते हो!—"

रवि हँस पड़ा। कहा, "तू क्या कहता है ?"

वई ने कहा, "तुम हामी भर लो, इस वाढ़ के उतरने ही व्याह हो जाता। सिन्धु चौधरी 'नहीं' करते नही। हमारे वूढे साआन्त के तो हाथ में चाँद-सी वहू आ जाती।"

रवि के मन मे उथल-पुथल लगी है। और नयी पट्टभूमि वनने लगी। भाषा झरती है—"आदमी एक होते है अपने विचारों से, करनी से, चलने की दिशा से। एक उद्देश्य लिये पसीना वहाकर वे एक होते है। एक देह और दूसरी देह का मिलना-गुंथना ससारी मत से—यह क्या कोई बड़ी वात है ?"

वई ने कहा, "सच, क्या तुम वावाजी वनोगे रवि भाई ?"

रवि ने समझाया, "अरे वावाजी क्यो ? मेरा इतना वड़ा परिवार है! अपने

इतने आदमी सब जगह है, बाबाजी क्या इतने गृहस्थी होते हैं ?"

"तब ब्याह करो, सब जैसे, वैसे ही तुम भी बनो।"

रवि हँस पड़ा, "वह तो एक छिन का काम है, एक अनुष्ठान, जैसे पूजा कर चुकने के बाद चरणामृत लेने की तरह—"

जम्बू बेहेरा पिक्का मरोड़ रहा था, मुँह में पकड़कर कहा, "ठीक तो कहा, चरणामृत लेने की तरह, बस उस काम को जल्दी ही पूरा कर देना चाहिए, तभी तो चरणामृत का माहात्म्य समझोगे।"

रवि ने हँसकर कहा, "कितने काम तो अधूरे पड़े है, क्या वही एक काम है !"

जम्बू बेहेरा ने कहा, "अरे बाबू, ब्याह की घड़ी आयेगी तो ख़ुद ही बुलाकर खींच ले जायेगी, नहीं कहकर जायेंगे कहाँ ?"

बई मलिक उसका हाथ पकड़ कान में धीरे से कहने लगा, "बहुत अच्छा होता, सबकी आशा पूरी होती, कितना भला होता, ऐसा पात्र···"

रवि ने धीमे-धीमे कहा, "देख बई, तू समझता क्यों नहीं ! जा, तू ब्याह कर, मैं तो तेरे साथ कब से हूँ। ब्याह से मैं इनकार नहीं करता, मैं नहीं कहता कि दुनिया से निकलकर अलग बैठ आदमी ऊपर उठ जायेगा।" तनिक रुककर फिर बोला, मानो जीभ लड़खड़ा गयी हो, "विवाह की बात होगी तो कहना कि वहीं बात करो, उसका मत क्या है समझ लो, उनके घरवालों का विचार क्या है।"

आग्रह से बई ने कहा, "बस इतना ही सुनकर साआन्त-साआन्ताणी सब कुछ अपने आप कर देंगे—चौधरीजी क्या इनकार करेंगे ?"

रवि ने कहा, "पर बात यह है कि मेरा रास्ता थोड़ा अलग है, एक को खोजने जाकर मैं करोड़ों मे ही उसे पाऊँगा।"

बई ने कहा, "क्या आप एक करोड़ की बात कहते हो बाबू, मैं कुछ नहीं समझता। ब्याह तो सब करते है, तुम भी करोगे ही।"

रवि ने कहा, "क्या इसी के लिए हम मन को पत्थर किये घर से निकले हैं, जीवन की बत्ती बनाकर जला रहे हैं।"

जैसे रूठकर बई ने कहा, "यह काम किये से क्या ब्याह करने की मनाही है ?"

रवि ने कहा, "मना कौन कर रहा है ? तेरा मन करता है तो तू ब्याह कर ले। मुझे क्यों साथ में लपेट रहा है ? मै तो देख रहा हूँ एक विराट् स्वप्न। जिसे कहते हैं कारीगर का स्वप्न।" तनिक रुका। फिर बात जारी रखी, "स्नेह, मैत्री से नया समाज गढ़ा जायेगा, गाँव-भर परिवार होगा। आदमी का समाज सारा एक होगा। वह सब कैसे होगा, अगर सब लोग अपने-अपने स्वार्थ की ही सोचने लगें ?"

वई ने नाक से कहा, "बस ये ही सब कुछ हाँकोगे, मैंने क्या पढ़ाई की है जो इन बातों तक पहुँच सकूँगा या ये बातें समझ सकूँगा ? मुझे तो बस एक बात समझ में आती है—लगता है जैसे वह तपस्या कर रही है तुम्हें वर-रूप में पाने के लिए —जैसे पार्वती ने की थी···"

बिजली चमक उठी। काली-काली छुरी की धार की तरह पास-पास में फटे-फटे पहाड़ों के बीच, आकाश के किसी अनजान पहाड की खोह में बार-बार धूनी की आग भभकती-बुझती है। अँधेरा दलदला आया। साँय-साँय करता आ गया पानी मिली हवा का झोंका। दोनों चुप हो गये।"

वई ने कहा, "सच, तुम नही करोगे ?"

रवि ने उत्तर दिया, "सो कौन कह सकता है ? वह बात छोड़ो, बिलकुल बूढ़ी दादी की तरह पल्लू में गाँठ बाँधकर बस एक ही रट लगाये हो—ब्याह-ब्याह-ब्याह ! दुनिया में अपने ब्याह के अलावा और कोई काम ही नही ?"

जम्बू वेहेरा ने उस ओर से आवाज दी, "हाँ, सँभलना, सँभलना, डाँड गाड दे, निधिया, सँभालकर प—क—ड़, हाँ अबकी बीच में—"

नाव एक तट से टकराते-टकराते बची। उधर बहाव ज़ोर मार रहा है। नाव वहाँ से खुलकर बीच की ओर हुई। जम्बू बेहेरा ने कहा, "अँधेरा क्या, यह तो घुप्प अँधेरा दिख रहा है। और सकेंगे नही। आगे वह दलवा गाँव दिख रहा है, आज नाव वहीं लगायेंगे।"

गाँव दिख रहा है—सबने मुड़कर देखा। कुछ नहीं दिख रहा। फिर पानी पर के हलके अँधेरे मे लम्बी-लम्बी छायाओं की तरह कुछ चले गये उधर बायीं तरफ़। नाव मोड पर घूमी। बाद में हो-हो सुनायी पडी, रोशनी भी नज़र आयी। दूर से तैर आयी झाँझ-मृदंग की आवाज़। कछार के ऊपर-ऊपर होते हुए आकर कुचला के पेड़ से नाव बाँधी गयी। उधर से लोग आ गये। चचू शिअल ने कहा, "ओहो, आदमी बच गया ! यही हमारी बस्ती के पञ्चुआ की ससुराल है, मैं उसके घर रह जाऊँगा। और किधर जाऊँगा ?"

दलवा गाँव की पधान बस्ती के बीच। लाठी लिये कुछ लोग अपने-अपने घर के आगे फिर रहे हैं, बीच-बीच में लाठी नीचे ठोककर 'हो-हो' करते हुए हल्ला कर रहे है। जम्बू वेहेरा ने कहा, "जहाँ देखो, बस ऐसे ही बाढ के दिनो मे लोग साँप को घुड़क रहे होंगे।" गाँव के किसी ने कहा, "बस केवल गोखर नाग···ढेर-के-ढेर। कहाँ-कहाँ से आकर भर जाते हैं। क्या किया जाये ?"

पानी-कीचड़ में चपड़-चपड करते ऊपर उठकर रवि ने पूछा, "क्या खबर है यहाँ की ?"

ठिगना-सा बूढ़ा था। कहने लगा, "खबर तो सब तरफ़ जो, यहाँ भी वही, और क्या ? ज़मीन में बालू भर गयी, गाय-गोरू झुण्ड-के-झुण्ड बह गये। कितने

लोगों के घर-द्वार बह गये, किधर-किधर से आदमी आकर भरे हैं। बाढ़ के साथ-साथ हैजा भी घुस आया, निचली बस्ती से तेरह जने एक-एक कर गये। और क्या खबर पूछते हो बाबू?"

नाव पर रोशनी जला दी गयी।

चन्नू, रवि, दधि अहीर, बड़े मलिक चल पड़े गाँव की ओर।

सदा की तरह आज रात भी घूम-घूमकर खबर पूछकर मदद करनी होगी। भीगे छान-छप्पर, टूटे झोंपड़े, भीगे आदमी, पीड़ित लोग।

इसी के बीच रवि को याद आ रही थी बड़े मलिक की बातें, मन-ही-मन चित्र सँवार रहा था। इस बरसाती अँधेरे के बीच मानो दीप लिये उसकी प्रतीक्षा कर रही है वो—छवि!

पाटेन्दी गाँव में—

बरसाती अँधेरे में सिन्धु चौधरी जब छवि को न पाकर अकेले घर लौट आये तो उन्हें दूर से ही लगा, चबूतरे पर कोई लालटेन जल रही है। धुँधली-मटमैली पानी की भाप के बीच कोई मूर्ति खड़ी दिख रही है, एक तो कुछ मोटी, ऊपर आकार में और अधिक बड़ी दिख रही है, साफ़ कुछ न समझकर छवि की माँ ने ऊँचे स्वर में पुकारा, "क्यों, आ गये सब? अरी छवि?"

तब सिन्धु चौधरी को तनिक अटपटा-सा लगा। याद आया, सचमुच, छवि नहीं लौटी है, अपराधी की तरह सकुचाने-से लगे। चबूतरे पर चढ़कर छाता बन्द किया। कहने लगे, "कहाँ से पाता इतने लोगों की भीड़ में? वह कोई साधारण भीड़ है? दस हाट के आदमी भरे हैं!"

उसने रोते-रोते कहा, "गयी? जलाकर निश्चिन्त हो आये? अच्छा किया, अब चैन से रहो!"

"तुम ऐसा क्यों हो रही हो, बोलो तो भला? उसके साथ और भी तो कई लोग हैं।"

"गिनते रहो तुम लोगों को। यह रहा तुम्हारा घर। मैं तो जाती हूँ कहीं कुएँ-बावड़ी में—"

"अरे, क्यों हल्ला कर रही हो? धीरज धरो, वह आ जायेगी।"

"तुम्हारी मुँह लगी है, यह सारा मन्त्र तुम्हीं ने दिया। नहीं तो कहीं जवान बेटी देहरी के बाहर निकला करती है? यों पानी-कीचड़ में अँधेरे में फिरती! ओ हो रे! बुद्धि, राज-भर को उठाये फिरती है! अब क्या हो? मैं क्या करूँ?"

सिन्धु चौधरी ने बहुत समझाया, घर टूटने की बातें बतायी, लोगों की दुख-दुर्दशा की कहानी कही, कैसे छवि तथा अन्य औरतें उनकी सेवा में जुट पड़ी हैं—सारी बातें एक-एक कर समझाने लगे—"मेरी बात सुनो, तुम्हारी छवि अच्छा काम करती है, छवि की माँ ! नाम की ही बेटी है, असल में कौन-सा बेटा उसकी बराबरी कर सकेगा ? भगवान् जिसे जो बुद्धि देते हैं, जो रास्ता दिखाते हैं, वहाँ हम-तुम कौन हैं !"

सुनते-सुनते छवि की माँ बदल गयी। फिर हिचकियाँ नहीं भरी। सचमुच लगा जैसे उस विभीषिका का वर्णन उनकी नसों में भर गया हो। सिन्धु चौधरी कहने लगे, "बड़ी बात इस दुनिया में तुम किसे समझती हो ? ऐसे ही पलक मारते सब चल देता है, किसके लिए यह सचय, किसके लिए यह घर-द्वार, किसके खातिर इतना लोभ, इतनी चिन्ता, इस पल की बात अगले पल न होगी। बाढ़-बाया के देश में रहकर अगर यह विचार मन में न आया, तब फिर दूसरा क्या विचार आयेगा ? तुम्हारी अपनी एक बेटी के लिए तुम्हारी नस-नस फटी जा रही है, सोचो जगत्-भर की बात, कितना दुख, कितनी दुर्दशा ! चूहे की तरह बिल में गड्ढे में ठूँसने की तरह कितना कुछ आलतू-फ़ालतू सहेज रखते हैं। अब किसी के छज्जे तले या किसी उजाड़ में है कुछ……"

छवि की माँ सुनती जा रही थी। अपने पति का स्वर अनचीन्हा-सा सुनायी पड़ रहा था। मानो वह किसी आदमी की आवाज न हो, इस अँधेरी रात का स्वर हो, या उसकी ओट में छुपे किसी अशरीरी रूप का हो, जिसका कोई उत्तर नहीं। उसे बुद्धि-विचार से अर्थ लगाकर लिया नहीं जा सकता, वह सिर्फ़ समग्र चेतना में अन्दर तक भेद जाती है। सिन्धु चौधरी भी सुनते जा रहे थे अपनी बात, मानो स्वय बातें नहीं कर रहे, और कोई कहलवा रहा है। एक उच्छ्वास में झूम उठता है उनका सारा उत्तर…यह अँधेरा…यह मूसलाधार बरसा…यह निशा रात्रि—गाती जाती है अपना दर्शन-तत्त्व। वे स्वय केवल उसके चारण हैं। सिर्फ़ बाढ़ ही नहीं, कितनी बातें याद आ रही हैं ! ऐसी यह प्रलय की रात, वह आदमी के जीवन में भी घिरती है, कितने उलट-फेर कर जाती है, प्रसन्नता और आशा को धराशायी कर निश्चिह्न कर देती है। स्वास्थ्य जाता है, धन जाता है, घर जाता है, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव चले जाते हैं, स्नेह सपना हो जाता है, और कभी सारी ममता सारी चैन की डोर काटकर माटी का पिण्ड फेंककर छोड़ चली जाती है आत्मा। मानवता की स्मृति भी लोप हो जाती है। यह अँधेरी रात उसी बात को तो चेताये देती है, जगत्-भर की दुख-दुर्दशा की बात, और अन्त में उसी चरम विलय की कहानी, वही अति पुरानी नित नयी—

वही तो है वह ! वह अँधेरी रात विराट् मुँह बाये ताक में है अनादि काल से, कितने उजले दिन, कितने जीवन्त इतिहास, कितने हिलते-डुलते हाथ-पैर बार-

बार बस उस 'आँ' के अन्दर घुस जाते है, और लौटते नही…और लौटते नही…।

फिर भी रोज खिल रहा है जीवन। नयी आशा, नन्ही-नन्हीं नयी-नयी दूब। जाने-मरने-खाने की परवाह नही, नयी हो रही है, नयी बनकर प्रकट कर रही है अपना रग, अपना रूप, अपना इतिहास। बार-बार वही, पल-भर के लिए दिखा देती है महाप्रलय के सामने अपनी टेक। वही चिरंजीवी कण, वही प्रकाश की जरा-सी बूँद। उस बूँद मे ही सृष्टि का आरम्भ है, अणु में प्राण निहित है, वही तो युग-युग का मानव का आराध्य देव है, जो जिस रूप मे देखें, कुछ भी नाम लेकर पुकारें, ईश्वर कहे, शक्ति कहें, उसी की अपूर्व विजय की परिकल्पना ही तो है आनन्द का हेतु।

"वो सुन—" सिन्धु चौधरी उद्‌बुद्ध की तरह कहते गये, "काश आदमी ध्यान रखता कि यह जितना 'मैं-मैं-पन' है—मेरी बेटी, मेरी पत्नी, मेरी चीजें, मेरा सुख—कुछ दिन जाने पर कुछ भी नही रहेगा। इस जन्म के साथ-साथ ये सब भी लीन हो जायेंगे। छोटी बात तो क्या, बड़ी-बड़ी व्यथा और विपदाओ को भी इतनी बड़ी नही सोचता, यह सब तो सपना है, केवल आदमी को भुलाये रखने के लिए एक खेल है, यह खेल भी दो दिन का—"

छवि की माँ ने कहा, "यह बात कौन नही जानता ? तो उसे छोड़कर आदमी फिर घर-ससार क्यों करता है। शुकदेव की तरह माँ के पेट से गिरते ही चल पडता ब्रह्मज्ञान कहने, भागवत के कपिल अवतार की तरह वह भी माँ-बाप को तत्त्व समझाकर चला जाता कल्प-कल्प तक योग-साधना के लिए। पुराणों मे तो सब-कुछ है, पर यह रक्त-मांस की देह उसे समझती है ?"

"समझना पडेगा। जो सत्य है वह स्वतः होगा। कितनी भी विषयासक्ति, माया-ममता बढाये जाने पर भी सत्य के दावें से रक्षा नही। किसने नही देखा कि पेड सूखता है, आदमी मरता है। किसने नही देखा है कि यह देह चिता पर देखते-ही-देखते जलती है, फटकर टुकडे-टुकडे होती है, जलकर भस्म होती है। कौन-सी ममता रहती है !"

"फिर भी ममता कौन नही करता ? रोता कौन नही ? जिसे अपना स्नेह, अपनी ममता कहते हो वह भी है वही माया। हम उस माया को छोड अलग होकर देखते है या सोचते हैं ? उसी माया को ओढ़कर तो हमारी घर-गृहस्थी, पति-पत्नी, माँ-बेटी, तेरा-मेरा का गुँथा-गुँथा समार है। लोग तो फिर इसी ससार को बढाने के लिए खटते है, सोचते है, जीवन बिता देते है ! उसे काट दो तो तुम अपने अकेले रह गये ! इस संसार से फिर तुम्हें और क्या प्रयोजन ? तुम फिर घर-द्वार क्यों करोगे, किसी के भले-बुरे से तुम्हे क्या काम ?"

"तुम समझती नही हो छवि की माँ ! तुम्हारा ससार तुम्हारे पास रहे, उसे कोई छीनेगा नही, पर तुम्हारे इस संसार में प्रकाश भरने के लिए, इस जीवन मे

कैसी चीख; अकुलाहट, हाय-हाय ! कही कोरिया की युद्धभूमि मे सनसनाती गोलियो के बीच घूम-घूमकर आहतो को कन्धे पर उठाता कोई रेडक्रॉस-दल। कहाँ जलते नोआखाली के रास्ते पैदल चल-चलकर जानेवाले बहत्तर बरस के बूढे महात्मा गांधी । दुनिया मे विपद् घिरने पर सदा 'मैं-पन' को जलावन बनाकर मानवता का विकास करने के लिए सीधी आत्मा मे एक कुहुक उठती है, छवि की माँ ! महाप्राण को बाँधकर रखा नही जा सकता । वे चले जाते है अँधेरे मे प्रकाश करने, क्षत-विक्षत धरती पर शान्ति स्थापित करने, उसे ही परिचित कराने को यह बिजली यों फाँय-फाँय करती है, मेघ मूसलाधार बरसते है, अँधेरा ढुलकता है, वासुकी फन टेकता है !"

बाते न सुनने की चेष्टा कर भी छवि की माँ उनमें से कुछ-कुछ सुने बिना न रह सकी । बाद मे धीरे-धीरे शब्द उनके दिमाग मे एकजुट हुए । साफ़ दिखायी पड रहा था कि केवल शब्द नही, वाक्य मन्त्र की तरह सुनायी पड़ रहे हैं; परन्तु उन वाक्यों का अर्थ है । बाद मे उनमें तन्मयता आ गयी । वाक्य समाप्त हुए; तन्मयता कुछ क्षण रहकर फिर टूट गयी, लुप्त हो गयी । अबकी सुना, पवन नही, मेघ नही, वहाँ एक साथ कई मेढक टरटरा रहे है, आम के पेड़ की ओर से झींगुर बोल रहा है, और कितने ही शब्द मिल जाते है, कान देते-देते अनेकों टूटे-फूटे शब्द अबतक सुने गये शब्दों की तरह सिर मे एकत्र हो रहे हैं। एक छन्द में थाक बुनकर, जगह बनाकर, घुल-मिल जाते है । एकमएक हो जाते है । अँधेरा और रात का पहर मिलकर मानो एक नया अर्थ ला देता है, जिसमें कोई एक विशिष्ट पदार्थ आँखो को दिखता नही, या किसी एक घटना का चित्र आँखों के आगे आता नही। फिर भी स्मृति मे उठा-पटक चल रही है, गोया अन्तर मे कोई मन्थन चल रहा है, टूटे-टूटे कितने ही चित्र कही से आकर अपने अन्दर कब भर जाते हैं, कब ढीले पडकर केवल खिसक जाते हैं, खो जाते हैं । और उन्ही के साथ-साथ याद आ जाता है—कितना कुछ था, अब नही है । कितना कुछ आया था, चला गया है; जीवन-भर मानो कुछ घटेगा इसी की सिर्फ़ प्रतीक्षा है । कान खड़े है, साँस रुकी है, पर घटना घटी नही, समय चला गया है ।

बच्चों की तरह लगता है—मानो उस धूल से देवल बनाकर प्राचीर खडी कर ऊपर तक टगर के फूल भर दिये । आँचल मे जामुन भरे थी न, वे नही हैं। वैसे ही तो खेल रही थी छवि । कोनो-ही-कोनो से कोये नचा-नचाकर देख रही थी—आया था पहला यौवन—कितना अनजाने ही सिहरन भर गया ! छाती फडफड, थरथर हो रही थी । बाद मे वही तीखे-तीखे नमे के आगे सरसों तेल-सी चाँदनी रात ढल गयी है, उसके उधर कतार मे कनेर के पेड़, हवा मे अनजान महक । वो दूर-दिगन्त के उधर से मानो कोई आयेगा-आयेगा-जैसा लगता है। उसी अँधेरे बगीचे की ओट से, बाँस का वन लाँघकर, देवदारु की क़तार के पार

वह जो नागेश्वर और गुलमुहर के ऊपर का सघन समुद्र दिखायी पड रहा है, बीच में खड़ा है गमेश्वर के मन्दिर का टँगा कलश, सम्भवत: उसी किनारे-किनारे। आ., कौन सोचता था यह!···यौवन गया—तुलुकुतुरु नायुलुनायुलु थुलथुल फूलों देह के तले छोकरी छुपी है, उनका कुतूहल मिटा नहीं, आशा मिटी नहीं।

कहाँ किधर गया है?

मानो जैसे कुछ शुरू हुआ था, वैसे ही आधा-अधूरा पड़ा है। अँधेरी रात के उस अटूट नगीन के साथ ताल मिला रहे हैं एक-एक दीर्घ श्वास। सब मानो सरकता-सरकता दूर हट रहा है, ऐसा मन में ऐसा एहसास हो रहा है। शब्द चुके नहीं, थमे-थमे आ रहे हैं, लोट-पोट हो गुड़ते-गुड़ते पिछड़ते-पिछड़ते चले जा रहे हैं। खाली मटकों में घाँव-घाँव होकर हवा घुसने की तरह अपने अन्तर में खाँ-खाँ ध्वनि सुनायी दे रही है, उठकर पछाड़ खा रही है अन्त:करण की हूक, और बचपन में जैसे हण्डी-हण्डी-भर अचार रखे हुए भूमि तले पाताली भण्डार पर में छुपकर घुसते समय सूने दोपहर के वक्त सुनायी पड़ता कि सब चले जा रहे हैं, जितनी सखी-सहेलियाँ, मन उदास हो जाता, इच्छा होती अचार खाना छोड़कर मोखले से बाहर निकल आकर पुकारती—आओ, आओ चली आओ—कुछ उसी तरह तो।

सुनायी पड़ता है, मानो कोई पहचाना हो। फुसफुसाकर झाड़ी से या झुरमुट में बार-बार कोई चिड़िया पुकार रही है—तुइतुई—तुइतुई—तनिक ठहरकर दूसरी ओर से कहीं से सुनायी दे जाती है—उसका प्रत्युत्तर या प्रतिध्वनि। पानी भरे गोकुण्ड और नहाने के कुण्ड में रुक-रुककर टप-टप पानी चू रहा है—लगता है, किसी बन्द ढक्कनवाली शीशी का ढकना खोलने की तरह, अथवा किसी और तरह—आहिस्ते से सिर झटक देती है। देह सिहर जाती है, आँखें बोझिल होती जा रही हैं, महक ध्यान में आ जाती है, चीनी चम्पा, व्रजमल्लिका, या मधुमालती—ठाकुरजी का कमरा खोलते समय की सुगन्ध नहीं, यह तो फेंके हुए फूलों की, बासी फूलों की महक है, किसी और ही तरह की—धीरे-धीरे स्पष्ट हो याद आयी—गुदुरकुणी ओषा (देवी के व्रत-पूजा) के समय फूल सजाने के समय की! गुच्छे-के-गुच्छे कुँई फूल···ताजा चेहरा, ताजा आँखें, भोर की तरह···बुनचुनी चाँदनी रात···भेवती फूलों का रंग निचुड़कर एक साथ घुलमिल गया है घास के मैदान पर—हवा में कोहरे की भाप, दुधिया फूलों में लदा-भरा हर्रसिंगार का पेड़; खिड़की खुली है, किवाड़ उढ़के हुए; महक बदल गयी, मानो जले नारियल की गन्ध, होम का नारियल हो, घी उँडेले होम का, जला गुड़ हो, कपूर की माला की गन्ध, चन्दन के टीके की सुगन्ध, बँटी-पिसी मेथी की, अगरु की, वंशी के छेद पर अँगुली रखने की तरह भरे कुण्ड में गिरते पानी की बूँदों की आवाज, या और किसी तरह की···छुपे झुरमुट में से चिड़ियों का फुसफुसाहटवाला गीत···तुइतुई—

तुइतुई—चांदनी रात, महक, यौवन !

कोई कह रहा था वह भूली हुई कहानी !

वह भी बन्द हो गयी।

समय वहा जा रहा है—पीछे कहाँ-से-कहाँ।

जवानी के दिन वह गये है, और लौटेंगे नही।

एक जगह जो मूर्ति बैठी है, वह भी ओझल हो गयी।

लालटेन कजलाने लगी। देह पर का कपड़ा ख़ुद को चिपचिपा लग रहा है। दूर कही सियार हूका।

छपाछप की आवाज आयी। छवि आ पहुँची, कोई औरत बच्चे को गोद में लिये है। दरवाजे पर से और अनेक की मिली-जुली आवाज आयी, "अच्छा, तुम ठहरो, हम चली !"

छवि ने कहा, "माँ, ये जशोमती, डोम के घर की वहू है, इनका घर-द्वार सब कुछ वह गया है। अरी आ, बरामदे पर चली आ, वहाँ पर क्यो खड़ी रह गयी···"

सिन्धु चौधरी ने भी कहा, "हाँ, चढ आ, बेटी, आ-हा, बच्चा भी काँप रहा है—आ !"

छवि की माँ अवाक्। फिर दूसरे को देखने लगी। सतुरा की पतोहू आगा-पीछा कर रही है, हिम्मत नही हो रही। फिर बरामदे से उतरकर छवि ने उसका हाथ पकड़ खीचा और ले गयी, "आ तू, शरमा क्यो रही है ?"

आगे-आगे लालटेन दिखाती-दिखाती छवि की माँ भण्डारवाली कोठरी की ओर चली, मुँह तक नही खोल रही थी। पति और बेटी की ताड़ना से उन्हे कुछ तो करना ही पड़ेगा, कोई एक जगह दिखा देने पर वह बहू रह जायेगी, नही तो छवि उसे सीधी खीच ले जायेगी सोनेवाले कमरे मे। पर बेटी के चेहरे को, और वैसी उसके बाप के चेहरे की ओर देखते ही उनकी बुद्धि कुछ काम नही करती। सिन्धु चौधरी के चेहरे पर अपूर्व भावना की भंगिमा है, टिमटिमाती, अधकजलायी लालटेन की झलक और भी विचित्र दिख रही है। वे मानो ध्यान में बैठे तन्मय हो गये है, उन्हे कुछ दिव्यदर्शन हो गया है। आगे-आगे जाकर कोठरी खोल दी। छवि ने चटाई बिछा दी। बाँस की अलगनी से खीचकर एक कन्था और सूखी साड़ी लाकर रख दी। कहा, "साड़ी बदल डालो, सो जाओ, यही तुम्हारा घर है।" सिन्धु चौधरी ने कहा, "हाँ बेटी, यही तेरा घर है।" छवि ने ढिबरी जला दी।

छवि ने कहा, "कितना समझा-बुझाकर वहाँ उनमें से एक को साथ ले आयी, और भी कितनी ही है—पता नही कितनी ! क्या होगी उनकी दशा, घरों में लहरें खेलती होंगी।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "जिसने ये दशा की है वे ही इन्हे सँभालेंगे—वे ही जानें।" उनकी आवाज खोखली सुनायी पड़ रही थी, मानो वे छवि के सामने दव गये है, छवि ही वड़ी है, छवि ही मुरब्बी है। वे केवल निःसहाय, दुर्बल आदमी है। ठाकुरजी को पुकारेंगे, उनकी बात मानकर चलेंगे। "मुझे तो जो कहोगी, सो करूँगा मैं! लोगों की इस दुर्दशा की घडी मे और कोई किस बात की ओर ध्यान देता है!"

उन वातो का प्रभाव छवि पर नही पड रहा था, मानो वह तो किसी और लोक में थी, वस वीच-वीच में केवल वाढ के रास्ते मुँह निकाल इस दुनिया को देख लेती थी, वस उसने सिर्फ़ इतना कहा, "और कोई काम नही, अव नीद। फिर भोर होने पर उठकर वहाँ जाना पड़ेगा।"

परन्तु छवि की माँ पर प्रभाव साफ़ दिख रहा था। ऐसी यह रात, यह वेला, छवि मानो दिन-भर घूम-घूमकर पागल की तरह इतनी रात गये आकर पहुँची है, उसके पिता का लम्वा भाषण और अंत मे यह डोम के घर की बहू, मानो सब सनक गये हैं। उन्हे और कुछ कहना नही है। पास मे छवि सोयी है, सदा की भाँति आज भी। विस्तर छूते-न-छूते नीद में। पर विह्वल मन से विचार करने लगी तो वह कितनी परायी-परायी-सी लगी। बेटी नही हमजोली-जैसे लगनेवाली कोई और हो, मानो जिसका अपना कोई स्वतन्त्र ससार हो, स्वतन्त्र गति पथ हो और भावना की धारा भिन्न हो।

आँखो में जलन-सी लग रही है। अपना विश्वास अपने ही गालों को तपिश से भरा लगता है। और मानो गरदन से ऊपर की ओर कोई जलन ऊपर उठती जा रही है। अँधेरा तो सदा से है, देह को सहना पड़ा है, पर आज लगता है, यह जो अँधेरा है, वह गाढ़ा अँधेरा है।

मन-ही-मन याद आ जाता है कि उस कोठरी मे डोम की वहू सोयी है। इसी डीह में, जहाँ वड़े-वड़के है, जहाँ कितने होम, कितनी पूजा, अर्चना, व्रत-उपवास हुए हैं, वहाँ आकर सोयी है। चौधरियों की हवेली मे डोम घुस गया! जो वेटी ख़ूब आडम्वर के साथ व्याही जाती, उसपर पागलपन सवार हुआ है. पानी-कीच मे वाहर फिरती है, छुआ-छूत का कोई विचार ही नही रहा। और मझले घर में सोये है वे, जिनकी देह पर सावुत कोई कपड़ा तक नही, न कोई कमाई, न कोई सचय। कोई सहायक नही, वाहुबल नही। 'मैं' या 'मै-पन' का कोई गरब-गरूर नही, तेज नही। आख़िरकार डोमिन को भी घर मे जगह देने में गौरव ही समझा। क्या समय आ गया!

धीरे-धीरे विह्वल भावना कहने लगी। क्रमशः क्रोध का पारा चढने लगा। वह भी ठण्डा पड़ा। इसके वाद जितना भी मन करता गुस्सा होने को, वह गुस्सा हो ही न सकी। केवल छटपटाहट। मच्छर फैल गये, रह-रहकर मेढक टर्राने

लगे। मानो कोई नीरस पद बार-बार गा रहे हैं। क्या भला, क्या बुरा, क्या हो रहा है, क्या नहीं, सब कुछ वहाँ निर्विकार, निस्पृह, अनासक्त है।

उन्हें लगा, ये सारी भावनाएँ उनकी अकेली की हैं। यह छुआ-छूत उतर-पातर के बीच की जाँच-परखकर वंश की मर्यादा और कुल की पवित्रता की रक्षा करना, घर की टेक रखने की बाबत सोचना—सब केवल उन्हीं में है। सोचते-सोचते फिर उनकी धारणा में कहीं से एक और धार आकर मिल गयी। मैं क्यों इतना घुटूँगी?

घर सुनसान लग रहा है। बीच-बीच में खर्राटों की आवाज़ सुनायी पड़ जाती है। केवल आदमी ही नहीं, रात भी मानो खर्राटे भर रही है। चिन्ता में कुछ उठना-बैठना, उथल-पुथल मची हुई है।

तब पहले-पहल आकर पहुँचा एक सन्देह का प्रश्न, कि ये जितने थे पुराने जमाने के लोग, पुराने संस्कारों से अपने नाक-कान भी बिंधाते थे, हज़ार पुण्य-पर्व त्यौहार कर हज़ार छूत-अछूत सभी घी जला ब्राह्मण-भोजन करवाते थे, इतने वारण, इतने विचार—अब किस घर में रहा? कौन-सा ज़मींदार रहा या बड़प्पन की बड़ी ख़ातिरदारी रही? कमर हिल रही है, अभावों से भरे हैं—न आशा, न बल! जो सुख करनेवाले थे, वे तो भोगकर स्वर्ग में जा बैठे, जो देह दाह होने को हैं वे छटपटा रहे हैं। इतनी मान-मानता, क़ायदा-क़ानून, इतने पक्के संस्कार-चलन, दिन-वार छाँटना, उसी में फिर छोटा-बड़ा, छुआ-छूत पकड़कर बैठना—भाग्य, धर्म, पुण्य सहेज रखने के इतने उपाय—पर सब किस काम आये?

घर ढह गया! जो जिधर उड़ गये, सेमल रूई की तरह। रही सिर्फ़ डीह की निशानियाँ।

मन दबा जा रहा है कि क्या घर था, क्या हो गया!

दस कोस में नाम था—चौधरी घराना! किस पुराने ज़माने के सामन्त, ज़मींदार, ख़ानदान! कतार-की-क़तार में घर, प्रस्थ-के-प्रस्थ डीह, भरे-ठुँसे आदमी, दास-दासी, चाकर, हुक्काम, हाथी की तरह कोठले। कचहरी-घर, विचार-घर, भण्डार-घर, ठाकुर-घर, नाट-घर, बैठक-घर, रावटी-घर, तम्बू में रहने के लिए, कितने कामों के लिए कितने घर थे! जिनकी कोई गिनती नहीं। चबूतरे के नीचे हाथ जोड़े खड़े रहते गुहारी—झुण्ड-के-झुण्ड। उस ओर गोल जेलख़ाना। भीमाकार पाइक (सिपाहियों) का दल, बाहर चौक में कभी-कभी पाइकों का खेल, या हो-हल्ला या चित-पट।

याद आ जाती है, जब नयी-नयी इस घर में वे बहू बनकर आयी थीं। एक कोठरी का ताला खोलकर अन्दर देखा तो बस हथियार-ढाल भरे पड़े हैं, कतार-की-कतार, खाण्डा, तलवार, फरशा, बर्छा, भाला, छुरी, कटार—फिर एकनली, दुनाली बन्दूकें, और पता नहीं कितने प्रकार के, जिनके नाम तक वे नहीं जानतीं,

घी मे घुली सिन्दूर के टीके चक-चक कर रहे थे। कोई भयकर अशरीरी आत्मा मानो छुपी है उस घर में, घर में घुसने को जी नही करता, उस जगह से निकला जा नही सकता।

"वो सब क्या देख रही हो बहू?" स्वर सुन चौककर पीछे देखा, सासजी खड़ी थी। "इनसे भारी-भारी तलवारें तो पिछवाडे के कुएँ-पोखर मे पडी है, और इतना ही बस इस कोठरी मे रखा है, देवी है न यहाँ! बिना नहाये, कपड़े बदले कोई उस कोठरी मे नही जाता। और देखती क्या हो, किवाड़ भिड़ा दो अब।"

आदमियो की आवाजें, भीड़-भाड—। बोझ-के-बोझ ढोकर, बैलगाडी मे लाद-कर चीजें लायी जा रही है। कही से सब्जियाँ, कही से चावल, कही से घी-दूध। घड़ी-घडी पर एक-एक करते आ रहे है। आदमी आ रहे है। मानो सारा इलाका उठ-बैठ करता रहा है। घूमता है—फिरता है, इस घर के चारों ओर। इन सबको यही हवेली चला रही हो जैसे।

और दिखायी पड़ जाते है भरे-के-भरे सन्दूक। उनमे नाना भाँति के पाटम्बर। इधर-उधर बनौती, रेशमी, मखमली कपडे भरे है।

आलट-चाँवर, छत्र, पण्डितो के सोने के कुण्डल, नायकजी का मंगलाष्टक, पुरोहित की मन्त्रध्वनि, भाटो का वन्दना-गायन, नौकर-चाकर का हल्ला-गुल्ला, असख्य-असख्य कबूतरों की गुटर-गूँ-गुटर-गूँ!

याद आ जाता है हण्डी-की-हण्डी दूध, सेर औटाते-औटाते पाव हो जाये तो भी थोड़ा। बरगद के दूध की तरह गाढ़ा करना। इतनी मोटी तो मलाई पडती। काट-काटकर खाया जा सके ऐसा थलथलाता दही। मनों बडी-बडी मछलियाँ, पुरुष-भर ऊँचाई के आम की ढेर। घौद-के-घौद केले, जिधर देखो, उधर ही चीजें। फटती है, बह जाता है, दास-दासियाँ ले जाती। आज यह सब देखना सात सपनों की बात हो गयी।

हुकुम देते-देते तो गला बैठ जाता, फूल गूँथते-गूँथते हाथ थक जाते। और फिर जो रसोई का काम—मछली काटते-काटते तो एक पहर बीत जाता। वह कोई मामूली काम था! जितने लोग कुटुम्ब के खाने को होते, उससे तिगुने तो बाहर के हो जाते। अतिथि-अभ्यागत, बडा ठिकाना, बडी नजर, बड़ी रसोई—सब तो बस बड़ा-ही-बड़ा था।

सोचते-सोचते मन जाग उठता है, बीच-बीच मे जोर से शीतल पानी छीटने की तरह। कड़े मन से निष्ठुरतापूर्वक सोचे जा रही है। "जा चली जा, क्यो आ रही है, ये चूल्हे की, रसोई की पिछली बातें। जा उसी अँधेरे मे चली जा!" सब तो लुप्त हो गया है।

अच्छी बात है। जिधर से आ-आकर यह घर भर जाता था—उधर से अब

नही आता । वे और अब मानते नही, देते नही । अन्याय क्या है ? वे आराम से हैं, सलीके का कपड़ा पहनते है, पढ़ाई करने लगे हैं। इस देश में अब राजा या ज़मींदार राज नही चलाते। वे लोग ही राजा है, जो पहले हाथ बाँधे सिर झुकाये काठ की तरह खड़े रहते थे, एक पोरसा ऊँचे चबूतरे के नीचे । उन्हीं का मत लेकर यह देश चल रहा है, उनका मत और अधिक ठोस होता जायेगा । वे ही साधारण मैले-कुचैले लोग ही तो बलवान् हैं, उनकी संख्या वैसी है, देश मे वे ही तो है—इस प्रकार बार-बार कहा करते हैं उनके पति सिन्धु चौधरी। उन्ही की हित-चिन्ता मे आँखें छलछलाकर कहते है—मेरा देश, मेरे देश के भाई ! उन्ही का मगल होने पर सारे देश का मगल होगा । पति अगर खुश हैं तो उनका क्या जाता है, उन्हे आपत्ति क्यो होगी ? उनसे अलग होकर और क्या है ?

आने दो, यह भी एक ढग है । पहले एक घर भरा होता था, अब राज-भर के घर भरे होंगे । एक क्यारी मे धान हुआ करता था, बाक़ी सारी ख़ाली, अब सारी क्यारियाँ धान से भरेंगी, ख़ाली कोई नही रहेगी । तब जाकर दिगन्त तक फैला होगा धान का हरा-भरा खेत, लगातार चक, वही तो मेरा देश···उनके पति कहा करते है—हरा-भरा लहलहाता, वही उनके सपनों का देश है : सन्तान के नाम से एक इकलौती बेटी, उसका भी तो वही सपना । वही मोह उसपर भी घिरा है। फिर अब बाक़ी कौन रह गया ? वे स्वयं—एक जन । पेट को दो मुट्ठी अनाज, देह को एक टुकड़ा पहनने को, बस इतने की ही तो भागीदार है । फिर इतना सन्देह, इतनी आपत्ति किसलिए ? शायद बेटी और पति का रास्ता ही ठीक है। उनके मार्ग के देवता वैरागी भी हैं। वे ही महात्मा गांधी, जिन्हे उन्होंने कभी देखा नही। कहते है वे सारी बातें कहा करते थे, जात-कुजात नही, सबसे बड़ा धर्म आदमी को चाहना है।

चाहना—किसी का क्या वे बुरा चाहती थी ! बेटी कह रही थी, घर-द्वार बह गये है, जगह नही, राह नही । कैसी अवस्था है वह ! वह जैसे लुप्त हो गया चौधरी घराने का वैभव, कहानी खत्म हो आयी-सी । ना—फिर भी यह डीह तो है, ज़मीन भी है कुछ । हाथ चलता है। पर नही, यह घर भी तो सचमुच बह गया है । पानी, पानी, तटबन्ध के ऊपर उठने पर जैसा दिखा करता है। और असहाय झुण्ड-के-झुण्ड । आगे कोई नही, पीछे कोई नही, वो कोई बहा जा रहा है··· कितनी आतुरता से पुकार रहा है···ओ···कोई आओ···कोई बचाओ···किसी का ससार जा रहा है···आदमी ही तो है सब···

और दोबारा बरसा की बौछार पड़ने तक उन्हे नीद आ गयी थी।

भोर हुई न थी। छवि आ गयी। ससुरा की पतोहू कब से उठकर तैयार बैठी है। छवि जाने को निकली, तो जसोमति ने कहा, "चलो मैं भी चलूँ।"

"यह क्या, यह क्या, कोई बहाना बनाती हो?" छवि ने कहा, "तुझे लाकर यहाँ रखा, झड़-बरसा में नन्हे बच्चे को लिये कहाँ जाओगी?"

कितना समझाया पर वह राजी हुई ही नहीं। मानो किसी सपने से उठी हो। लजाती-लजाती-सी खड़ी है, चाहती तो बहुत-सी बातें कह सकती थी, पर वह कुछ कहेगी नहीं।

सिन्धु चौधरी जाग उठे थे। कहा, "थोड़ा ठहरो, मैं भी चलता हूँ।" और थोड़ी ही देर में वे तीनों निकल पड़े। छवि की माँ वैसे ही सोयी हैं।

कुछ दूर से घू-घू की आवाज सुनायी पड़ रही है। थोड़ी दूर जाने पर पता चल गया। सब चीख उठे—"पुश्ता टूट गया है। पुश्ता टूटा—!" अहीर बस्ती के पास पहुँचने तक देखा, वहाँ लोग-बाग न थे। बाद में कुछ दूर जाते ही दिखायी पड़ा, वह उधर धाई खुल गयी है, कुलांच भर-भरकर पानी आ रहा है, दाहिनी ओर तो मानो समुद्र ही उमड़ा आ रहा है, किनारे से हटकर भीड़ किये लोग-बाग घेरे खड़े हैं। हो-हा मची हुई है!

तभी खबर आयी कि जोगी बस्ती के रोहीनाथ और उसकी स्त्री दूली दिखायी नहीं पड़ रहे, वैसे ही डोम-बस्ती का वात-रोगी बूढ़ा फगु गोछैइत भी, जितना पूछना-ताछना, खोज-खबर सब हो चुकी है। हल्ला हो गया—वह गये होंगे वे लोग···जीतेजी डूब-मरे होंगे?

"हे भगवान्!" सिन्धु चौधरी के मुँह से स्वतः निकल पड़ा। पहले जहाँ जोगी-बस्ती थी, उधर ही देखते हुए वे किनारे पर अवाक् खड़े हैं। नदी के किनारे पर पाँच सौ हाथ का पुश्ता तोड़ धाई का मुँह खुला है, उसी रास्ते मानो चल पड़ी है एक और उपनदी, गाँव का सब कुछ एकमेक होकर एक समुद्र बन गया है। उधर अहीर-बस्ती के नीचे तक पानी पहुँच गया है। इधर से उस ओर तक कूल ही नहीं दिखता, कहीं जोगी-बस्ती थी या बाउरी-बस्ती थी, कुछ पता ही नहीं चलता। वहाँ कहीं पेड़ नहीं दिखायी पड़ता, भीत या बाड़ भी नहीं दिखती। सिर्फ़ 'साँय-साँय' गरजता हुआ नाच-नाचकर उछल-कूद करता पानी चला जा रहा है। थल नहीं, कूल नहीं।

"कहाँ गये! जाना ही पड़ेगा! हम यहाँ आँखें टिमटिमाते देखते रहेंगे और वहाँ लोग बह जायेंगे! यों तो कितने गाँवों में कितने घरों के लोग बह गये होंगे! नाव के लिए कोई गया है?"

"ओफ़ः! क्या होगा! क्या करें?" बेचैन होकर छवि कहती जा रही है। कभी इसका मुँह देखती है, कभी उसका! आँखों से टप-टप आँसू बह रहे हैं।

"अरी जरा धीरज रख बेटी," पिता उसे समझा रहे हैं, "ऐसे पागल होने से

क्या होगा ? देखो सावधान रहना, पानी के पास न जाना। क्या वहाँ कगार से कोई चिपका है, जो ये विकल हो दौड़ रही है ? कगार धँसा तो मर जायेगी, बस जान लेना—"

छवि सुनती नही। कब तीर की तरह दौड़ जाती है घाई टूटने की जगहवाली धार के पास, आगा-पीछा कुछ नही सोचती। पहनी साडी उड़ रही है, सिर की चोटी खुलकर लहरा रही है। दौड़ जाती है, अवाक् होकर तट के नीचे से खड़ी होकर सामने देख रही है, बायें-दायें देख रही है। आँसू थम आये हैं। चेहरे को छू रही है नदी किनारे की हवा।

पीछे से कोई पुकारता है, "अरे—चली आओ—उधर मत जाओ—" बार-बार वही आवाज़ कानों के परदे से टकराकर पानी की 'घो-घा' बन जाती है। सामने वही दृश्य, धरती अदृश्य हो गयी है, सिर्फ़ पानी-ही-पानी ! मूँगिया आकाश —खाली।

परन्तु वह दृश्य नही देख रही, सिर्फ़ चेहरा टिकाये है। मन के अन्दर रूप देख रही है—सब कुछ उलट-पुलट करता तूफान गुज़र रहा है जैसे वैशाख मे झड़ एक के बाद एक आता है। घर की छान ऊपर की ओर कूद रही है। आकाश मे घनी पुआल की आग की तरह धूल, जगह-जगह छान से थोड़ी-थोड़ी जगह से पुआल उड़ने लगे, बाद मे और अधिक-अधिक। फिर छान उलट जाती, पेड़ उखड़ जाते, डाल टूट जाती, बिजली कौंधती, तूफ़ान झकोर जाता, क्या कुछ हो जाता। उसी तरह उसका सिर चकराता-चकराता उड़ा चल रहा है प्रलय। आदमी का ससार नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है। आदमी का कूल लोप हो रहा है। अचानक तूफान के आगे विराट् खुले आकाश की विस्तृति पर अकेली फड़फड़ाती नन्ही चिड़िया की तरह हाथ फैलाये छाती दिखाये रहने को बार-बार चेष्टा कर रही है। उसका स्नेह—सहानुभूतिमय मानवता। मानो सचमुच जैसे उस प्रलय के सघात से उसमे स्वय मे नशा भर गया है, उस हिले हुए दृश्य की ओट मे से दौड़ी आ रही है एक अनदेखे आकर्षण की खीचा-तानी। मन करता है कि वह भी चले उस प्रलय के अन्दर, जहाँ घर बह गये है, आदमी बहते जा रहे है, ससार उजड़ रहा है—उसी के अन्दर।

पीछे कन्धे को कोई ज़ोर से खीच रहा है, पिता हैं। उस टूटी घाई के तट के सिरे पर खड़े विराट् सिन्धु चौधरी बेटी के चेहरे को ताक रहे हैं। उसे यह क्या हो गया है। पागल की तरह ताकना, आँखो के कोयें काँप रहे है, वहाँ तूफान और बाढ़ चल रहे हैं, वहाँ प्रलय का-सा वेग है। नन्ही चिड़िया छटपटा रही है।

शान्त स्वर मे वे कह रहे है, "चलो आ बेटी ! चली आ। नया देखने पर ऐसे ही लगता है, सिर चकरा जाता है। यह बहुत भयकर है, चली आ।"

उसका हाथ पकड़ खीच ले जाते है।

चेहरा सिकुड़-सिकुड़कर होठ दाँतोतले भींचती छवि सुबक रही है—"गाँव-गली, घर-द्वार, पेड़-पौधे, गाय-गोरू···"

एक-एक का उच्चारण करती है। छाती उठती और गिरती है तेजी से। देह काँप रही है, "कहाँ गया, क्या हो गया···?"

उसकी वे छलछलायी आँखें, वेदना में रूपान्तरित करुणा का चुम्बकीय आकर्षण उनके शान्त-संयत चेहरे पर भी उसी भाव की तरगें फैला रहा था। दीर्घ श्वास रोक करके सिन्धु चौधरी कहने लगे, "जाता है फिर नया होकर लौट आता है। यही तो खेल है, आओ चलें।"

"खेल!"

"और क्या है? अपना खेल हम खेलते हैं। दैव अपना खेल खेलता है। तू क्यों इतना छटपटा रही है? देखना, कितने लोग जमा हैं। तेरा घर तो सूखा है, उनके घर गये। तब वे और करें भी क्या? जब जिसका जो होना होगा सो अपने आप हो जायेगा। पानी छूटेगा, जमीन से बालू हटायी जायेगी, घर खड़े किये जायेंगे, संसार रहेगा ही। चला जायेगा ऐसी बाढ़ में?"

मुँह सुखाकर बूढ़े गोकुलनाथ जोगी ने कहा, "गये। अपना भाग! भाग्य को कौन टाल सकता है?"

"और हम यों ही तमाशा देखते खड़े रहेंगे?"

"और कर भी क्या सकते हैं? हमारे रोके क्या वह रुकेगा? नाव आयेगी, खोजा-खोजी चलेगी। तब देखा जायेगा।"

भीड़ बढ़कर लोगों की 'हो-हा' के बीच सुनायी पड़ी, "नाव-नाव—वो नाव दिख—" सच दूर कोई अकेली नाव आ रही है। उस पर छान है। सुबह आठ बजे सूर्यास्त के बाद की तरह का जो प्रकाश पड़ रहा है उसमें एक-एक दिख रही है। लोग खड़े डाँड़ खे रहे हैं।

फूलशरा की नाव किनारे पर लगी। धोवेई मिश्र और उनके दल के लोग उतरकर आये। उधर से भीड़ कर पाटेली गाँव के लोग धार की तरह नाव की ओर बह आये, मानो जैसे स्वर्ग से ईश्वर के दूत आ पहुँचे हों।

लोगों के बह जाने की बात सुनते ही धोवेई मिश्र चौंक उठे। कहने लगे, "रोने का समय कहाँ? तेज स्रोत में कौन होगा कौन नहीं। हम तो हैं। जाना चाहिए, खोजना चाहिए।"

आनन-फानन में लोगों की सहायता के लिए बन्दोबस्त शुरू हो गया। कुछ चीजें उतार दी गयीं। धोवेई मिश्र और तीन माँझी—इन चारों को छोड़ बाक़ी लोग उतर पड़े।

नाव छोड़ने में थोड़ी देर है। छवि उतावली होने लगी, वह भी नाव में जायेगी। तर-तर जाकर नाव में बैठ गयी। आपत्ति करते-करते स्वयं सिन्धु चौधरी

जाकर नाव में चढ गये। चारों ओर काफ़ी उत्तेजना का वातावरण। सिन्धु चौधरी को लग रहा था मानो उनके पैर भी ज़मीन से ऊपर उठ रहे हैं।

लोग किनारे पर कह-सुन रहे है,—इस विपद् में बेटी को लेकर चौधरी खुद किधर निकल पड़े ?

"चले आयें—वे तो जा ही रहे है फिर आप कहाँ ?"

सिन्धु चौधरी प्रसन्न हो हँस पड़े।

नाव चल पड़ी। किनारे के लोगों में से एक ज़ोरदार 'हरिबोल' की ध्वनि उठी। आँखों से ओझल न होने तक वे लोग नाव की ओर देखते ही रहे। धीरे-धीरे उत्तेजना कम पड़ रही थी। चर्चा चल पड़ी—

"आज ही लौटेंगे तो ?"

"कौन जाने ? उफनती नदी की बात है···।"

"जो होना था, हो चुका होगा, जाकर किसे पायेंगे ?"

"सो कौन कह सकता है ? आदमी के वश की बात है चेष्टा करना, फिर···"

हुई सेठी धोबी ने कहा, "जो आता है उसे वहीं गोंद चिपक जाता है। देखो न, अर्पातिया, मागुणिया, सदा, चन्दरा—उन्ही की दीक्षा मे उनके साथ-साथ यों जुड़ गये है कि उनके साथ काम करते-करते अब लौटने का नाम ही नही लेते।"

बिका मुदुली ने कहा, "कितनी जगह तो फूलशरा की हवा लग चुकी है, एक साथ मिलकर रहने का लोगो का मन है। बाट-घाट में वही बात। थोडा-बहुत अपने गाँव में कही करते तो क्या बुरा होता ? करो, पहले मैं मिलूंगा—"

चेमेई बेहेरा ने कहा, "मैं भी।"

डम्बरू नाथ ने कहा, "अब तो बाढ फैल गयी, तेरा गया, मेरा गया—सबका बह गया। पानी हटने पर तो सब समान, मेड़-बाड़ कुछ नही रहेगा। तब साम-लाती चलन चला दें तो क्या हो ?"

बिका मुदुली ने कहा, "कर गये तो कर जाना, या फिर बस सोचते रहो।"

फूलशरा से आयी अयाचित सहायता का प्रभाव उनके मन पर पड़ा था। मन स्वतः उदार होकर फूल उठा था।

प्रायः दो घण्टे के बाद, सन्ध्या-आरती का समय हो आया। नदी में फिर कोई नाव दिखी। फिर ख़बर फैल गयी कि 'नाव आ रही है। नाव आ रही है !' लोग किनारे पर भरे थे।

उधर से नदी-ही-नदी मे बढो आ रही थी फूलशरा की नाव। सहायताकारी नाव के परिचय के रूप मे वह सफ़ेद पताका उड़ा रही थी। कतार में तीन जने खड़े थे। रवि, बई मलिक और जम्बू बेहेरा।

जम्बू बेहेरा ने कहा, "ये आ गया पाटेली गाँव। ओह ! कितनी बड़ी धाई

हुई है !"

रवि उधर ही देख रहा था।

यही वह गाँव था, यही रहती है छवि—वह विचार कर रहा था। समूह-के-समूह कितने लोग दिख जाते हैं। वह भीड़ में होगी ? यहाँ क्यों होगी ? फिर उसकी छाती दहलाती दीर्घ साँस बह गयी। बाढ़ घिर आयी है, चारों ओर दुर्दशा ! सब जगह जो, यहाँ भी वही—आदमी कुलबुला रहे हैं।

नाव आगे बढ़ गयी किनारे की ओर।

पाटेली गाँव की जोगी-बस्तीवाले जोगी रोहीनाथ और उसकी स्त्री दूल जब अपने घर की टूटी छान को जकड़े अँधेरे-अँधेरे बाढ़ में बहते चल पड़े, तब घबराहट में हक्के-बक्के होकर भला-बुरा सोचने की या अनुभव करने की शक्ति उनमें न रही। हृदय ने ध्रुव निश्चय कर लिया कि यही शेष है, इति श्री। आँखें खुली होने पर भी कुछ नहीं दिखता, जो कुछ दिख रहा है उसके अन्दर भेद नहीं पा रहे। टूटी छान उठती है, डूबती है, कितने धक्के नहीं खाती है। फिर खुलकर वह चली तीर वेग से। उस समय कुछ सोचते-न-सोचते उन दोनों में जीवन अपने को प्रकट कर रहा है—केवल एक चेतना में कि प्राणपण से इस छान को कसकर पकड़े रहना होगा, बन्दरिया की तरह चिपककर, जीवन की सत्ता बस इतनी ही।

कभी बरसा—तूफान घिरता, पानी छलाँगें भरता और साथ-साथ वह छान कब किस भँवर में पड़कर घूमती रही, बाद में हठात् वह चली। कभी रह-रहकर बिजली चमकती ! और कभी पानी फैला रहता, थमे होने की तरह। दूर आकाश को चीरने से पानी में झटक रहे थे कुछ तारों के समूह, और भी आगे-आगे, खलसा मछली की तरह ऊबते-डूबते, झुण्ड-के-झुण्ड, यहाँ देखा। यहाँ से जाकर वहाँ।

ऐसे चली जा रही थी वह छान। कभी किनारा पास आते-आते फिर दूर हो जाता, गति मन्द पड़ते-पड़ते अचानक उसे हवा लगती, तेज़ी के साथ फिर बह जाती। अँधेरे में पास-ही-पास दिख जाती कोई मेड़, कोई बाड़, रेखा की तरह कहीं दूर तक तटबन्ध, उस पर खजूर के पेड़, ताड़ के पेड़ क़तार-की-क़तार। कहीं पानी में खड़ा है बगीचा, बाँस का वन। साँय-साँय करती हवा बह जाती पेड़-पत्तों को झकोरे देती हुई। अँधेरे में नाना आकार-आकृति की काली-काली छाया के रूप के किनारे-किनारे दूर खड़े दिखते घने पेड़, गाँव का देवल—फिर सब गायब हो जाता।

छान बहती जा रही थी।

चैन दे रही है। ला रही है आशा, निर्भरता और विश्वास का एक जीवन, जीवन की चेतना। सचमुच जैसे निर्जीव रेडियो मे फिर बिजली फैल गयी हो, नाना भावों के नाना सगीत वहाँ कोलाहल कर उठे। ताजा भोर अभिवादन कर रही है, टीले की ढलान स्वागत कर रही है,रात और दु स्वप्न से पार कर ले आयी है वही अन-देखी शक्ति जो नन्ही चिडिया के लिए भी आधार प्रदान करती है, अरक्षित के लिए रखती है पेड की छाया।

गद्गद होकर रोही और दूल छान पर से तट की ओर कूद पड़े। सामने बाढ के पानी पर भोर फैली है। दूर-दूर तक घने बाग की लकीर दिख रही है। टीले पर पेड़ की डालों मे नाना ज्ञात की चिडियाँ बैठी हैं, गौरैया से लेकर गिद्ध तक। लम्बी टाँगवाला सफेद बगुला किनारे-किनारे भीड़ लगाये है। आदमी की छाया-बाया नही।

एक साथ दोनों के मन मे एक ही धारणा आयी कि 'हम जी रहे है। हम निरापद हैं।'

उस सौभाग्य की बात सोचते ही पहली प्रतिक्रिया थी—रुलाई। सच, जैसे सारे अन्तर मे कही खिचा था कोई तार, पहले झन्नकर चोट पडी, और फिर ढीला पडकर लटक गया, बाद मे उसने बह पडी आँसू की धार।

किसी कोमल शिशु की तरह वे परस्पर को आलिंगन कर फफक-फफककर रो उठे। कुछ समय यों ही चला गया।

इसके बाद दूल ने कहा, "चलो, अपनी छान को उठा लायें, वरना वह भी कही बह जायेगी···"

वज्रेश्वर टीला।

वहाँ वज्रेश्वर महादेव का बहुत पुराना ईंटों से बना देवल है। अतीत इतिहास के नाना चिह्नों के वहाँ नाना टूटे-फूटे ढेर है। अनेक मूर्तियाँ, मानो सच-मुच आधी पूरी मूर्तियों की खान है। पुरातत्त्वविदों का कहना है, ईंटोंवाला देवल कही छठी-सातवी सदी का है; उसी पुराने जमाने की ये मूर्तियाँ है। उस दिन से अबतक इतिहास की सीढ़ी-दर-सीढी नाना युगों की नाना शिल्पकला, नाना धर्म-मतों की नाना मूर्तियाँ यहाँ सहेजकर पड़ी हैं। इतना ही नही. उससे भी बहुत पुराने समय की। यहाँ बरगद के नीचे जो ऊँचाई है, कहते हैं, वह बौद्ध युग का कोई स्तूप रहा होगा। उसके आस-पास बौद्ध मूर्तियाँ मिलती हैं। उन्होंने आकर कहा कि यहाँ एक दिन कलिंग के समृद्ध इतिहास का जन्मगृह था। यही उसकी संस्कृति पनपी थी। फिर कही भूटान, तिब्बत, चीन, निपन, फ़िलिपाइन, सुमात्रा, मलाया,

चम्पा, कहीं फारस, मेडागास्कर, अफ्रीका, और सारे भारत में, हिमालय से कुमारिका तक, सिन्धु देश से कामरूप तक। देश-विदेश में फैली थी।

उस बार वे कोई आये थे। काले पत्थर की तरह सुन्दर सुगम उनका चेहरा और सिर। न वैसी गोरे, न साँवले, धनु की तरह भ्रू-लता, तैरती-तैरती-सी आँखें, उनमें कल्पना की लहरें हिलोर ले रही हैं, नासा फूल-फूल उठती है। चेहरे पर शान्त प्रौढता, यौवन का ताव नहीं। अति वार्द्धक्य की धूसरता नहीं, वही अवस्था जब चेहरा दिखता है जीवन पुती पत्थर की मूर्ति-जैसा, जैसे कि वह उसी तरह युग-युग के लिए रह जायेगा, बदलेगा नहीं।

तब छाया लम्बी पसरी थी, आम के पेड़ पर ढलती धूप झलमला रही थी, तुलसे के गाय चरानेवाले छोकरे, कराग की कठियारिन बाउराणी, अर्जंग के दो बटोही केवट गोविन्द बेहेरा और नाम बेहेरा—उनके हाथ में जाल की बुनायी का काम था। बच्चे स्वर के भोपा विकर्तन रुककर अवाक् उनके चेहरे की ओर देखते रहे, किस युग, किस राज का नाम वे कहते हैं वे नहीं जानते। केवल उनकी वह भंगिमा, उनकी वह भाषा भी उनमें माया की सनक लगाये देती थी, उनके साथ-साथ वे भी सपना देखते थे, कानों से टकरा रही थी उनकी गुन-गुन सपनों में भीगी-भीगी शान्त बातें, उस भाषा में सचमुच जैसे कोई संगीत था, और उड़ीसा के उत्तरी भाग की बोली की चिलक थी, जो मीठी सुनायी पड़ रही थी।

उन्होंने कहा था, "माटी को चाहिए ध्यान, ध्यान करने पर वह ख़ुद बता देगी, अपनी कथा और कहानी—क्या है उसका इतिहास। इस जगह की मिट्टी पवित्र है, वह इतिहास है, इतिहास। विश्वास रखो, मूर्ति भी बात कहेगी, उसे देखने की एक स्वतन्त्र भंगिमा होती है, आओ दिखाऊँ।"

एक क्यों, सारी मूर्तियों को एक जगह खड़े रहकर देखो तो लगेगा वह तुम्हारी ओर ताक रही हैं, हँस रही हैं, तब वो तुम्हें अपने दिल की बातें खोलकर कहेंगी, मन खोलकर कहेगी।

आये वे कौन थे? गाँव के लोगों को याद नहीं। परन्तु ख़बर फैल गयी थी। उनके बाद में और एक आये, सुन्दर चेहरा लिये लम्बे आदमी, लाल आँखें, लम्बी नाक, मठे का पंजाबी पहने, तब विकर्तन अकेला था। मुँह पर संबलपुरी उड़िया थी। पहले विह्वल होकर गद्गद स्वर में बातें कही थीं, और फिर रोये थे, विकर्तन की हड्डीली पीठ को सहलाकर वे बोले थे, "देखो विकर्तन, यही मेरे देश का श्मशान है, गजपति पुरुषोत्तम देव ने जिस दिन कृष्णावेणी नदी के कूल पर देह छोड़ी, उस दिन से मेरी जाति का गौरव-रवि अस्त हो गया है। और वह क्या उगेगा नहीं? बोलो, बोलो विकर्तन!" भोपा विकर्तन की लम्बी गरदन में मोटा टेंटुवा ऊपर-नीचे हुआ, बारम्बार, उसने गमछे के छोर से रूखा हड़ीला सूखा चेहरा पोंछा। "अब मेरे पास समय भी नहीं विकर्तन! गवेषणा—उसके लिए धन

चाहिए, उमर चाहिए। कौन देगा? और तुम, विकर्तन तुम्ही, इतिहास के वास्तविक सेवा करनेवाले तुम्हीं हो, कुछ नही तो, कम-से-कम जगह का नाम तो रखे हो, एक दीया तो जलाते हो, प्रत्येक उड़िया तुम्हारे प्रति कृतज्ञ है।"

अभिभूत विकर्तन कुछ सुनता इससे पूर्व ही जेब से पचहत्तर रुपयों का नोटों का एक वण्डल निकाल थमाकर कहा, "और कुछ नही विकर्तन, होता तो देता, विलायत, फ्रान्स, इटली में तुम्हारे जैसे के लिए कितना कुछ लोग उँडेल देते है। मैं देख आया हूँ। यहाँ शायद तुम दोनों वक्त पेट-भर भी नहीं पाते होंगे, माँड पी-पिलाकर कुटुम्ब का पोषण करते हुए इतिहास को बचाये बैठे हो।"

तब विकर्तन ने समझा था कि इस जगह की कितनी महान् महिमा है। अपनी कल्पना से उसने रची कितनी ही कहानियाँ, नाना मूर्तियों, नाना देव-देवियों के बारे में, जब उसे जैसा दिख जाता। कोई घोडे पर चढकर घूमता, किसी के पाँच सिर, कोई-कोई एक साथ मिलते। यों ही अनेकों कहानियाँ।

बाद में फिर और कोई बाहर का आदमी खोजने आया नहीं। उजाड जैसा था, वैसा ही रहा। मूर्तियाँ जैसी-की-तैसी पड़ी रहीं। कोई आया नहीं माटी के नीचे से उडीसा का इतिहास खोज निकालने।

कराग, तुलग, अर्जंग, जुआग, डगरासाही, सागेणा—इन सारे गाँवों के घेरे के अन्दर है मील-भर लम्बा-चौडा धान का चक। उसी के किनारे करांग और तुलग मौजे की ओर ढलता-सा यह टीला, आकृति में कछुवे की पीठ की तरह, कुछ लम्बा-सा होकर गोल, बीच में टोला। जमींदारी उठने की हवा लगते ही पिछली तारीखें लिख-लिखकर पावती काटकर जमींदारों ने बाग़-बाडी अनाबादी सबको पट्टा कर दिया, किस जमाने का बाग़ कटकर चला गया। तब खेती हुए बिना रह गया बस केवल बज्रेश्वर का टीला, उसके लिए कुछ हद तक दायी है महादेव के भोपा विकर्तन रणा की काल्पनिक कहानियाँ और लोगों के मन में धुकुड़-धुकुड़—कि जोत डाला और कहीं कुछ हो गया तो! इतने देवी-देवता, इतनी मूर्तियाँ है—कौन कह सकता है!

बीच में जहाँ टीला सबसे ऊँचा है, वहीं बज्रेश्वर का ईंटों से बना देवल है। टीले की धार से दिखता पर पेड़ों की ओट ठहरी, विशेषतः वही जो ख़ूब ऊँचा ख़ूब घनी डालवाला बरगद फैला-पसरा है उसी के कारण। बीस हाथ ऊँचा देवल, पर ईंट का बना हो, ऐसा लगता नहीं, किसने कितनी बार उसपर चूने-बालू के पुट लगाये होंगे, दिखता जैसे आजकल का साधारण पत्थरोंवाला मन्दिर हो। परन्तु वे प्रकाण्ड-प्रकाण्ड ईंटें, हाथ-हाथ-भर लम्बी, कच्ची थी तब गारे पर तुस लपेटकर ईंटें पकायी गयी थी, वैसे ही है जैसे सैकडों बरस पहले जब बनी थी, और फिर बनी नहीं। गर्भगृह के अन्दर पाताल तोड़ महादेव! कहते है जागर (शिवरात्रि) के दिन स्वतः क्षीरस्नान होता है। बाहर केवल की देह में जगह-जगह पर

आले, उनमें काले पत्थर की आश्चर्यजनक सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ, विस्मय में भर देनेवाला वह भास्कर्य।

वो पास ही शिव-पार्वती। महादेव का बायाँ पैर मुड़ा हुआ है, दाहिना नीचे झूल रहा है। बायीं जानु पर विराजमान हैं पार्वती, दाहिनी मुड़ गयी है। बायाँ नीचे झूल रहा है। दोनों बैठे हैं खिले पद्म-फूल पर, दोनों के पैरों में खड़ाऊँ। कित चमत्कारपूर्ण ढंग में परस्पर को देखते बैठे हैं, कितनी सजीव भंगिमा है, कितनी भावमय! कैसा शोभन है वह रूप, कितने सूक्ष्म शिल्पमय हैं उस देह के आभूषण! आसन के नीचे सिंह और वृषभ मैत्रीपूर्ण भंगिमा में देखा-देखी कर रहे हैं।

पास ही कार्तिकेय। काले पत्थर पर चन्द्रिका खुदी है, मयूर देख रहा है। उसके दोनों ओर दो पैर झुलाये घोड़ा चढ़ने की तरह कार्तिकेय योद्धा-वेश में बैठे हैं, दाहिने हाथ में तलवार है।

अगले आले में गणेश, यहाँ पेट प्रधान नहीं, प्रधान है उनका ऊँचा मुकुट, नाना कलाकारी से खचित, पेट मोटा नहीं, पर छाती चौड़ी है, हाथ में लम्बा फरसा।

एक जगह सिंहवाहिनी बारहभुजा दुर्गामूर्ति, चिकना काला पत्थर। सीधी तनकर बैठी है। चौड़ी नासा, तीखी नाक, गोल चेहरा, छोटी चिबुक। सिर पर तीन वेणियाँ। छाती पर रुद्राक्ष की माला लटक रही है। एक दाहिने हाथ में सिर पर खाण्डा टिकाये हैं। एक हाथ में त्रिशूल, एक हाथ में गदा, एक में धनु, एक में ढाल, एक में घण्टा, एक में तूणीर, एक में पद्म, एक में सर्प और एक में कमण्डलु धारण किये है। सिंह महिषासुर को दबोचे बैठा है।

सावित्री-सत्यवान्, चतुर्मुख ब्रह्मा, चतुर्भुज विष्णु, किरीटवन्त सूर्य, नाना वाहनों पर चढ़ी मातृकाएँ, किसी का चेहरा सिंहमुखी, किसी का वराह, कोई किशोरी, कोई वृद्धा, किसी का वाहन मेढक, किसी का सुग्गा, किसी का मगर, किसी का सियार, तो किसी का वाहन बत्तख है, किसी का मृग, किसी का मुर्गा, किसी का सिंह, किसी का कच्छप, किसी की मछली, किसी का भेड़ा, किसी का हाथी, तो किसी का वाहन शव है। किसी के हाथ में वीणा, किसी के हाथ में टूटा छाज, किसी के प्रकाण्ड घट, किसी के हाथ में साँप लिपटा है, फन फैलाये है, कोई खड़ी है मूतिक पर, हाथ में धनु धारे गुण तान रही है, अत्यन्त सुन्दर स्नेह से भरपूर चेहरा। कमर से नीचे की ओर पतली सूत-सी, अत्यन्त बारीक साड़ी, कमर से ऊपर खुला है। हाथों में चूड़ियाँ, बाहु में कण्ठी, गले में पतले-पतले हार, कानों में बड़े-बड़े गोल फूल लगे हैं, सिर पर अनेक मालाएँ, और माथे में बड़ा-सा जूड़ा बना हुआ, जो एक ओर तनिक ढुलका-सा लग रहा हो, एवं उसके नीचे फूल की पखुड़ियाँ। सबकी आँखें अधमुँदी-सी दिख रही हैं, चेहरे की भंगिमा शान्त, प्रसन्न, अति सुन्दर है। देवल के आलों में भरने के बाद अर्द्धचन्द्र की तरह उसे घेरकर मूर्तियाँ सजी

रखी है।

देवल के बाहर टूटी ईंटों की कुरी। कहते हैं वहाँ चण्डघण्टा देवी का मन्दिर था, काले पत्थर की प्रकाण्ड वैष्णवी मूर्ति एक जगह रखी है।

और भी विचित्र है वह बरगद की जड़। वहाँ नाना प्रकार की मूर्तियाँ। भूमि-स्पर्श मुद्रा दिखाते पद्म पर बैठे हैं, वज्रधर, वरद मुद्रा में तारा, अनेक बुद्ध मूर्तियाँ, वहाँ सूर्य की मूर्ति है, शख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज रूप में प्रकाण्ड माधव मूर्ति, विशाल काले पत्थर पर शेषशायी अनन्त शय्या विष्णु की मूर्ति। पाद तले लक्ष्मी बैठी चरण दबा रही है, सिरहाने काले पत्थर के वासुकि का फन, छाते की तरह सात हैं। उनपर पृथ्वी। भोपा विकर्तन ने पिता से सुन-सुनकर याद रखा था, कहता—

"सात फन सात नीति के हैं, उनपर वासुकि मारे ससार को सँभाले है, उन सातों में से एक भी न हो तो ससार को उठाकर रखना सम्भव नहीं होगा, वह डगमगा जायेगा। अभी कलयुग में सातों-के-सातों हीनबल है, अतः ससार में शान्ति नहीं।"

डेंगू, हड़ीला विकर्तन रणा, पान खाता नहीं, दाँत गाय के हाड़ की तरह, सिर में पीछे की ओर थोड़े-से बाल, उनमें एक लम्बी-सी चोटी, गड्ढों में धँसी आँखें, माथे पर लकीरों के पास गोल चन्दन का टीका, फफूँद सूखे बाँस की तरह दोनों बाँहें। जैसे-तैसे अपना नाम लिखना-भर जानता है। बरगद के आगे जो ढूह है उस पर बैठकर गायों के रखवालों को या पत्तर बीननेवालों को या खेतों से लौटते हारे-थके धूल-पसीने से भरे किसानों के आगे वह वासुकि के फन का तात्पर्य बखानता। कहता, शास्त्र कहते हैं—

"गोभिः विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादीभिः।
अलुब्धैः धर्मशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही।"

आश्चर्यजनक तरीके से बिलकुल शुद्ध सुनायी देता उसका उच्चारण, बस उसमें वह सकीर्तनिया स्वर का सयोग-भर करता। मूर्तियों की ओर हाथ दिखाकर कहता, "वो देखो, सब पत्थर हो गये। किसी का और मुँह नहीं खुलता। उनपर चिड़ियाँ बीट करती है, सियार हगते है, बाम्बियाँ उठ रही है, धूप-बरसा खाकर माटी से चिमटे पड़े है। और अब करें भी क्या, घोर कलजुग जो आ गया!"

श्रोता सिर हिलाते, औरतें दीर्घ साँस छोड़ती। भोपा विकर्तन की आँखें चमक-कर धुंधला जाती। कहता—"गोभि.—अरे गोचर मैदान को तो सारा खेत कर डाला, इधर उड़द का भाव हो गया रु. का पाँच पाव, सेर-भर। गायों का हाड़ का ठट्ठर-भर रह गया। इधर बस इजेक्शन भिदाते रहो, लाते रहो पजाबी साँड़, और अब कैसी गोभिः रे! विप्र हो तो गये विकर्मा। पढाई कर बन गये बाबू, कि खाट के तले टोकरी में अण्डे भरे होंगे, कर्म में जो रहे उनके पेट-भरन की पूछता है कौन?

वेद तो छुप गये, उसके बदले आया है यह विदेसी वेध (उलटा) पाठ, सतीं बिगड़ेंगी। जगन्नाथ दास (उड़ीसा के प्रसिद्ध भागवतकार कवि) ने कहा है, असती सिर उठायेंगी। सत्यवादी की तो बात छोड़ो, सब सत्यवादी बनेंगे। अलुब्ध कौन रहा, जिसे देखो ठाकुरजी को खाकर उनका खटोला भी निगलने को तैयार। धर्मशील होने का नाम बढा। और अब वासुकि को क्या गरज पड़ी है! जाये यह डूबे, डूबेगी तभी सत उपजेगा।"

विकर्तन का सूखा पेट पीठ से सट जाता। धक-धक पेट की चमड़ी उठती-गिरती। बूढे बैल की तरह उसकी छाती, बड़े-बड़े हाड, पंक्ति-के-पंक्ति, उनपर धूसर चमड़े का आवर्तन लुहार की धौंकनी की तरह उठती-गिरती। विकर्तन उसी जंगल, पत्थर, रास्ते, धान के खेत में श्रेणी-उमर-ज्ञान निर्विशेष से श्रोताओं को सुनाकर अपने मन की कहता—

"इतने देवी-देवता है कि उनके मुंह में दो बूंद पानी देने के लिए एक अंगुल जमीन नहीं! वज्रेश्वर। पूजा करने पर बहू का चूड़ा वज्र का हो जाता है, आदमी का भाग वज्र का होता है। कौन नहीं जानता? साक्षात् देवता! पुकारो तो हाँ करते हैं। इतनी जमीन थी, कहाँ गयी? कहे, किसकी जीभ में हाड़ है? इतनी दूर से भोपा आयेगा, क्या उसके बाल-बच्चे खायेंगे? छोड़ो, हमारे पितृ-पुरुष सेवा करते थे, कोई पूछे या न पूछे, हमारा काम हम कर जायेंगे, जीते-जी कैसे देह सहेगी?"

जमीन में पानी देने के लिए कुआँ खोदते समय अनेक खप्पर, ठीकरे निकलते हैं, लवनी लिपटे होने की तरह उसपर चमचमाता पुट। निकलते हैं माटी से बने सुन्दर-सुन्दर अलंकार। प्रवाल, नीले लाल पत्थर की कण्ठी, हाथीदांत की मुंदरी, पुराने जमाने के तांबे के कलसे। कितने ही कुओं के तले दीवार पड़ जाती है। किसी-किसी ने सोना भी पाया है। एक जमीन का नाम है कविद्रोह, एक विराट् वापी का नाम अमात्य वापी, वैसे ही यहाँ साधव खेत है, राणुक सर है।

इस टीले पर नाना ओर से चुन-चुनकर मूर्तियाँ लाकर किसी ने एक जगह बरगद के नीचे लुढ़का दी हैं। जगह-जगह और भी कई हैं। कितनी टूटी-फूटी, खण्ड-विखण्डित। कितनी ही काले पत्थर की मूर्तियाँ पानी की चोट खाकर घिस गयी हैं, फिर भी उनपर है चेहरे की गम्भीर छाप, अंगभंगिमा के लालित्य की। किसी के ऊपर पेड़ की जड़ें फैल गयी हैं, सबपर लगी है काई, फफूंद, थोड़ी-बहुत स्याह-स्याह-सी छाया, बीच-बीच में चूने का पानी छोटने की तरह दिख जाता है। कितनी मूर्तियाँ ढँकी पड़ी हैं, उस काँटों की झाड़ियों तले, माटी-पत्थर तले।

युग-युग से एक मत पर दूसरा मत थोप देने की चेष्टा कर अपनी-अपनी रुचि और धारणा को मूर्तिमन्त करते हुए लोगों ने स्वरूप आरोपित किया था, हिन्दुओं पर बौद्ध, शैवों पर वैष्णव, सबके ऊपर शक्ति, और ने ढाँपे हैं मुरमुट।

माटी फैल गयी है।

सुनसान। कोई आता नहीं इधर। कभी कोई, अगर किसी का जी किया तो मनौती करने आता, किसी गाँव में रोग का सिलसिला शुरू होता तो यहाँ चलता ठाकुरजी के आगे उद्बोधन, देवी का पूजन। गले में ढोल डालकर ज़मीन की छोटी पगडण्डियों, खेतों की मेड़ों के रास्ते बजानेवाले आते हैं, बाजा 'ढाँव-ढाँव-ढाँव' बजता है, फिर चुप हो जाता है।

और आज—

खेतों के ऊपर अकूत पानी, करांग के पास बज्रवाण नदी में घाई टूटी, करांग और तुलग तो एकदम धुल-पुंछ गये, भोपा विकर्तन ने करांग से भागकर आश्रय लिया आइतलग में। घाई के टूटने पर सारा पानी एकत्र आकर मिल गया, बर्चेश्वर का टीला बन गया एक छोटा-सा द्वीप।

देवल के पिछवाड़े में पुराने अमरूद के पेड़ आठों-के-आठों फलों से लदे हैं। चम्पा के फूल खिले हैं, लम्बी-लम्बी कलियाँ अँगुली की तरह, हाथीदाँत के वर्ण की श्वेतचम्पा, तपाये हुए सोने के रंग की कनकचम्पा। एक बूढ़े आम के पेड़ में बूढ़ी मालती लता लिपटी पड़ी है, कुछ-कुछ फूल खिले हैं। बेल के वन में नागेश्वर का पेड़ सघन पत्तों से आच्छादित है। चारों ओर से तैरती आती है मीठी-मीठी केवड़े और केतकी की मोहक गन्ध। देवल के आगे खुली जगह के कुछ उधर काठचम्पा के अनेक पेड़, फूलों से लदे हैं।

फूल, पत्ते, पुराना देवल, टूटे-फूटे अवशेष, उधर झुरमुट। एक जगह में महाद्रा-सा कुचला का पेड़। चिड़ियाँ हलचल मचा रही हैं। बर्चेश्वर का टीला पानी में तैर रहा है। वहाँ दो आदमी—रोहीनाथ और दुली।

अमरूद खाकर पेट भर चुके थे। दिन तमाम धूप-ही-धूप में कट गया। रोही और दूल पानी के किनारे खड़े होकर देख रहे थे। धूप के ताव में पानी दिख रहा था झिलमिलाता, आँखें चुंधियाँ जाती। ग़ौर कर रहे थे, शायद कोई नाव जाती हो। सिर पर गों-गों करता हवाई जहाज उड़ गया। सुबह देखा, तनिक दूर से एक नाव निकल गयी, बहुत तड़के पुकारते-पुकारते गला फट गया, आवाज़ नहीं पहुँची, फिर भी आशा बलवती हो गयी थी।

बाद में जब समय चढ़ गया था, एक और नाव तब दिखी थी, अबकी उतनी दूर न थी, पर सीधी बढ़ रही है ठीक बाढ़ के बीचों-बीच। प्राणप्रण से रोही और दूल ने आवाज़ लगायी—"हो ओ ओ ओ!···"

उनकी पुकार नाव से टकरायी है। नाव की गलही मोड़ी। प्रतिध्वनि की तरह नाव से भी आवाज़ गूँजती आयी। वे आ रहे हैं। हाथ पटक, आवाज़ कँपाती दूल अस्थिर हो उठी। न, अब और कोई चिन्ता नहीं। गद्गद होकर रोही रो पड़ा, "गोरख ने हमारी गुहार सुन ली! सुनार के घर सीसा तपाकर पीकर पार कर

गये ! अष्टांग साधकर सिद्ध हुए थे । अनकटा-अनबँटा उनकी आज्ञा से पक रहा था, वे उसे खाते थे । सब कुछ छोड़ पवन आहारी होकर अजर-अमर हुए थे। उनके लिए कौन-सी बात अनजानी है ! तनिक दृष्टि पड़ते ही वारिधि में बाँध खड़ा हो जाये । सब उनकी ही दया है, उनकी ही महिमा !" विपद् से उद्धार पा रहे हैं---यह सोच कृतज्ञता उपजी अपने आदिगुरु गोरखनाथजी के प्रति । उनके मन में वही उस समय अदृश्य भगवान् का प्रतिरूप था ।

यह क्या हुआ, "अरे देख, दूल, नाव ऐसे क्यों हो रही है ?" कलबल होकर हकबकाकर रोही उधर देख रहा था। झटाझट नाव बढ़ती आ रही थी । लम्बे-तगड़े चार नाविक डाँड लगा रहे थे । आगे सिरे पर बूढ़े मंगुवाल के पास खड़े थे दो जन । टीले के पास आते-आते अचानक नाव ने कहीं ज़ोरदार धक्का खाया । दोनों नाविक छिटक पड़े । बहाव के ज़ोर से नाव एक घेरा घूम गयी और पीछे की तरफ खिंच गयी । बाद में तैरते-तैरते दोनों माँझी नाव पर चढ़े । फिर अपनी-अपनी जगह पर खड़े हो गये । उद्वेग बढ़ गया, सिरा खींचना, पतवार से ठेलना, बहाव के साथ जी-जान से युद्ध । नाव फिर रास्ते पर आ गयी । फिर टीले की ओर बढ़ चली, अबकी दूसरे रास्ते से, अब उसकी गति सीधी न थी । घायल पंख लिये चिड़िया के उड़ने की तरह, तिरछी होकर, हिलती-डुलती, घूमती-फिरती ।

पानी में छुपा था कोई सीधा खड़ा बड़ा-सा काला पत्थर, उसपर किसी ज़माने में कोई पुरुष मूर्ति खुदी थी । मानो पुरुष पत्थर से निकल पड़ते-पड़ते ठहरकर खड़ा हो गया है, वैसे-का-वैसा । किसकी मूर्ति है उसकी कोई जानकारी नहीं। कोई कहता वे नन्दी है, कोई कहता वे कोई ऋषि हैं, कोई कहता वे बर्जेश्वर के पहरेदार है । परन्तु बहुत दिनों से लोगों ने उसपर सिन्दूर पोतना शुरू कर दिया, परत-की-परत । उनका कहना है कि वह ज्वर का देवता है जिसकी पूजा करने पर ज्वर छूट जाता है । उस सिन्दूर के नीचे कोई जूड़ी के रोगी का रूप है, सिर के बाल फर्र-फर्र सूखे-रूखे । आँखें और गाल गड्ढों में धँसे, पतले-पतले हाथ-पैर, पेट फूला-फूला-सा । सच जैसे वह ज्वर से काँप रहा है, रोम खड़े लगते है उसके। जगत्-भर का ज्वर उसने अपनी देह में लेकर सबको अभय दान दिया है ।

फूलशरा की नाव उसी ज्वर देवता की देह से ढाँय कर टकरा गयी थी। क्षतिग्रस्त हो गयी थी, उसमें पानी घुस रहा था । उसी नाव में रवि था । नाव किनारे पर लगी । वे सब उतरकर जल्दी-जल्दी काम में लग गये । चीजें बाहर निकालकर रखी गयी । दो जन अनवरत चेष्टा करते रहे नाव से पानी निकालने की, वे पानी फेंक रहे थे । एक जगह छेद हो गया था । ठक-ठाक ठक-ठाक पट्टे की तली लगाकर काम शुरू हुआ । तेज़ हाथों से निधि रणा माँझी का काम करता जा रहा था ।

कुछ समय गया । सूरज फिर ऊपर झुक आया । बाढ़ के पानी पर लाल आभ

आँखों की ओर। वह विभोर हो गया, अवश हो गया, सलज्ज हो गया। उसने सिर झुका लिया।

फिर सिर उठाया तो देखा, छवि उसकी प्रतीक्षा कर रही है। इतने लोग रुके हुए है, इतनी बातें पड़ी हैं, पर छवि उसी की प्रतीक्षा में खड़ी है। उसकी ध्वनि मे श्रद्धा, आँखो में कुतूहल, मुसकान भरकर शान्त-धैर्य दिखाती वह प्रतीक्षा में खडी है कि रवि शायद कुछ करने को अभी कहे, वह कोई आदेश देगा, सो उसके मुँह की ओर इसी प्रतीक्षा मे देख रही है।

उसी के अपने व्यक्तित्व में से एक खण्ड है यह—छवि। अपना वही अधूरा अश पूर्ण करेगा केवल उसी के द्वारा, तब वह शान्त होगा, सब जैसे उसी खण्ड को खोजते-फिरते यहाँ उसका सन्धान मिल गया हो, अतः उसकी दृष्टि वहाँ चिपक गयी है।

उसे लगा, यहाँ काम चल रहा है, वह खुद भी उस काम को कर रहा है, हाथ का काम, उपदेश। कितने हलके मन से वह बातें कह पा रहा है! मानो इस वर्तमान में कोई उत्तेजक बलकारक औषध खाकर हुलस उठा है। अत्यधिक आनन्द, उत्तेजना। परिस्थिति अति रुचिकर हो गयी है। उसकी दृष्टि और भी सतेज और प्रफुल्ल है, उसके भावो में और भी उदारता है, स्नेह और सहानुभूति है। क़दम उछलते-से पड़ रहे है। उसके उत्साह से सब भर उठे हैं। वह कह रहा है—

"बाढ़ का प्रकोप प्रबल होता है, पर आदमी की शक्ति उससे भी बढ़कर है, जीते जी वैसी कितनी ही दुर्दशाएँ भोगनी पड़ती हैं, आख़िरकार तो मरण है ही; परन्तु, आदमी जब स्नेह से मिलकर एक होता है, मरण भी उसे डरा नहीं सकता फिर नदी की बाढ़ कौन-सी बड़ी बात है?"

धोबेई मिश्र ने हँसते-हँसते कहा, "उसी स्नेह के मेल से मुट्ठी मजबूत कर बाढ को भी छान-छानकर आदमी खोये-भटके लोगों को यहाँ खोज पा सका है, नही तो इतना भाग्य हमारा होता!"

रोहीनाथ ने हँसते-हँसते कहा, "भाग्य सारा तो मेरी इस घरवाली का है। पता नही इसे किसने आशीष दी थी, कि तेरी चूड़ी वज्र की हो, पत्थर की लकीर की तरह उसकी बात अटल रही, वैसे की वैसी ही रही, नही तो बाढ़ के पानी में हम दोनों पता नही कहाँ पहुँच जाते, और इतना बड़ा भाग्य होता कि हम लोग इन लोगों के दर्शन करते!"

रवि ने कहा, "वो देखो अब साँझ घिरने को आयी। चलनेवाले लोग अब अपनी नाव मे बैठे है, चले जायें। हमारी नाव को रात मे रुकने के लिए कहा गया है। नाव के साथ मैं भी रुक रहा हूँ। हम सब कल सुबह जायेंगे।"

धोबेई मिश्र ने कहा, "आधे जाकर आधे रहेंगे, यह कभी हो सकता है,

जी ?" अनेक औरों द्वारा आपत्तियाँ उठने लगीं—"नहीं-नहीं-नहीं !"

धोवेई मिश्र ने मुड़कर सिन्धु चौधरी की ओर देखा। कहा, "नाव में आप चौधरीजी पधारें, आपकी कन्या जायें, यहाँ जो ये दोनों जने मिले है, वे भी जायें, गाँववाले और जो लोग जायेंगे जाये। नाव उन्हें रातों-रात पहुँचाकर फिर सुबह कल लौट आयेगी। तब हम सब जायेंगे।"

किसी ने जब कुछ न कहा, सिन्धु चौधरी ने आपत्ति की, "नहीं, सब रहेंगे, हम भी ठहर जायेंगे।

रवि और धोवेई मिश्र ने आपत्ति की, पर बाकी लोगों ने सिन्धु चौधरी की बात का समर्थन किया। आखिर यह तय हुआ कि सब रुकेंगे। छवि अबतक चुप थी। धोवेई मिश्र की ओर मुँह कर बोली, "क्या सिर्फ हम ही लोगों के लिए इतने लोग हड़बड़ी करते। इतने निकम्मे हैं हम !"

सब हँस पड़े। धोवेई मिश्र ने कहा, "नहीं, नहीं, यह किसने कहा ? ठीक है, आपकी ही बात रहे।"

हँसी-खुशी में सब बिखर गये। साँझ ढलते-ढलते, रात के लिए तैयार होना पड़ेगा। उधर नाव की मरम्मत करनी है। चल रही है निधि रणा की खटा-खट खट-खट। नाव के पास कुछ लोग रह गये, बाकी सब निकल पड़े टापू देखने के लिए। भोपा विकर्तन नहीं है, उसका काम किया रोहीनाथ और दूली ने। सच जैसे कि यह टापू इन दोनों के ही राज्य का है, और ये जितने लोग आये हैं सब इनके मेहमान हैं।

वज्रेश्वर के ईंट से बने देवल के सामने जहाँ कितने जमाने पहले की मूर्तियाँ सजावट की तरह रखी पड़ी हैं, वहाँ एक-एक मूर्ति देखने-दिखाने में लग गये दोनों लम्बे आदमी। आश्चर्य करने की, प्रशंसा करने की नाना आवाजें आने लगीं।

हर-पार्वती की मूर्ति को देखकर कुछ लोग पंक्ति बाँधे खड़े हैं। दोनों सिरों पर उस अद्भुत मूर्ति को कोने से देखते-देखते रवि और छविकी निगाहें मिल गयीं। छवि दीर्घ साँस छोड़कर काँप-सी उठी, सिर झुका लिया। रवि की देह में सिहरन-सी दौड़ गयी।

बई मलिक ने कहा, "यह देवता का योग सूत्र है। किस जमाने से यों ही पड़े हैं, आज हम यहाँ दीप जलायेंगे।

रवि ने कहा, "पुराने पीठ पर दीप जलेगा नयी दुनिया का, यही तो हमें चाहिए। तुम जीवन की शालीनता को, बड़प्पन को, पत्थर पर शिल्पकला के रूप में आँककर चले गये। तब वास्तव में अपने जीवन में, समाज में, कहाँ तक तुम उसे साध सके थे—यह तुम ही जानते हो। पत्थर पर इतनी बड़ी कला खोदने की, आँकने की हममें शक्ति नहीं। हम खोजते है कि आदमी का जीवन ही सुख-शान्ति आनन्द उच्चादर्श की चिरन्तन कला हो, समग्र पृथ्वी हो जाये एक विराट् मानव-

परिवार, सब आदमी भाई-भाई—"

धोबेई मिश्र ने कहा, "ठीक, बिलकुल वही बात है। तुम्हारा देवल ढह गया है, सामलाती घर टूट गया है, सौ-सौ हजार-हजार बरस पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस ससार मे बिताकर जिस महान् सत्य को आविष्कार कर रख गये तुम, अपने उत्तर-कालीन वशधरो के लिए, वह सत्य कही धूलि में खो गया है। केवल हिंसा, वाद-विवाद, स्वार्थ, 'मैं-पन' रहा। हमारी इस छोटी-सी बाती को आशीर्वाद दो, बल दो, साहस दो। शान्ति आये, आदमी मे, अन्दर-बाहर, समाज मे, ससार मे—सब जगह भरी रहे शान्ति, समन्वय, आनन्द और भाईचारा—"

लम्बा दधि अहीर अपनी देह को कन्धो को उचकाये मानो ख़ुद को खीच-खीचकर और लम्बा-सीधा कर खडा हो रहा है। दोनो पैरो को सटा दिया था, उसके गोलमटोल चौड़े कन्धे मानो आदमी के नही, पत्थर की मूर्ति के है। वैसे उस पत्थर की मूर्ति की तरह उसकी दोनो आँखे अधमुँदी टिमटिमा रही है। गद्गद होकर उसने कहा, "हूँ, इतनी दया करे ठाकुरजी, भाईचारा बढ़े, सामलाती बढ़ता रहे, एक के लिए दूसरे का हृदय रोता रहे। सब तुम्हारा, सब सबका, तेरे-मेरे के भेद-भाव की बाते आदमी के मुँह ही क्या सिर मे भी न रहे।"

रवि ने कहा, "लोग खोज रहे हैं हजार देश, हम खोजते है सिर्फ़ एक। उसका नाम है पृथ्वी। लोग बना रहे है हजार-हजार जातियाँ, हम खोज रहे है सिर्फ एक जाति, उसका नाम है मानव-जाति। गढी है असख्य श्रेणियाँ, हम खोजते है सिर्फ़ एक श्रेणी रहे, उसका नाम मेहनतकश आदमी!"

गम्भीर होकर सब खडे हैं। सिन्धु चौधरी ने खड़े-खड़े आँखे मीच ली है। अन्तर मे जैसे कुछ हो गया है। बरसों मे पायी गयी अनुभूति के पत्थरों के ढूह को हटा उलट-पलटकर उच्छरित हो रहा है मुक्ति पाया हुआ झरना। कितनी बार वह पुकारते-पुकारते रुक गया था, खुल गया है। स्वय को आँक रहे है, नये विस्मय के साथ।

ऐसे तो स्वयं में आया था आलोड़न, क्या तब उसे रोक सका था?

क्या हो गया है यहाँ? कौन है ये लोग? किस युग के है? कौन बोल रहा है?

न, यह कोई उपासना है? नये युग की नयी पूजा?

आँख खोलकर देखा। सूना द्वीप, दिन ढलने की उदासी-सी। रोशनी मे आगे खड़े हैं घने पेड, और भाँति-भाँति की मूर्तियाँ पड़ी हुई हैं। बगल मे पेड़ो के झुरमुट के बीच एक मन्दिर है।

और साधारण से कुछ-एक लोग हैं।

उसी साधारण में से कुछ फूट निकल रहा है, अतीत के इतने युगो की तपस्या से तैयार आदमी, वह जीवन की बड़ाई करता है, जड़ की नही। स्नेह-शान्ति-

आनन्द-मैत्री की बड़ाई करता है, स्वार्थ और प्राप्त की नही। ये तो चल ही रहा है, और भी। धोवेई मिश्र कह रहे है, "किसने कहा था कि आदमी पहले पशु है फिर देवता। उसने गलत कहा था। किसने कहा था कि स्वार्थ, लोभ और हिंसा आदमी के निदान गुण है, दबे रह सकते है, मरते नही, मिटते नही—उसने ग़लत कहा था। आदमी बदलता-बदलता चल रहा है, दस्यु रत्नाकर हो गया है ऋषि बाल्मीकि। राजपुत्र हो गया है बुद्ध, युग-युग के सिद्ध सन्त बनकर आदमी ने दिखा दिया है कि यह भी सम्भव है। काँटेदार नागफनी अकण्टक हो सकी है। आदमी ज्ञान मे बढ़ता ही चला जा रहा है, मारण के लिए नही, तारण के लिए।"

फिर सिन्धु चौधरी ने आँखें मीच ली।

छवि देख रही थी—आग धधक रही है। जलाकर साफ किये दे रही है—जो कुछ कुसस्कार था, सकोच था और शका थी। आग की झलक मे अनुभव कर रही है पवित्रता, आनन्द, अनुभव कर रही है कि वह एक अखण्ड तेज का स्रोत था, है, बढता चलेगा, युग-युग तक।

हृदय के भीतर से आनन्द छलछला उठता है, झलक उठते है विश्वास, आशा और स्नेह। पहले जो रास्ता साँझ के अँधेरे झुरमुट मे अस्पष्ट दिख रहा था, वह स्पष्ट दिख जाता है—चौडा, खुला, दूर तक चला गया है। उस रास्ते की भाषा हृदय से टकरा रही है। उद्वेग भर रही है, लुभा रही है।

वही भाषा बोल रहा है रवि। वह रवि की बात नही, उसी के मन की बात है, उसके मर्म भावों का निरन्तर स्रोत।

रवि कह रहा है—

"ससारी आदमी आनन्द खोजता है। अपने हाथों आनन्द के स्रोत का मुँह बन्द कर देता है। जब वह अपने-अपने लिए खुद सख्त खोल गढता है, चारो ओर से बन्द कर गढ़ता है, तो वह पाता है अन्धकार। प्रकाश नही तमिस्रा। अपनी देह को, मन को, श्रम को, चिन्ता को सबका मगल साधने के लिए उद्यम मे लगा सके तो उसका जीवन होगा मधुमय, आनन्दमय, शान्तिमय—"

धोवेई मिश्र ने कहा, "आनन्द हमारा जन्मगत अधिकार है, आनन्द के लिए *उपाय, दूसरों के मगल के लिए चिन्तन और परिश्रम।* पुराने चलन को केवल पुराना होने के कारण आदमी उसका सम्मान नही करेगा। नये चलन को नया जानकर ही उसका आदर नही कर सकेगा। वह सोचेगा, स्थिर करेगा, काम करेगा, पुरानी क्यारी में स्वतः नया शस्य अकुरित होगा, उसी का नाम युग-परिवर्तन है। विचार हो विप्लवी, बुद्धि जो निर्देश देगी, हाथ केवल वही काम करेंगे—"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "तुम्हारा आदर्श अक्षय हो, बेटे! तुम्हारा उद्यम सिद्ध हो। बुद्धि ने निर्देश दिया है बारम्बार, परन्तु हाथो ने काम किया नहीं।

पैर चले नहीं। हम युगों के बाद युगों तक निरन्तर न्याय, नीति, तत्त्व की खेती-करते-करते पसीना-पसीना हो रहे हैं, मुंह थक चुका है, घास के एक पत्ते को भी निराया नहीं। मेरा जीवन क्या है—अपने इस निठल्ले बेकाम उजड़े जीवन के बारे में उपसहार के रूप में बस इतना ही कहूँगा—।"

उनकी इस आन्तरिकता से सब अभिभूत हो पड़े थे। उनके पास जाकर उनका हाथ पकड़कर छवि ने धीरे से कहा, "बापू !"

गम्भीर विषण्ण चेहरे पर हँसी खिलाकर कहा, "क्या हुआ बेटी ?" उनका स्वर काँप रहा था।

छवि ने कहा, "ऐसा क्यों कह रहे हो, बापू ?"

"क्या कहा ? ठीक ही तो कहा।"

अबकी बार बोला रोहीनाथ, "आपका जीवन अगर बेकाम रहा तो किसका जीवन काम का रहा, साआन्तजी ? सात खण्ड के गाँवों में, पूछ लें, कोई दूसरी बात कहेगा ? किसी के घर पर अशान्ति पैदा होने पर आपके मुख से दो शब्द सुनकर हृदय शीतल हो जाता है। कौन है जो कहेगा, कि उसने आपसे कुछ नहीं पाया, नहीं लिया; कभी तो लिया ही होगा। धन-द्रव्य चुकने पर भी मुँह की मीठी बातें। बस इसी मूर्ति का ध्यान करते हुए तो लोग मन-ही-मन बल पाते हैं—।"

सिन्धु छौधरी बोले, "मैंने कुछ नहीं दिया, मैंने किसी का कुछ नहीं किया—"

रोहीनाथ कहते गये, मानो उनकी बात सुनी न हो, "पराये के लिए चिन्ता करते जब पूरा नहीं हुआ साआन्तजी, तो अन्त में आपने पराये लड़कों को आदमी बनाने के लिए चटसाल खोली, कौन है जो कहेगा कि उसने आपसे कुछ नहीं पाया ?"

और दूल ने कहा, "इतनी बड़ी बाढ़ में जीवन की बाजी लगाकर हमारे जैसे मरे-गये लोगों को खोजने दौड़े आये आप स्वयं ! आपके हृदय में साक्षात् बैकुण्ठ है।"

दधि अहीर ने कहा, "तुलसी अगर अपने पैरों चलकर किसी के दरवाजे न गयी तो क्या मन में दुख करेगी कि वह तुलसी नहीं है ! कोई करता है, कोई कराता है, किसी को देखने पर करने को मन होता है, सब घट में जो ब्रह्म को जानता है, उसके लिए जीवन होगा असार !"

बई मलिक ने कहा, "आप बुद्धिमान् आदमी ठहरे, आप हैं गुरुजन ! ठाकुरजी बनकर केवल खटोले में बैठे रहने-भर से ही हमारा साहस कितना बढ़ जायेगा। हमारे विचार, हमारा रास्ता, आपको अगर अच्छा लगे तो लीजिए आप यह भार, घर के मुखिया बनें—हम निश्चिन्त होंगे।"

"वाह-वाह-वाह, रे वई भाई ! वही तो चाह रहे हैं !"

सिन्धु चौधरी अकवकाये चारों ओर देख रहे थे, और कोई चारा न देखकर बोले, "मैं-मैं—"

"हाँ आप !" धोवेई मिश्र ने कहा, "पुराना नये को ग्रहण कर ले, दोनों मिलकर वनेंगे परम्परा। संस्कृति की यही तो रीति है। विवर्तन में ध्वस नही, परिवर्तन है।

सिन्धु चौधरी के उस व्यक्तित्व के अन्दर कही गोपन मे भी कुछ था। लोग जिसे सिन्धु चौधरी के नाम से जानते थे, परिचित थे, उसी की ओट में कही कुछ छुपा था जिसका अपना स्वतन्त्र परिसर था। वह दूसरों की आँखो से ओझल था। मानो उसने वही आत्मप्रकाश किया था, फिर चेष्टा कर रहा था पुनः छुप जाने की। मानो भूल से पल-भर के लिए वाहर चला आया था अपने अनजाने ही, वैसे ही वह लुप्त हो जायेगा, वाहर तो वही रोज का परिचित, पानी की सतह की तरह नित-देखा आदमी, परिवेश का प्रतिविम्व वह अपने में खिलाकर दिखायेगा, अपना गहन तल अप्रकाशित रहेगा, छुपा-छुपा, अनजाना।

परन्तु ठीक इसी समय मानो वाहरी लोग उसे पकड़ रखने को व्यग्र हैं। वे पकड़े गये हैं, वह और छुप नही सकेंगे।

मुग्ध दृष्टि से जब छवि उनकी ओर देख रही थी, जम्बू वेहेरा ने अपनी उन्मुक्त भापा में कह दिया, "अब और अपने साथ आँख-मिचौली की जरूरत नही साआन्तजी। कितने दिन का है यह मानव जीवन ? इसमें डर किसका, भय किससे ? मन पुकारता है कि यह रास्ता अच्छा है—तो चलने दो उसी रास्ते नाव को।"

हँस पड़े सिन्धु चौधरी। इधर-उधर लोगों के चेहरों पर नजर घुमायी। अपने ही कानों को अपनी आवाज मानो नयी लग रही थी। कहा, "अरे—ये सव—तुम लोग यह क्या कह रहे हो ? मैं कौन-सी चीज हूँ ?—मुझसे एक तिनका भी टूटनेवाला है क्या ?"

उत्साह मे भरे सिन्धु चौधरी कहते गये, "नही-नहीं, तुम्हारी तरह मैं भी एक हूँ, मेरे हाथ-पैर थके नही, आँखों पर जाला छाया नही, अब भी मैं खोज रहा हूँ सुख, आनन्द, इस संसार से लोभ कटा नही, ठाकुरजी वनकर खटोले पर वैठने से तो आदमी मरा समान समझो, और नही तो क्या ? मे मरा नही, मैं भी तुम्हारे साथ होकर चलूंगा, गिरूंगा, उठूंगा। जिस रास्ते इस पृथ्वी को सुख-आनन्द मिले—वही रास्ता मेरा है, मैं कुछ करूँ या न करूँ। तुम्हें आशीर्वाद देता रहूँगा, ठोकर खाते रहो, गिरते-पड़ते रहो, परन्तु थको नही, फिर उठते रहो, लगे रहो !"

प्रकाश धीरे-धीरे वुझता आ रहा है, अव होगी साँझ, किस जमाने का वह पुराना ईंट का वना मन्दिर छाया मे पुतकर दिख रहा है कितना वड़ा, मानो इतने

जमाने का हवा-पानी और शून्य की अनुभूति से मण्डित होकर वह विस्तार पा गया है। दूर से भी उसके स्पर्श का अनुभव किया जा सकता है। और ये बेशुमार पेड़, ये अनगिनत मूर्तियाँ जो उस अन्धकार में एक साथ हिल-मिल गयी हैं, सब एक जगह मिलकर जैसे एक सजीव व्यक्तित्व हैं। जिसकी कोई उमर नहीं, ऐसा व्यक्तित्व।

और उसी के सामने वहाँ निन्धु चौधरी है, उनकी दृष्टि में मुसकान के छींटे चमक रहे हैं। रवि ने देखा। उसे याद आ गयी फूलशरा के शुरू के दिनों की बात, जब काम आरम्भ ही किया था, ऐसे ही एक दिन आये थे बूढ़े नन्द तहसील-दार, बाद में और कहाँ देखी उसने यह दृष्टि।

बरसा नहीं, आकाश चिकना लिपा-पुता साफ़ है। चाँदनी सचमुच जैसे पानी में घुलकर पेड़-पौधों, धरती-बाढ़ सब जगह लगी हुई है। टीले के कगार पर एक जगह दोनों नावें बँधी है, पेड़ों की ओट के कारण दिख नहीं रही। आवाज़ सुनायी पड़ रही है, कोई कुछ बतिया रहे हैं। अचानक निधि रणा का गीत सुनायी पड़ा। नाव पर चित्त लेटे आकाश को देखते वह ओड़िशी छन्दमाला बिखेरे हुए है। कानों से सुने संगीत में से होकर आ रहा है—नया रूप, नयी अनुभूति, नया भाव, देखी-परखी स्थूलता में बँधा हुआ नहीं। उस नये परिवेश में से नयी वाणी निकल रही है—कि जीवन आनन्दमय है, उसका आसरा शान्ति, स्नेह और विश्वास है।

मिली-जुली फूलों की महक तैरती आ रही है—केवड़ा, मालती, चम्पा, काठ चम्पा। देवल के आगे जो थोड़ी-सी खुली जगह है वहाँ काठचम्पा को पीठ कर, थोड़ा-थोड़ा हटकर ताड़-पत्तों से दो कुटिया तैयार हुई है। एक छोटी, उसमें छवि और दूल सोयेंगी। दूसरी खूब लम्बी बनायी गयी है, उसमें और लोग रात बितायेंगे। कितने ज़माने के बाद आज देवल के द्वार पर दीप जल रहा है। उसके इधर भोजन पकाना चल रहा है, आग जल रही है, मानो सचमुच कोई महोत्सव होगा। एक घर-परिवार की तरह सब हिल-मिल गये हैं।

वहाँ से ही तो, अधिक दूर नहीं। केवल वह देवल जगत्-भर को ओट में लिये खड़ा है। उसकी पीठ पीछे अमरूद के तले खड़ी हो चौककर छवि ने देखा, उधर तनिक हटकर खड़ा है रवि।

दोनों ने एक-दूसरे को एक साथ देखा। ठीक इसी समय इस जगह अकस्मात् यों भेंट कराने के लिए स्वतः मानो उनके अन्दर की प्रवणता उन्हें इधर खींच लायी है। यह मानो सच नहीं, जो स्वप्न बीच-बीच में इस संसार में दोनों आदमियों को एक जगह करता रहा, वह फिर वैसा ही है। परन्तु तब छवि अनेक प्रश्न पूछती, उत्तर पाती। यहाँ वे प्रश्न नहीं है, वहाँ आनन्द से उत्तेजना से वह जैसे मूर्ति बन गयी है, उसके हाथ-पैर भी मानो अन्दर खिंच जायेंगे, देह और चेहरे की भंगिमा बदली-बदली अपरिचित-सी हो जायेगी; साधारण संसारी दृष्टि

से सुन्दर-असुन्दर कहने को साधारण आदमी जो माप जो मानदण्ड लेकर आँकता है, उससे नापा न जा सकेगा।

रवि उसके पास खिंचता-सा आकर खडा हो गया। वह सोच-विचारकर नही आया, बस विह्वल होकर चला आया। उसके मन मे पवित्रता-अपवित्रता का द्वन्द्व नहीं उठा, उद्देश्य या लक्ष्य का अनुभव नही किया। बस आने का अनुभव किया है, और चला आया है।

प्राचीन देवल के पिछवाड़े उसी प्राचीन स्थल पर परस्पर निहारते चुपचाप खड़े है दो व्यक्ति। वे भी मानो उसी देवल के आलो से उठकर आयी दो मूर्तियाँ हो, चाँदनी और पेडों की छाया ने रिस-रिसकर, बूँदें बनकर उन्हे चित्रित कर जैसे एक नया रूप दिया है, परन्तु कोई किसी की आकृति या अवयव देख नही पाता। दो प्राणी सान्निध्य का अनुभव कर रहे है, दो भावरूप छाया की तरह कुछ-कुछ परिसर लिये पास-पास थमे हुए है, परस्पर की ओर बढ रहे है दो इतिहास, बीच में योग-सूत्र स्पष्ट दिखायी पड़े, वैसा नहीं है।

उनके व्यवहार मे कुछ असहज न था। आँखों को अटपटा नहीं लग रहा था। यह सुनसान द्वीप, यह चाँदनी रात, इस पुराने परिवेश के साथ मेल खाता देवल, पेड़, ठूँठ, टीला-ढलान की तरह इतनी माया के रूप मे वे भी यहाँ बिलकुल स्वाभाविक है। किसी मे कही भी कुण्ठा नही।

मानो नीद टूटती आती हो। सपना—सच, सच सपने की चेतना का अनुभव कर रहे थे। कलौंसी सरसों-फूली चाँदनी रात, बाढ के पानी पर कुहासे का आवरण, उसके इधर चमकता-चमकता फिर अँधेरा-अँधेरा बाग-बगीचे की तरह का ढीला। दूर से आता निधि रणा का गीत उनके कानों से टकराया। विभिन्न फूलों की हलकी भीगी महक उन्होने अनुभव की थी, फिर उसके बीच खाना पकाने के धुआँ की गन्ध, उस ओर की बात-चीत के शब्द। देह मे सिहरन भरने से पूर्व वे शान्त होकर सामने की ओर देखते खड़े रहे। उस सान्निध्य के वे किस जमाने से अभ्यस्त है। साधारण घर-गिरस्ती का ही स्वाभाविक चलन है। एक ही काम पर दोनो जाकर फिर साँझ ढले लौटे है एक ही जगह। पूछने को कुछ न हो, कहने को कुछ न हो।

बाद में वह चेतना भी पिछड़ गयी, मानो आँखों के आगे समूचा पट खुलता जा रहा हो। उधर से कितनी ही बात-चीत की हलचल हुई, वह हलचल पहले से ही थी; परन्तु नयी होकर अनुभूत हुई। छवि ने विस्मय से देखा, जैसे रवि उस ओर खिंचा जा रहा है, तनकर छावनी की ओर लौटता जा रहा है।

छवि की छाती धडकने लगी। अमरूद के पेड़ के सहारे टिके ही उसने आँखें मीच ली। अनुभव हुआ जैसे देह लडखड़ा जायेगी, उसका सिर चकरा रहा है, देह काँप रही है।

चाँव से हड़बड़ाकर खड़ी हो गयी। अत्यन्त उद्वेग से क्षोभ में भर उसने याद किया। चंचल-सी होकर कहा—यह क्या हुआ ? वह पूछ भी न सकी !…"क्या कहते हो बोलो ! चुप क्यों हो ? बोलो, मेरे जीवन का क्या होगा ? क्या कहते हो ?…" पर एक शब्द भी न पूछ सकी वह ! अथच वह आया था, प्रतीक्षा की थी, और फिर वह चला गया !

उसकी आँखों में बिन्दु झिलमिला आये, लुढ़कने लगे। गाल भीग गये। आँख पोंछते-पोंछते उसने परिस्थिति की ओर देखा—कितनी चमचमाती चाँदनी रात, कितना सुनसान, कोई कहीं नहीं। केवल के इधर यह विचित्र सोयी दुनिया, कितने ही लोग तो थे, वे सब सो चुके हैं शायद। बगीचे का हलका-हलका झुरमुट खड़े-खड़े सो चुका है, उसपर रुपहली चाँदनी। लग रहा है जैसे किसी चादर से ढाँप दिया गया हो। वह इस सोयी दुनिया के खर्राटे की आवाज सुन रही है। सब, लग रहा है विचित्र, केवल माया-स्वप्न। सब सो चुके हैं, जाग रही है तो वह, स्वयं—अकेली। कान लगा रही है। उधर से हलचल की आवाज सुनायी पड़ रही है, तो दुनिया, पास-पास, प्रकाश और छाया मिलकर रहने की तरह।

सचमुच क्या वह सपना देख रही थी ? फिर सब याद आ जाता है। चंचल-सी मुड़कर वह भी लौट चली। इस बाढ़ में से जैसे कोई अजीब लहर आयी थी, वह जैसे समूची चाँदनी-जैसी हो, उसे कितने ऊँचे उठा गयी। ना, वह लहर उसे छोड़कर नहीं गयी, वह स्वयं समूची लहर है, सारा आनन्द है।

वह चिड़िया की तरह फुदकती चली आयी। छावनी के पास पहुँचने तक उसे लगा जैसे वह आकाश से माटी पर उतर आयी है। फिर मन के अन्दर अटूट प्रश्न का उलझा तार…कि क्या हो गया ! वह पूछ भी तो नहीं सकी !

"ओह, किधर थी, मैं तो चारों ओर खोज आयी !" दूल कह रही थी, मरदों ने आज हण्डी सँभाली है सो पास भी फटकने नहीं देते। वह जो माँझी है न, बहुत बातूनी है। क्या कहता है, सुना तो ? आदमी कितना हँसे ! कहता है, देखना ठहरो, ऐसी सुवादी रसोई तुम लोगों ने कभी खायी हो न होगी, हाथ चाटते रहोगे ! बड़े आये ! सच री, तुम कहाँ थी, कितनी देर हुई ढूँढ़ते-ढूँढ़ते !"

छवि ने हँसते-हँसते दूल को बाँहों में भर लिया और उसके मुँह-से-मुँह सटा दिया। "देख, देख !" कहते-कहते दूल ने भी उसे भर लिया। छवि अकारण ही उसे बार-बार भींच रही थी, सच जैसे वह उसकी किसी जनम की सहेली हो, अथच एक गाँव की होने पर भी जोगी-बस्ती या उससे आगे कभी जा न सकी, या कभी दूल को देख न सकी, उसे पहचानती तक न थी। वे सचमुच जैसे चन्द्रमा पर पृथ्वी के आदमी हों, कोई किस प्रान्त का है, पर वहाँ वे सब एक गाँव के हैं—उस गाँव का नाम है पृथ्वी !

उसके लाड़-भरे आदर को दूल ने उसके मुक्त मन का अकपट स्नेह मानकर

ग्रहण किया। वह कृतज्ञ थी, गौरव का अनुभव कर रही थी। स्नेह मे बहकर उसकी इच्छा हो रही थी कि ऐसा कोई रास्ता दिख जाता जिससे वह छवि का कुछ उपकार कर उसकी आत्मा को सन्तोष देती।

परन्तु छवि दूल को दूल जानते-समझते भी उसपर इतना उल्लास उँडेल रही थी सो नही, वह लहर की तरह फूल उठी थी, लहर की तरह ढुलक पड रही थी।

दूल के पास से हटकर वह पिता को खोजने चल पडी। आग के पास वे समूह के अन्दर बैठे है। चूल्हे की घाँस लसाह पोतती किसी-किसी के चेहरे पर कही-कही लगी है।

बग़ल किये बैठा था रवि। आग की लाल धौस उसके माथे पर पड़ रही थी। छवि को देख एक सरल हँसी हँस उसके चेहरे की ओर ताकने लगा। छवि ने मुँह फेर लिया और देवल के दरवाज़े की ओर देखने लगी। छवि की दृष्टि का अनुसरण करते हुए रवि भी उधर ही देखने लगा। दीप उज्ज्वल होकर जल रहा है, दीप-शिखा नाच रही है।

छवि देखती रही। देवल का मुँह खुला पडा है। दीप जल रहा है। कहाँ है उसके प्रश्न का उत्तर?

उसी भीड़ के बीच से सिन्धु चौधरी ने कहा, "मना कर रहा था, चली आयी, उधर तेरी माँ को आज नीद नही आयेगी।"

छवि को अपनी माँ की याद आ गयी।

लगा, जैसे अनजाने वह कोई दोष कर चुकी है, मुड़कर देखा, रवि उसी की ओर दृष्टि किये है। सिर झुकाये उसने दुर्बल कण्ठ मे पिता की बात का उत्तर दिया, "मैं क्या जानती थी!"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "तभी तो बड़े बुजुर्गों की बात माननी पडती है। यह जो मौसम, यह जो बाढ़, घर से पैर निकाल नाव चढ़ यहाँ आकर—घर पर कितने चैन से खा-पीकर सोयी रहती!"

छवि का मन कही और था। उसकी छाती मे धुक-धुकी हो रही थी, सच जैसे उसके अन्तर के समुद्र मे चाँद उग आया है। बस इतना याद था कि रवि उसे देख रहा है। पिता की बात के अन्तिम कुछ शब्द मानो वहाँ ज्वार पर कुछ अवान्तर असामजस्य-पदार्थ की तरह पड़ गया हो। अति उल्लास मे उच्छरित होकर उस अवांछित पदार्थ को कूल पर फेंक देने की तरह उसने कहा, "अब और कौन-सी असुविधा हो गयी? घर के कोने मे बैठे रहने पर ऐसा दिन कभी देखने को मिलता? यह तो मानो कोई मेला-त्योहार हो गया!"

क्या कुछ उसके मुँह से निकल गया, वह रोक न सकी। बाद मे उसने सुना, सब हँस रहे है। अपने पिता की हँसी वह साफ़ पहचान रही है, वह

निरीह खुले मन की अबाध हँसी ! रवि हँस रहा है, उसने देखा। उसकी बात को सब जैसे कौतुक-सी समझ रहे हैं। और फिर वह लजा-सी गयी।

रवि के साथ आमने-सामने बात करने की जरूरत नहीं पडी। शायद कभी अवसर आ न जाये, वह डर रही थी। उसका मन चंचल हो रहा था। जरा कहीं कुछ खड् की आवाज होती तो वह चौंक पड़ती। भोजन का समय हो गया था। दूल के साथ वह परोस रही थी। पहली बार परोसकर दूल रसोई के पास चली गयी थी। छवि ने देखा, रवि की पत्तल खाली पड़ी है, दूल जरूर आयेगी, शायद आती ही होगी। परन्तु रवि खाली पत्ते के पास बैठा है, और पत्ते पर अँगुली से लकीरें खींच रहा है। उसके मन में तनिक दुख हुआ। पास जाकर खड़ी हो गयी, फिर झुककर फिसफिसाती आवाज में पूछ बैठी, "और कुछ दूँ ?"

रवि के पास बड़े मलिक और उसके पास रोहीनाथ बैठे खा रहे थे। उन्होंने भी उसकी ओर देखा। रवि ने सिर को पीछे झटक लिया। उसके माथे पर से दो-चार लटें पीछे की ओर छिटक गयी।

रवि ने कहा, "और क्या होगा ?"

छवि जैसे जिद करती हुई बोली, "थोड़ा-सा और !"

रवि ने कहा, "अच्छा तो दो, जो देना हो।"

उसने उससे बात की। छवि वहाँ से दो छलाँग-भर मुड़ आयी। बसन्त के प्रारम्भ में रात बीतने पर कभी ऊष्म, कभी सिहरन लगने की तरह उसे बहुत लाज-सकोच हो रहा था, फिर कभी उत्साह के आवेग में जैसे पैर जमीन पर नहीं पड़ रहे थे।

वह जी-भर रवि के पत्ते में भात, दाल, तरकारी और खटाई उँड़ेलती जा रही थी। कभी कुछ अधिक हो जाता तो रवि हाथ बढ़ाकर 'नहीं-नहीं' करता, रोकने के लिए, तभी मानो उसका उत्साह दूना हो जाता।

खाना-पीना हो गया। सोने के लिए जाने से पूर्व सब एक जगह घेरकर बैठ गये। छवि का सकोच टूट चुका था। दूल और वह उस भीड़ के बाहर एक ओर बैठी रही। बीच-बीच में इधर-उधर की गप्पें चलती। मानो वे एक गाँव के एक डीह के आदमी है, ऐसे कितनी बार आँगन में बैठकर बढ़ती रात को देखा है, अनुभव किया है, रात की आवाज सुनी है। उस एक समन्वय में मिला दिया है उसने अपने नि.श्वास का शब्द, कई सप्तक, कितने लोचों में खेलता फिर रहा था नाना कण्ठो से निकला भाषा का सगीत। उसी सगीत मे कभी किसी के घर के बच्चे की रुलाई मिल गयी है, कभी अँधेरे से किसी बुढ़िया की खाँसी, कभी गाय का रँभाना।

वैसे ही तो यहाँ भी---छवि को अनुभव हो रहा था जैसे वह घर-ही-घर में है। छाती के अन्दर धक-धक हो रही है, ख़ुशी की एक उत्तेजना उसके अन्दर दबी

हुई है, कभी-कभी बिजली की तरह उनकी चमक एडी से चोटी तक चौंकाकर फैल जाती है, देह थर्रा रही है, कभी-कभी थम जाती है। सिर में मोह फैला है, लगता है जैसे उसे नींद घेर रही है, और फिर वह अनुभव कर रही है मानो उसकी आँखें खुली ही तो थीं, वह सोयी नहीं, जाग रही है।

बचपन में गुरु की माँ कोई कहानी कहा करती थी। गुरु की माँ नहीं, डीह में और कोई बुढ़िया थी। याद आ जाते हैं उसके लम्बे कान, जैसे कि मोम से बने हों, वैसे कुल्थई रंग के, नीचे-ऊपर के किनारे झूल गये थे, उन्हीं कानों पर जूट की तरह घने मारे बाल मटियाले, हवा में फरफर उड रहे थे। और याद आती है एक छोटी नाक, उसका सिरा मोटा, कितना निरीह, कितना स्नेह दिखता, मान-सम्मान नहीं चाहिए, या कि मेरी तरफ से कोई कुछ करे-धरे। कहानी कहती जाती—बस वही उसका आनन्द।

और उसके साथ-साथ तैर आयी दो आँखें।

वह किसी राजकुमार की बात थी, उसका पक्षीराज घोड़ा, घोर वन के अन्दर कोई पुता शिव मन्दिर, पास में पत्थर काटकर बनायी बड़ी पोखरी, काँच की तरह थिर-साफ़ पानी। सीढियों के पास नागेश्वर का पेड, फूलों से लदा खड़ा था। पोखर में कमल खिले थे, कमलों पर भौंरे मँडरा रहे थे, झुण्ड-के-झुण्ड कनेर के फूल लदे, जाल की तरह पेडों की कतार पोखरी पर झूल रही थी। पोखरी में कमल के फूल, कमल की कलियाँ हटाते-हटाते, कमल के पत्ते टालते-टालते दल-के-दल राजहँस तैर रहे थे। सूरज उगते आ रहा था। सीढ़ियों से राजकुमारी ऊपर उठ रही थी। उसके चेहरे के चारों ओर भँवरे मँडरा रहे थे। पीठ की ओर उसके घने घुंघ-राले बाल लटक रहे थे, टखनों तक। चोआ, चन्दन, मेथी, अगरु, ख़स की जड़, गुग्गल की महक बिखर रही थी। उसके माथे के बालों से सुगन्धित जल चू रहा था, कुकुरमुत्ते की तरह गरदन उचकाये सफ़ेद छोटे-छोटे हंस पानी पीने के लिए उसके पैरों के पास घेरते हुए-से चल रहे थे।

तभी उसने देखा जैसे पक्षीराज आकाश से नीचे उतर रहा है, राजकुमार उतरा। सच, जैसे वह द्वितीय सूर्य हो, मानो राजकुमारी को ताव छू गया, वह झुलसने लगी हो, कुछ उसी तरह झुकी-सी खड़ी रह गयी।

और फिर—

रवि बैठा है। वे लोग बैठे हैं। कोई कुछ बात कह रहा है। कान देने को मन करता है। कभी-कभी एक-एक बात छवि के दिमाग में भर रही है। बाढ। मही दलपति। बाढ की लपेट में आये लोगों का रख-रखाव। खेती। गाँव का गढना। चीन। अमेरिका। रूस। दक्षिण अफ्रीका। भागवत। तेल की घानी। महात्मा गान्धी। एक पृथ्वी। एक परिवार।

फिर-फिरकर मोह घिरता आ रहा है। फिर जैसे चाँव से चौंका गया। पक्षी-

राज घोड़े पर चढ़कर राजकुमार जब आयेगा तब?

शाप राजकुमारी को घोड़े पर चढ़ाकर उड़ेगा जो!

सांस रोके ऊपर की ओर ताक रही है। वर्षा रुक गयी है। कहीं दूर-ही-दूर हटकर छिटपुट-छिटपुट कांस-कास के धब्बे रहे हैं, किसी कतार में मंदिर, तारों, चीथ-चीथ से ये वहां चितकबरा आकाश। और झिलमिला रहा है। कनौंत रख दे के ताक कौन पर चांदनी पड़ रही है। धुंधला चांद। उजाला और अंधेरा घुलकर ऊपर से नीचे बरसाता जा रहा है, उसपर इतने रूप-रंग बिखरे हैं। यह आसनियों की टोटी-सी भीत, उधर पुराना देवल, खम्भे-खम्भे सना यह घना बरगद, एक-एक में इतने पेड़, दूह। जमीन भी इन्सान। जो आदमी नहीं, वह भी मानो आदमी की तरह दिख रहा है। उसपर भी पता नहीं कोई भाव खिल रहा है। पुराना देवल मानो प्राचीन काल का दादा-परदादा हो, बड़े बाबा की तरह—उसके निस्पृह मन की युग-युग की चिन्ता में मग्न होने का भाव! उसकी यह ध्यानस्थ-सी अवस्था समाधी-सी लगती है। और यह जो बरगद है, एक ओर पसर गया है, उन जुग की बुढ़िया दादी की तरह हाथ-पैर पसार गोद में किसी को सुलाये हुए है—जिसने तेल-हल्दी लगा चुकी है, रात-रात-भर उजागर रहकर कितनी सेवा की है। सेवा में सोहती मां की मूर्ति। अपना सब कुछ देकर पालती है, बढ़ाती है, उसका धीरज टूटता नहीं, आग्रह मुरझाता नहीं। बिलकुल उसकी मां की तरह।

और छन् से मां याद आ गयी, जैसे वह बार-बार याद आयी है, और वह मन मन-ही उस उजाड़ से उड़ती चली गयी अपने गांव, पाटेली गांव को। क्या होगा? गुरु की मां समझाती होगी। बस्ती की ओर भी कौन-कौन आयी होंगी'''आज उसकी मां की विरहुल रात'''।

उसने गहरी-गहरी सांस खींचकर भीगी-भीगी मालती की महक अपने अन्दर भर ली। पीठ की ओर धरती पर दोनों हाथ टिकाये बैठी वह आकाश की ओर निहारती रही। और फिर उसके कानों से टकराया कि दूर कहीं चिड़ियों का जोड़ा कितने मीठे स्वर में एक-दूसरे को बुला रहा है। उसे लगा जैसे वह अपने घर से बहुत दूर चली गयी है। उसे दिख रहा है सुबह जैसे छान से झूलती उसकी मां की साड़ी सूख रही है, और छान के ऊपर पास-पास कई कद्दू के फूल खिले हैं, सिरे के उस ओर पुआल के ढेर में कुकुरमुत्ते उग आये हैं, करेले की घनी छाया ततर की बाड़ के उधर बड़े-बड़े भिण्डी के फूलों से भरा पौधा पड़ा है। कुछ-कुछ बगीचे की छत की तरह हो गया है। धब्बे-धब्बे-सी नारियल की फुनगियों की छाया, कुछ परिचित घरों पर भी, दूर और दूर होती जा रही है, वह हटती जा रही है। और लगता है जैसे सब जगह वही घर है, वैसा ही सुख-दुखवाला आदमी, वैसी है मां। सब जगह वैसे ही स्नेह के भूखे आदमियों के चेहरे, सबके घर की-सी बेटी वह स्वयं!

कितनी विशाल है यह सृष्टि, यह आकाश, यह व्याप्ति—जिसका कोई अन्त नही।

यह नन्ही-सी वदली अचानक कहीं से उड़ी आ पहुँची है, ठीक उसके माथे पर। देखते-ही-देखते वढ़ उठी है, भर रही है। कितनी झीनी है उसकी साडी। वह पोशाक काली, लाल, हलद, नीली, नारगी, कितने रंगों से चित्रित हुई है। जरी लगी चौकी-चौकी परतें हिल रही हैं। इतने क्षणो के पूर्ण यौवन से उसकी देह उस पतले आवरण की ओट से धकेल-धकेलकर वाहर आ रही है, उसमे तेज फैल रहा है। चन्द्रमा के साथ वह रूप की होड़ लगा रहा है, कैसे समान होगा चन्द्रमा उसके, चन्द्रमा तो एक ही वर्ण का किंचित् तेज है, और वीच मे वह अवोध-विस्मय है, वह जो जरा-सा काला चिह्न है। इस क्षण रग-रग मे झूलती माथे की मणि की तरह यह भरी वदली ही श्रेष्ठ, आकाश की रानी है। और फिर एक और वहती आती है, पहले उसका नाम-पता तक न था, वढती-वढती आ रही है, पहलीवाली मे वढ़ी-चढ़ी। पहलीवाली का रूप वदल गया, प्रौढा नही, वृद्धा। देह लरज-लरज रही है, कोई विशिष्टता नहीं, और वह मिल गयी कहो, विस्तृति के काले अन्धकार की तरह वह उधर जो थमी हुई नदी पसरी है, काले मेघों की नदी, उसी में कही।

वाद में आकाशी-परी वरसकर झर जायेगी, गिर पड़ेगी। अकेली वही नहीं, वैसे कितने वादल, वही वरसा तो सार है। न पीने का लोभ, और न कोई परिचय-प्राप्त। वस एक उद्देश्य कि सेवा और करुणा में सव उँडेल देते होंगे। ऐसा दान देना ही तो जीवन है।

कुण्ठा नही, क्षोभ नही, क्लान्ति नही। रुकना नही, केवल मन की खुशी में विपुल आग्रह से अपना सारा वल, सारा सम्वल, सारी सेवा, सारी सुरभि, सारे कल्याणकर गुण इस ससार के मगल के लिए उँडेलकर खु्द निश्चिह्न हो जाना—

यही तो जीवन है।

अवश्य वह नन्ही वदली स्वयं को उसी तरह उँड़ेल देगी।

उसका कण-कण टूटकर गिर पड़ेगा कही-का-कही; कितनी घास के रस पर, कितने फूलों की पखुड़ियो पर, कितने जीवन्त प्राणियों की देह पर। किसी के गढ़ने, किसी के वढ़ने में कही कुछ सहायक होगी, अथच कोई उसे पहचानेगा नही या जानेगा नही। उसी मे उसकी सार्थकता है!

किनारे पर पत्थर के टीले से नदी मे छलाँग लगाने की तरह वह अपने मन के उस भाव रूप मे रह अति उल्लास मे छपाक् से वात के झरने मे कूद पडी। उस समय

धोवेई मिश्र चर्चा के अन्त में दुनिया की परिस्थिति को लेकर उपसंहार कर रहे थे। उन्होंने कहा, "बहते स्रोत से खुद को थोड़ा दूर कर रखने से साफ़ दिख जायेगा कि कैसे सब जगह हिंसा-भेद-स्वार्थ ही बढ़ता जा रहा है, सिर्फ़ घर में ही नहीं, गाँव में ही नहीं, सब जगह, सब क्षेत्रों में यही तो दिखायी पड़ता है। हिंसा-अशान्ति-कलह-निष्ठुरता-वाद-विवाद लगे हैं। इसमें जो जिससे आगे बढ़ सका वही उसकी बहादुरी है। ऐसे चलन का भी कोई मतलब है? आदमी स्वयं को गढ़ सका नहीं, आँख मूँदे लग-पकड़कर चीज़ें गढ़ रहा है, तरह-तरह की चीज़ें। स्वयं को आयत्त कर न सका, बाहर की दुनिया-भर की चीज़ें आयत्त कर रहा है, विज्ञान में बढ़ोत्तरी कर रहा है। इस एक उपग्रह का उचित उपयोग तो वह कर न सका, और कितने उपग्रहों में जाने के लिए वह पैर बढ़ा रहा है।"

इतनी बड़ी गम्भीर विज्ञोक्ति को प्रचण्ड वेग से आघात कर वह कह उठा, "ओह, ओह, यह हिंसा-द्वेष, हिंसा-द्वेष सुनते-सुनते कान सुन्न हो चले। नाना मन्त्रों की तरह यह भी हो गया जैसे कोई मन्त्र। बाप रे! इस मन्त्र के हाथ से आदमी को भगवान् ही बचायें! क्या कहती हो दूला देवी!"

कुछ न समझ रोहीनाथ पहले हँसते-हँसते कहने लगा, "अच्छा साखी मिल गया—गेल्हा देवी या दूल्हा देवी या फूला देवी।"

दूल हँसकर कह उठी, "उई, मैंने क्या कसूर किया?"

जोर से हँस पड़ा जम्बू बेहेरा—"सच कहा। देवी, मुझे ये तन्त्र-मन्त्र से बहुत डर लगता है।"

सिन्धु चौधरी ने जोर से आवाज कर गला खँखारा।

और उसी हँसी में निधि रणा, वई मलिक, दधि अहीर ने भी हँसी मिला दी।

धोवेई मिश्र ने मानो बात पकड़ ली हो। उत्तर पूछने लगे, "मन्त्र तो आदमी की अभिज्ञता का सार है, जीवन-पर-जीवन बिताकर आदमी ने जो पाया है, जो देखा है, अपने अंग में सहा है, उसे ही तो मन्त्र के आकार में बाँध दिया है। पर इसे सुनने पर आदमी का अनिष्ट कैसे होगा?"

रवि उत्सुक होकर कान लगाये था।

तब छवि ने कहा, "अभिज्ञता को जो अपने अंग से सहता है, उसके लिए वह सच है, उसके लिए स्पष्ट दर्शन है। उसके व्याख्यान को जो सुनता है उसके लिए वह मन्त्र है। गम्भीर सुनायी पड़ता है, बार-बार गाने पर नशा-सा छा जाता है। इधर कार्य में वह खिलता नहीं। सत्य, अहिंसा, महात्मा गांधी के लिए हो गये थे अपने जीवन की स्पष्ट सत्यानुभूति, वह पद उनसे स्वतः निकल पड़ता था, औरों ने उस पद का यथेष्ट गान किया, जिस तरह कि गाया गया था 'रघुपति राघव', उनके लिए वह हुआ मुँह से गाने के लिए मन्त्र, मुख-शुद्धि होगा, उस छन्द

खूब पवित्र-पवित्र-जैसा लगेगा, बस इतना-भर, कार्य में फलेगा नहीं।"

रवि तर्क का उत्तर देते हुए कहने लगा, "आपने जो कहा, मैं उसे मानता हूँ। सब नहीं, कुछ लोगों के लिए केवल मन्त्र है, और कुछ होंगे जिनके जीवन का वह दर्शन होगा, केवल मन्त्र-भर नहीं, अति-वास्तविक अनुभूति होगा।"

छवि जरा भी हिचकिचायी नहीं, लजायी नहीं, मानो उसके भीतर से कोई भाषा दे रहा है, कोई उसके स्वर को संगीत और शक्ति प्रदान कर रहा है। उसने कहा, "होंगे, होंगे, जरूर, महात्मा गांधी से भी बड़ी यह मानव-जाति है, वे महात्मा हैं; परन्तु वे आदि-अनादि नहीं। और भी होंगे, फिर भविष्य में भी होयेंगे। परन्तु महात्माजी मन्त्र नहीं बोलते थे, वे कार्य करवाते थे, वे लोग भी वही करेंगे।"

रवि ने कहा, "पर यह जो मिश्रजी ने कहा, वही तो सर्वत्र दिखायी पड़ रहा है, हिंसा, वाद-विवाद, स्वार्थ बढ़ रहा है, वह बात कहने में हर्ज क्या है? ख़ुद चेतकर औरों को चेताना भी उचित है।"

छवि ने कहा, "वास्तव में ख़ुद चेत सके, चेतकर काम-धाम कर सके तो उसकी बात सुनकर और भी तो जाग उठेंगे। हमारे घर में माँ-बाप कभी भोर से उठकर किसी को नहीं कहते कि उठो-उठो, उनके उठने के पीछे-पीछे हम ख़ुद-ब-ख़ुद उठ जाते हैं।"

रवि को अनुभव हुआ कि छवि सचमुच उसी के मन की बात कह रही है। उसका तर्क दुर्बल पड़ गया; पर तर्क के बहाने उसने कहा, "हिंसा, झूठ और स्वार्थ बढ़ रहा है, यह कहने से असुविधा क्या होगी, आप ही बताइए मुझे?"

धोबेई मिश्र ने पूछा, "हाँ, कहिए, मैं भी वही बात पूछना चाहता हूँ।"

सिन्धु चौधरी ने बात दबा देने के उद्देश्य से कहा, "पगली है, क्या तो उसने समझा है और क्या वह कहेगी? बच्ची है। कुछ सोचकर बिलबिला उठी है। जा, सोयेगी नहीं?"

छवि ने कहा, "असुविधा होगी। आप मान लेंगे कि सर्वत्र स्वार्थ है, सब जगह झूठ है, सब जगह हिंसा है। जो यह मान लेगा फिर उसकी आंखों को दिखेगा—सब जगह अँधेरा, मानो सब जगह निराशा भरी है। ऐसा अगर होता तो यह संसार फिर न होता। झूठे होने पर भी उसके पास-पास सच है, उदारता है। एक आदमी में भी ये उभय है। पूरा भरोसा कर वह बाहर आ नहीं पाता, उसे साहस नहीं होता, सन्देह जाता नहीं। साहस, आशा और उत्साह मिलने पर निकलना। किसी से मन्त्र सुनने पर गीत सुनने से वह मिलेगा नहीं, काम देखने पर ही मिलेगा।"

रवि ने कहा, "परन्तु—"

उसकी बात काटकर तनिक उत्तेजित-सी हो वह कहती गयी, "वे जो लोग

अपनी-अपनी रीति के अनुसार समाज को 'ऐसे गढ़ना चाहिए, वैसे गढ़ना चाहिए,' कहकर हमारे देश में हलचल मचाकर मन्त्र बोल रहे हैं···"

धोवेई मिश्र चोट पाये व्यक्ति की तरह कह उठे, "ओह मन्त्र !"

छवि उसी ताव से कहती गयी, "हाँ, मन्त्र बोल रहे हैं, कोई धर्म के बारे में, कोई समाज-नीति के बारे में। कहते हैं, मानव समाज को यों चलना चाहिए, त्यों चलना चाहिए, उनमें से कितने सम्प्रदाय अपनी कही बात के अनुसार रूप गढ़ सके हैं ? अपनी नीति के अनुसार उन्होंने देश को गढ़ा है या गाँव को गढ़ा है ? दूसरों को अकल बाँटने में सब अगुआ हैं, पर उस अकल को काम में लगाने की जब बात उठती है तो बात दूसरी हो जाती है। इसीलिए मैं कहती हूँ कि जो जिसे उचित समझता है वह उसे कर दिखाये, अच्छी होगी तो स्वतः औरों को रुचेगी, वे भी वैसा करने लगेंगे।"

सिन्धु चौधरी ने चौंककर छवि की ओर देखा, फिर चारों ओर नजर दौड़ायी। कितने विज्ञ आदमी की तरह बोल रही है ! कौन कह रहा है ! उस बरगद के नीचे जो मूर्तियाँ सजी हैं, क्या उन्हीं में से कोई एक, कोई सोयी हुई प्रपितामही, इस धुँधले चाँद तले इस उजाड़ में वे अवस्थित हुई हैं। फिर उसने जो कहा, उसे सुनकर और भी आश्चर्य हुआ, देह सिहर उठी। छवि कह रही थी, "इस देवल को देखें, कितना पुराना है, और यह माटी जहाँ हम बैठे हैं। सो-सौ हजार-हजार वर्ष तक यहाँ जो आदमी थे, उन्होंने भी अँधेरा देखा है, हिंसा, झूठ, वाद-विवाद कितना कुछ देखा होगा ! पर आदमी अँधेरे को देखकर डरा नहीं, साँस फूली नहीं, प्रकाश चाहा है, पाया है। हिंसा-झूठ-वाद-विवाद कोई स्थायी नहीं हैं, उन सबको न मानकर कुछ काम कर दिखायें तो स्वतः वे चले जायेंगे ही।

रवि अभिभूत होने की तरह विनीत होकर कहने लगा, "हम चेष्टा कर रहे हैं।"

धोवेई मिश्र ने पुलककर कहा, "वाह ! वाह ! कितना अद्‌भुत है ! आश्चर्य ! आप जो कह रही हैं, हम बिलकुल नहीं सोचते हैं। पर कभी-कभी इतने स्पष्ट विचार नहीं कर पाते। इस अद्‌भुत प्रतिभा की सहायता आप हमारे संगठन को दीजिए। कभी पधारें फूलशरा।"

स्थान और समय भूलकर रवि कह बैठा, "सच, आइए न कभी।"

छवि एक अजीब भाव से हँसकर कहने लगी, "आप लोग तो करते जा रहे हैं, मैं सिर्फ देख रही हूँ। कभी मेरे द्वारा कोई काम हो सकेगा, फूलशरा जाने की योग्यता होगी, तो जाऊँगी काम तो सब जगह है।"

वही मूर्ति ! वही सजीव बनकर बातें कह रही है ! सिन्धु चौधरी स्वप्न और यथार्थ के बीच झूल रहे थे। कभी अस्पष्ट लग रहा था—यह भाषा तो मेरी ही है ! किस उमर की, किस अवस्था की ? किस गहराई में थी ? आवाज दी, "बेटी !

बेटी !"

"क्या बात है बापू ?"

कुछ कह नहीं पाते, कहने को कुछ याद ही नहीं पड़ता। कहा, "जा, सोयेगी नहीं, जा—"

रवि उठ खड़ा हुआ। हँस पड़ा। चाँदनी उसके हँसते-से चेहरे पर पड रही थी। छवि ने ध्यान से देखा। उसी चेहरे के अँधेरे-अँधेरे में मानो उसके मन के अन्दर अपना चित्र भर दिया हो। उसने आँखें मूँद लीं। उसके कन्धे पर हाथ रख दूल ने कहा, "अब चल, सोये !"

छवि उठकर चल पड़ी

कितनी देर तक उसे नींद नहीं आयी, बाहर वही चुनचुनी रात, मानो जादू-भरी हो। अनचीन्ही धरती पर दो छावनियाँ, कुछ हट-हटकर बनी होने पर भी आमने-सामने हैं।

सच, लगता है जैसे उधर सामने से आकर लपट उसकी देह से छू रही है। अन्दर गरमी, छाती धकधक, कान चौकन्ने, पेट के बल लेटे वह दूर देख रही थी। तनिक कुछ खड़कते ही उसकी देह सिहर उठती। कभी-कभी मन का नशा और नींद का नशा एक साथ घुलकर उसकी चेतना को जब आच्छन्न कर देता, तभी अचानक लगता कि उसका शरीर चौंक उठता है। उसका मन कहीं उड़कर चला जाता। कभी-कभी लगता जैसे वह वहाँ नहीं है। शून्य-ही-शून्य में कुछ तैरता फिर रहा है।

उन्हीं बादलों के उस ओर कहीं चाँद छुपा है, मानो रात न हो, 'रज' पर्व की भोर हो। और कुछ देर बाद बावरी-बस्ती से मुर्गा कु-क-ड़ूँ-कूँ कर उठेगा, गुरु की माँ आकर आवाज लगायेगी, 'आओ री, नदी चलें,' माँ फिर निकालेगी मलने के लिए हलदी का काठड़ा। चोया, ख़स की जड़ और बकुल की महक, भोर के तड़के में नदी के पानी की ऊष्माहट, और पिछवाड़े में चिवड़ा कूटने की धम-धम का छन्द। चौंक पड़ी। कब आयेगा वह ?

और यहाँ यह अनचीन्हा परिवार। कितना अजीब ! केवल पिता, दूल, रोहीनाथ, बस इतने हो तो उसके गाँव के, बाकी सब भिन्न जगहों के भिन्न-भिन्न लोग हैं !

सभी !

याद आ गया रवि। लगा जैसे सब तो उसके अपने हैं। और वह सोचती गयी—सच, क्या वह भी उसकी बावत् सोच रहा होगा ? मन्दिर के पिछवाड़े

एकान्त मे वह जिस रूप को देख आयी है, उसमे दृष्टि और लास्य का आरोप किया । उच्छरित आनन्द का स्रोत उसके सम्पूर्ण अस्तित्व के ऊपर से बह गया, उसने आँखें मूंद ली, अँधेरे मे उसके होठों के कोनों पर लाज-भरी बहू के चेहरे की-सी स्थिति आ गयी। वो आ रही है उसकी सुहाग रात। बचपन से पुराण सुनते-सुनते, लीलाएँ देखते-देखते इस माटी की जो कल्पना और जो सपना उसकी नस-नस मे भर गया है, फैल गया है, उसके आच्छन्न आवेश में मानो वह यहाँ एकत्र जमा होकर रूप धर हिल उठा है। यही वह क्षण है। बाहर खुली यमुना, धुंधली चांदनी फैली है। नाना वन-फूलों की भीगी महक, ताजा महक, अँधेरे-प्रकाश की धूप-छाँही कुंज के नीचे।

गालो पर सिहरन-सी लगी, धीरे से कुछ बूँदें आँसू की चू पड़ी। छनछनाती-सी वह उठ पडी। यह क्या? उसके अन्तर में कोई आवेग घुमड़ रहा है, कोई वेदना कसमसाती-सी। कुहनी पर टिकी दूर देखती पगली-सी सोचती रही, क्या आदमी का आनन्द इसी खीच-तान मे है? परिणति ये कुछ बूँदें हैं? अन्त कहाँ? अन्त कहाँ?

भावना बदल गयी। अचानक लगा—वह स्वार्थी है। उसने चाहा, खीचकर बाँध लेगी, सब कुछ चतुराई कर रखेगी अपने पास, सब कुछ जोड़कर वह होगी एक दम्भ-भरी 'मैं', फून उठेगी, बढ़ेगी, हुकम चलायेगी। वह दूर देख रही है। वही दृढ़ता गहन-गाँठी लगाये, पनकी पर बैठी साज-सँवार रही है, उसका घर-बार। पति भी अपना है, अपनी बात माननेवाला।

'झूठ-झूठ, कभी नही, नही—'

मानो अपने अन्दर ही और कोई जोरदार प्रतिवाद कर उठा हो, यह सब उसने नही चाहा, कभी नही। वह सिर्फ अञ्जलिका, निवेदिता, वह सिर्फ़ बोतल मे बन्द एसेंस ही नही, वह फूल का सौरभ है, स्वय को सहेजकर रखना चाहा नही, दुनिया की सेवा करेगी, आनन्द देगी, वही तो उसके आनन्द का सपना है।

क्या है उसका रास्ता? क्या योजना है उसकी? उसके लिए कितने तर्क-वितर्क उठते, सेवक अपने भीतर कलह लगाते अपने-अपने रास्ते की टेक उठाकर। उनमे चली धर-पकड, वे जिनके बड़े-बडे दिमाग हैं, खूब बल है, खूब पढ़े-लिखे है। छवि सोच रही है, वह सिर्फ हृदय का विश्वास और हाथों का काम समझती है, रास्ते-रास्ते उसके हाथ जहाँ तक पहुँचे वह आनन्द देती-देती जायेगी, मैं या मैं-पन का अहकार उसमें नही है, वह स्वयं को कर्म में विनियोग कर देगी।

रास्ते का कूडा साफ करना, यह भी काम ही है, किसी के आँसू या नाक पोछना भी। काम का कोई नाप नही, अपने चैन का माप है, वही उसका आनन्द है।

क्षितिज का घेरा बांधे है इस टीले के ऊपर का घना पेडों के झुरमुट का

अँधेरा; परन्तु छवि की आँखों के आगे झलमलाता फैला था अटूट नदी की बाढ़ का पानी, वही जो देखती-देखती आयी है।

कितने घर वहा ले गयी, कितने गाय-गोरू, भेड़-बकरी, जिन्हें लोगों ने युग-युग से सहेजकर रखा होगा, सब चला गया इस बाढ़ की लपेट में।

गाँव में तटवन्ध पर पड़े होंगे जोगी-बस्ती और पाण-बस्ती के लोग, नन्हें बच्चे को लिये सतुरा पाण की पतोहू यशोमती क्या करती होगी? कहीं सोयी होगी! याद आया कि अपने घर बुलाकर ले जाते समय कितनी सकुचाती-सकुचाती गयी थी। मूसलाधार बरखा में उजाड़ में खुले में, चाहे पड़ी रहे, ऊँची जात के आदमी के घर में भूमें में रहने की भाजन वह नहीं, यही विचार इतने जमाने के धर्म और न्याय की धारणा ने उसे दिया है! बेचारी!

इस तरह कितने अछूत, मैले-गन्दे लोग, साबूत तन पर कुछ भी जिनके नहीं, न सिर पर···और यह बाढ़ आ रही है उन्हीं का सत्यानाश करने!

टूटी छान पर बैठे बहते जा रहे होंगे लोग, पास न कोई सखा होगा न कोई सहोदर, पुकारने पर कोई आयेंगे नहीं, दूर किसी किनारे पर अँधेरी लकीर-सा टिमटिमाता प्रकाश बुझ जाता होगा, बस कल-कल, छल-छल करता पानी!

घनघोर बाढ़ का दृश्य वह देख रही थी, सहस्रभुजा होकर। वह वहाँ जुटी पड़ी थी काम में। किसी का बच्चा सँभाल रही है, किसी का हाथ पकड़ निकाल ला रही है, किसी को भोजन पकाकर परोस रही है। ओ हो! आदमी! कितने युगों का दुख है उसके भाग में? छलछलायी आँखें, सोचते-ही-सोचते मुँद गयीं। अबकी वह माँ की गोद में सोयी है।

आराम है; सुख है।

जितनी देर से चाहे सोयी, सुबह सबसे पहले वही उठी। बाद में भूली, परन्तु तब तक तो उधर का शिविर खाली। वे सब चले गये हैं यह देखने कि टूटी नाव की क्या स्थिति है। नीलम-सा दिख रहा है, सुबह का प्रकाश पूरा खुला न था। खंजन एक-दूसरे को आवाज लगा रहे थे। उस बाढ़ के पानी के घेरे में उजाड़ ढूह पर अटल-निर्विकार भाव से खड़ा था बज्रेश्वर का ईंटों से बना देवल। उस भोर में चारों ओर निगाह फेरी तो छवि के मन में भर गया अपार विस्मय। कल नाव से उतरकर ठीक देखने का समय नहीं मिला था।

मेघ बहुत टालते गये है, कल रात, और आज सुबह, पंच झाड़ा है दो बार—एक बार कोई मामूली-सी झड़ी हुई थी। आकाश की ओर दृष्टि घुमाकर छवि ने देखा, मेघ लदे हैं, किसी भी क्षण छलक सकते हैं। भीगी धरती पर यह जो पत्तों से चू पड़ती है टप-टप कर, यह एक-आध बूँद फिर विशाल जल-राशि में मिलकर कहीं किसी की बाड़-बाँध तोड़ेगी।

कितना सुनसान!

यहाँ एक दिन हलचल रही होगी। तब यहाँ रहा होगा बड़ा लोकालय, शहर या गाँव, और आस-पास भी बसे हों। अतः यहाँ यह देवल, इतनी मूर्तियाँ, इतने बग़ीचे। कहीं से पत्थर, कहीं से कारीगर, मास-मास बरस-बरस बीत गये होंगे, पत्थरों को खोद-तराशकर मूर्तियाँ गढ़कर रखने में। तब कितने महोत्सव, कितनी हरि-ध्वनि हुई होगी, उन्होंने विश्वास किया होगा, कि यह जो घर खड़ा किया गया, यह जो मन्दिर उठाया गया है, ये जितनी मूर्तियाँ जीवन्यास पा गयी है—रह गया युग-युग के लिए यह तब, यह थल भरा-पूरा रहेगा।

किसने तोड़ा? किसने उजाड़ दिया? क्या काले पहाड़ ने? पिता कहते है, जानकार लोग कहा करते हैं, कि जहाँ-जितने मन्दिर टूटे हैं, मूर्तियाँ विकलांग हुई है, सबको उसी ने चूर-चूर किया था। तो उसे बहुत समय लगा होगा, बहुत श्रम करना पड़ा होगा, दिन-रात कितने दूर-दूरन्त घूम-फिरकर पत्थरों के साथ युद्ध करना पड़ा होगा।

परन्तु उससे भी बड़ा और कोई है, वह काला पहाड़ नहीं, महाकाल है, जो लोहे को जर्जर कर देता है, काठ में दीमक लगा देता है, फफूँद भरता है, घुन लगा देता है, कुएँ धँसा देता है, भीत ढहा देता है, पत्थर के मन्दिर के शिखर पर कहाँ-कहाँ से लाकर पीपल रोप देता है, उसी ने तोड़े होंगे शायद!

धीरे-धीरे प्रकाश खुलता आ रहा है, छवि की आँखों में मानो वही विस्मय बनकर भरता जा रहा है, सोचती जाती है—क्या हुआ? कहाँ गया?

युगों के बाद युग बीतते गये, कितने घर, कितनी पीढ़ी के लोग! उसकी ही तरह असंख्य बेटियाँ पैदा हुई होंगी, घर बसाया होगा, चली गयी होंगी।

तारा की मूर्ति के पास झुककर देख रही है छवि। सोच रही है। कुछ उदासी-सी लगी। सच जैसे-जाना-पहचाना चेहरा हो, काला चमचमाता, लवनि मला हुआ-सा चमकदार, सिर पर सूक्ष्म कारीगर पर चिड़ियों की बीट। यही चेहरा—किसी की माँ या बहन का, इसी रूप को वह पत्थर पर खिलाकर देवता बना गये है। कोने से नज़र घुमाकर देखा था, छन-छन प्रकाश में वह चेहरा मानो उसे देखकर हँस रहा है—छोड़कर जाने को जी नहीं करता।

यह चेहरा तो लाड़ करने लायक है, आदमी क्यों इससे डरे, इसके पास पना उँडेले, धूना जलाये? केला की पत्नी अगर गोरी न होकर चिकनी स्याह होती तो ऐसा ही लगता उसका चेहरा। केला की स्त्री को यों वेश पहनाकर उजाड़ में बरगद के तले बैठाकर मन-ही-मन वह कौतुक का अनुभव कर रही थी। सोच गयी—सहज को असहज किये बिना मानो मानव मन को शान्ति ही न हो!

ढेर-की-ढेर ये मूर्तियाँ सिर्फ़ गढ़ी ही नहीं गयी होंगी, इन मूर्तियों में अवश्य प्रत्येक के साथ एक-एक को लेकर नाना कहानियाँ भी रही होंगी। कोई किसी

का बेटा-बेटी, भाई-बहन, किसी की स्त्री, कोई किसी का मित्र या आज्ञाकारी, बिलकुल इसी देश के, इसी स्थान के मनुष्य-समाज की तरह ही उन आदमियों की कल्पना में उन देवताओं का समाज, कोई किसी स्थान का अधिपति, कोई किसी के अधीन। जिस काल का समाज, वैसा ही देवता। वैसे ही नाना समाजों के, नाना देशों के, अवश्य होंगे।

युग-युग से उन्हीं असत्य देवों के पास सिर नवाते-नवाते लोगों ने अगणित पुकार लगायी होगी—घर भरो, शत्रु को मारो, देह नीरोग रखो, संकट काटो, बेटे-बेटियों को आदमी बनाओ। परन्तु काला पहाड चाहे भूल जाये, महाकाल किसी को नहीं छोड़ता। रोग आया है, बाढ़ आयी है, हैज़ा आया है, कोई चिरकाल के लिए सुख न भोग सका, कोई सदा जी न सका। किसी की सहेजी हुई चीज़ें सदा नहीं दिखती रहीं।

आदमी ने अपने हृदय की कामना और भय से धुल-मिलकर अपने जाने-पहचाने चेहरों के साँचों में गढ़े हैं—ये देवता। अपनी रीति-नीति, रुचि-अरुचि के अनुसार उन्हें समझने-न-समझने का क़ायदा भरा है, ख़ुद चले जाने के बावजूद भी रख गया है स्मारक के पत्थर। कोई उन्हें पूछता है, कोई नहीं, कहीं दीये की बाती जलती है, कहीं नहीं।

भृकुटी पण्डित कितने बेल के गोंद में जनेऊ माँजते हैं, कितने तिलक-छाप लगाते हैं, नाक से चीं-चीं करते मन्त्र पढ़ते हैं, परन्तु वे ही मुट्ठी-भर हाड़-चमड़ी धड़धड़ होते रहते, कमर लड़खड़ाती रहती, घर की अवस्था भी सुधरती नहीं।

धोबिन रूपेई की माँ में कभी-कभी 'वृझा' आती। वह हुकुम देती। कहती—"मैं वन देवी हूँ," उस बार जब उसका मन्त्रित पानी पीकर, बावन महान्ती की विधवा भावज उलटी करती मर गयी, बावन महान्ती ने आकर कितना कलह-झगड़ा किया था, चेतावनी दी थी, और रूपेई की माँ को 'वन देवी' नहीं लगी उसके बाद।

कन की माँ सात बस्ती गाँव-सयानी। वह किसी गाँव के बाबाजी के चित्र की पूजा दोनों जून किया करती है। बाबाजी के सिर पर एक झुण्ड घेरदार जटाओं का लदा है, दो हाथ ऊँचा, लम्बी दाढ़ी झूलते-झूलते जाकर मिल जाती है भालू की तरह छाती के जंगल से। बड़े मटके की तरह पेट। पलथी मारे बैठे हैं, नीचे बाघ की छाल बिछी है। बाबाजी को कभी कन की माँ ने देखा नहीं।

परन्तु उसका कहना है कि वे सब-कुछ देख सकते हैं, जान सकते हैं। काँच में बँधी बित्ते-भर की उस फ़ोटो को वहाँ स्थान पर रखकर कन की माँ दुनिया-भर के फूल लाकर चढ़ाया करती, धूप-दीप देती, गुड का भोग लगाती, पीतल की छोटी-सी घण्टी हिलाती टिंग-टिंग कर। फिर सिर्फ़ होंठ हिलाकर कोई मन्त्र बोलती-बोलती आरती करती, बाद में माथे को तीन-चार बार धरती पर

टिकाती। वह कहती, उसके बाबाजी स्वय अवतार हैं, अत: वह उनके चरणो मे तुलसी-पत्र चढाती।

भाँति-भाँति के बाबाजी। जात-जात के ठाकुरजी, युग-युग में, जगह-जगह। कौन-सी बात रुकी, बाढ या हैजा? उनके पीछे समय बीता है, भला-बुरा सोच-विचार रास्ता ठीक करते-करते आदमी के स्वाधीन विचार-बाधा पाकर अटकाव आया है। उनपर झूठा विश्वास, आँख मीचे निर्भरता, हाथ थामकर बैठे मन्त्र-जाप, माथा टेकना···

"दिलवा दो, करवा दो सब। उसके मन मे सुख भर जाये, धन पूर जाये।"

इसी तरह सोचती जा रही थी छवि।

इसी माटी तले कितनी ही वैसी मूर्तियाँ होंगी, कौन कह सकता है? कितने पूजास्थल, कितने यज्ञस्थल कहाँ-कहाँ नही होंगे। सिर्फ माटी तले ही क्यों, घर-घर मे वैसे ही, प्रत्येक आदमी के मन की कन्दरा मे, अधिक बुद्धि न लगाकर, अधिक परिश्रम न कर। फिर बार-बार रोग में, अभाव में, दुर्दशा में छटपटाकर आदमी विश्वास थामे है कि जादू होगा, मन्त्र कारगर होगा, अत' वह शक्ति-भर ढोल 'ढाँव-ढाँव' पीट रहा है, धूना गुग्गल जला रहा है, धरती पर सिर टेक रहा है, घी जला रहा है, उपवास करना है, फुकारता गरम साँस छोड मन-ही-मन सुनने की तरह इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर रहा है कि यह हो, अमुक मिले। होने पर कहता है, मेरे देव ने सुन लिया, वरना कहता है कि विधाता वाम है।

महाकाल घुन की तरह लगा हुआ है। रुकता नही।

ऊँचे-ऊँचे पेड़ों के उधर सूरज महाराज उग आये। पूर्वीय आकाश पर लदे मेघों मे सचमुच जैसे आग लग गयी! केवल भीगी घास, कुछ पेड़-पौधे, जगह-जगह दूह, चिड़ियाँ, तितलियाँ, कीड़े-मकोड़े हैं, आदमी, वह अकेला है। छवि की आँखो मे एक नया प्रकाश भर रहा है। वह इधर-उधर घूम रही है। समय का बोध नही है।

एकाधार में नाना स्रोत, एक छवि में नाना रूप, खीचा-तानी, छीना-झपटी करते आदमी इस सृष्टि मे सुन्दर है या असुन्दर?

मिल सका तो सुन्दर, श्रद्धा कर सका तो सुन्दर, नही तो इस मेले मे वह अचेत है, कुत्सित है; किसी का नही।

उसका पागलपन का मोद तोड़कर हलचल आयी आदमियों के कलरव की, और वह अपनी चेतना की स्थिति मे लौट गयी। बाढ़ आयी है। चेतना में फैल गया दिगन्तस्पर्शी गँदले पानी का प्रलय-समुद्र।

माँ क्या करती होगी? क्या सोच रही होगी?

वह जल्दी-जल्दी मुड़ गयी भीड़ की ओर। रवि नही पहुँचा है। पिता है, और

लोग हैं । "आ, चलें, बेटी !" पिता ने कहा।

टूटी नाव की मरम्मत हो चुकी है। उसी नाव पर खड़ा है रवि। उधर ढूह के कगार से चले आते दल की ओर देख रहा है। चेहरा चमचमा रहा है। उसके पीछे आबू की तरह मोटे पत्थर सरीखा जम्बू बेहेरा।

"आप लोगों को धोवेई भाई उस नाव में लेकर पाटेली गाँव छोड़ देंगे।" रवि ने कहा।

"हाँ, सही हो !" धोवेई मिश्र ने हँसकर कहा, "यदि रुकेंगे तो नसडीपुर या कंकालपाटना में रात में भेंट होगी।"

"बाढ़ के काम में क्या हम कुछ भी काम नहीं आ सकते ?" छवि ने धोवेई मिश्र से पूछा। यह लजा-सी गयी।

"आपके गाँव में तो बाढ़ है, आपकी अभी वहीं जरूरत है।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "हाँ, वही तो पहला काम है। गाँव में पहुँचते ही, मरद-औरत सबके लिए वहाँ काम है। आशीर्वाद दे रहा हूँ बेटे, आशीष, आशीष !"

दो नावें दो ओर चल पड़ीं।

दोनों दल परस्पर की ओर देखते खड़े हैं।

दूर जहाँ बाढ़ के समुद्र में ताड़वन ऊपर उठा है, वहीं रवि की नाव बायीं ओर मुड़कर अदृश्य हो गयी। छवि उधर ही देख रही है। पानी पर ताप नाच रहा है। बीच में कहीं थोड़ा-बहुत बाग़।

बड़ी-बड़ी आँख फाड़े रोही और दूल उस पानी को देख रहे हैं। अपनी देह पर सही गयी वही विभीषिका मानो पुनः आँखों के आगे साकार हो जाती है।

राणाबन्दी गाँव के किनारे से जाते समय घर के छज्जे तले औरतें नहा रही हैं, बच्चे पानी में छपाछप कर रहे हैं। कछुवे की पीठ सरीखे गाँव में ऊपर-नीचे कहाँ-कहाँ के लोग, गाय-गोरू ठसाठस भरे हैं।

तनिक हटकर शुआपोखरी के पड़िगियों का नारियल का बगीचा कमर तक पानी में खड़ा है। कितनी टूटी छान, पुआल के ढेर-के-ढेर, काठ, बाँस वहाँ अटके पड़े हैं। दूर से तैर आती है तीव्र दुर्गन्ध, मानो उबकाई दिलानेवाली। ऊपर अनेकों गिद्ध चक्कर मार रहे हैं, नारियल की फुनगियों पर पक्षी फड़फड़ा रहे हैं। अनेकों गाय-गोरू की लाशें नारियलों के तनों से उलझी हैं।

और कोई आदमी की लाश भी टँग गयी है, फूलकर कैसी दिख रही है, लम्बे काले-काले बाल उलझे जाल की तरह बिछे हुए हैं। पानी में पड़ती नारियल की फुनगियों की छायाएँ जुड़कर थिर सोयी हैं।

"यह क्या ? ए, क्या ?" छवि चीख-सी पड़ी।

कोई कुछ कहता इससे पूर्व धोवेई मिश्र ने बताया, "यह बाढ़ है। हाँ, सिरा

माड़ दो।"

पानी का बहाव काटकर नाव चली जा रही है। गरज से आकाश को थर्राता कहीं से अचानक दिख जाता है एक हवाई जहाज, भँवरा-भँवराकर घूम रहा है। सब उसकी ओर ताकने लगे।

इस साल बाढ़ आयी है, चारों ओर वही हलचल है, महानदी में पानी पहले सबसे ऊँचा जितना उठा था, उससे भी तीन हाथ बेसी गया है इस साल। ब्राह्मणी नदी में पिछले साल जो भयानक बाढ़ आयी थी, उससे भी चार हाथ ऊँचा गया है पानी। सौ-सौ घाइयाँ टूटीं, सैकड़ों गाँव समूल धुल-पुँछ गये, लाखों लोगों के घर-बाड़ी, गाय-बकरी, जीवन-भर की जमा पूँजी सब-कुछ बह गया, कितनी सौ लाशें इधर-उधर फैली दिखायी पड़ीं, वे सब बाढ़ से मरे या रोग से पता ही न चल सका; कितनों का तो अभी तक पता न चल सका, मरे या गये जगह-जगह पहाड़ों पर, टीलों पर, चार-चार पाँच-पाँच कोस के तटबन्ध पर आदमी कीड़ों-मकोड़ों की तरह भरे पड़े हैं, गाय-गोरू भी। बरसा ने मारा है, पीने को गँदला पानी, सिर पर छान नहीं, वैसे ही खुले में खड़े रहे चार-चार पाँच-पाँच दिन। कितनी जगह रेल के पुल टूटे हैं, जगह-जगह घाई के बहाव में रेल के नीचे जमीन कट गयी है, मीलों तक। कहीं रेल की पटरी अधर में लटक रही है, कहीं कोस-भर का रास्ता बह गया। रेल बन्द। गाय-गोरू की लाशें सड़-सड़कर जो दुर्गन्ध कर रही है कोस-कोस तक साँस लेना दूभर हो गया है। खींच ले जाने के लिए सियार-गीदड़ भी नहीं, वे भी मरकर तैर रहे हैं। जंगल से खिसक आये थे दो हाथी, तीन बाघ, हरिणों का झुण्ड, एक जोड़ा बड़े-बड़े साँभर। मर चुके थे। विराट्-विराट् पेड़ बह गये हैं। जहाँ गाँव के सटे लगे घर खड़े थे, वहाँ अथाह पानी का जमाव हो गया है। जिन गाँवों ने कभी अपने इतिहास में बाढ़ नहीं देखी, वे भी बाढ़ के दावँ में पड़कर अदृश्य हो गये हैं। इस बरस खण्ड-प्रलय मच गयी है। यही चर्चा लोग जगह-जगह कर रहे हैं, भीड़ की जगहों पर बीच-बीच में नाव रुकती। दिख जाते स्थल की ओर से बाढ़ देखने आये कई तरह के लोग, खबर और फ़ोटो लेनेवाले लोग। किसी के हाथ में कैमरा, किसी के दूरबीन, किसी की आँखें छलछलायीं, किसी के मुँह पर लाउड-स्पीकर। वहीं पानी के सहारे नाना प्रकार की तत्परता दिखायी पड़ती। कगार जहाँ खा गया है, बाँस गाड़कर बालू के बोरे-पर-बोरे लादे जा रहे हैं, ट्रक में लद-कर पत्थर लाकर ढेर किये जा रहे हैं, पानी के हिलोरों के साथ संघर्ष चल रहा है। नाना प्रकार के दृश्य। विपद् रहित आस-पास के भागों में थोड़ा-बहुत नाव में फिर आते। और वहाँ से सहायता भी मिलती। चिवड़ा, चावल वग़ैरह अन्यान्य

चीजें, दवाइयाँ। और कभी-कभी कार्यकर्ता आते। सचमुच जैसे स्थल के लोग सहायता करने झटपट उस जगह तक दौड़े आते हैं, उसके आगे फिर हाथ पहुँचते नहीं, पैरों को थाह मिलती नहीं।

फिर चल पड़ती नावें उस अटूट बिछे पानी की छाती पर, काले कत्थई आकाश तले मेघ ढुलकते, तूफान गरजता, जीभ लपलपाकर दहाड़ती कूदती लहरें कतार-की-क़तार आती, कहीं जलार्णव के बीच छोटे-छोटे ढूह पर अकेला-दुकेला पेड़, और वह भयावह दृश्य—टूटे-उजड़े गाँव, डूबी हुई बस्तियाँ, पानी कुदाती घाइयाँ, बिजली की गति का स्रोत, आँखें जहाँ तक जा पाती हैं, केवल सब बहता जा रहा है, कीड़े-मकोड़ों से लेकर घर की छान तक—हण्डी-कुण्डी, गाय-गोरू, बड़े-बड़े पेड़, नहीं तो पानी टपक-टपककर चीजें सड़ रही हैं, दुर्गन्ध भर रही है। खेत में धान सड़ गया है, सन खड़ा-खड़ा सड़ रहा है, पानी में डूबकर घास भी सड़ी जा रही है।

अचानक किसी पेड़ से किसी की आवाज सुनायी पड़ती, देवल पर पताका की तरह पेड़ों पर पताकाएँ दिखायी देतीं। पहचान के लिए आदमी संकेत कर रहा है। कहीं नाव देख तैरते-तैरते लोगों की धार आ जाती, छान टूटकर अटक गयी है, दीवारें ढही पड़ी हैं, कहीं टूटी दीवारें खड़ी हैं, आड़े पड़ी हैं, समूची साबूत एक भी नहीं। जगह-जगह थोड़े-थोड़े टापू में गायों की लाशें फँसी पड़ी हैं। कंकाल की तरह पड़े हुए हैं। जीते गाय-गोरू अवश होकर छलछलायी आँखों से बढ़ आते आदमी देखकर, नाव की ओर अपलक डबडबायी नीरव दृष्टि से कह जाती—अपना करुण इतिहास। उन आँखों में आशा की कोई कणिका दिखायी नहीं पड़ती।

वे नावें कभी एक जगह मिलती, कभी तीन दलों में बँटकर तीन ओर कहीं की कहीं बिखर जाती। तारीख़ या वार कुछ याद नहीं रहता, बादलों के अँधेरे में कब दिन उग आता, कब बुझ जाता, जीवन का यहाँ एक नया ही माध्यम है, कार्य की नयी परिभाषा है, नाव-ही-नाव पर जीवन, पानी-गारे में काम, लोगों को यहाँ से लेकर वहाँ छोड़ना, पास चीजें हुईं तो सहायतार्थ बाँटना और साहस बँधाना, सहानुभूति जताना।

तेरह दिन बीत गये इसी तरह। पानी घट आया था। घाई टूटने की जगह अभी भी नयी धार में पानी जा रहा है, पाट में, गहरे गड्ढों में, खेतों में अभी भी पानी भरा है। जहाँ-जहाँ से पानी हट रहा था उधर दूर-दूर कोसों तक चमचमाती बालू की परत बिछी दिख जाती, वहीं जहाँ एक दिन अन्न का भण्डार उपजाने-वाली धरती थी, कहीं दो-तीन पोरसा गहरा गड्ढा कर दिया है, पहले जहाँ घर-बार था, जमीन-बाड़ी, पेड़-पौधे थे। और जगह-जगह पटू फैल गयी है। चीन्ही धरती अनचीन्ही बन गयी, एक नयी सृष्टि—धुली जमीन; मड़ी फ़सल, निश्चिह्न

हुए निवास स्थल, कीचड़-दलदल से भरी धरती पर एक-एक हाड़-कंकाल, अब भी थोड़ा-बहुत मांस चिपका हुआ है, इधर-उधर कोवों और गीधों के समूह। ये बाढ़ छूटने के दिन ही विशेष असुविधा के दिन हुआ करते हैं। गाँव के किनारे पर नाव तो लग सकेगी नहीं, बैलगाड़ी भी जा न सकेगी, जिस गाँव में भी जाओ, कीचड़ होकर पैदल चलो, कहीं कीचड़ में घुटनों तक डूबना, तो कहीं छाती या गरदन तक पानी, चारों ओर भीगा चिपचिपा मैला-कुचैला। पंजे और अँगुलियों के बीच बालू भर जाती है, पिंडलियों में जोंक चिपट जाती है, मच्छर और मक्खियाँ बेशुमार भर गयी है, खाँसी, सर्दी, बुखार, दस्त थू-थू कर बढ़े जाते हैं, जगह-जगह हैज़ा आ पहुँचता है, उधर सहायता के लिए कोई साधन-सुविधा नहीं रह जाती।

उसी सड़ी-गली दुनिया पर सुबह-शाम घने कुहासे की भाप ढँके रहती, रात में इधर-उधर हिलती-फिरती डायनी लपट, कीच में चपचपाते ठूंठों पर नारियल की फुलगियाँ, ताड़ की फुलगियों या डालों की घनी छोटी-छोटी झोपड़ियों में प्रतीक्षा करते पड़े रहते भुनभुनाते आदमी, किसी का दस्त बहा जाता। खँ-खँ खाँसी सुनायी पड़ती, मरी हुई माँ के अनाथ बच्चे की रुलाई सुनायी पड़ती। कभी किसी उढ़काये किवाड़ों से गीदड़ घुसकर घूम-फिर चल देता। जहाँ थी ठँसे-ठँसे लोगों की बस्ती, वहाँ छिन्न-भिन्न-सा लगता। बस पानी, कीचड़, बालूचर। विध्वस्त मानव-सृष्टि के अन्दर किसी कोने में बूँद-बूँद मानव-गोष्ठी कहीं छुपी रहती, उसका पता भी नहीं चलता।

पता चलता सुबह होने पर, जब इस कुलच्छनी दुनिया में आदमी निकलता आहार खोजने, तब वैसे भूखों-नंगों के दल कहाँ-कहाँ से निकलकर धार लगा देते, कोसों लम्बी रिलीफ़-केन्द्र की ओर, पेट में लपलपाती भूख, आँखों में आग।

फूलशरा दल का स्वेच्छाकृत सहायता कार्य पूरा होने को आया। जो चीज़ें लायी गयी थीं, कब की दी जा चुकी। दूसरों पर भार न बनने के लिए दल के पास थोड़ी-बहुत ख़ुराक बची है, दिन में दो मुट्ठी खाकर किसी तरह काम चला लेने की बात। कितनी सरदी, खाँसी, बुख़ार, पेट दर्द झेला है। कितने दिन कितनी रातें बीतीं, कभी आँखें मुँदी नहीं। पूँजी चुकने पर भी काम रुका नहीं, पुकारने पर लोग हुँकारा भरते, जिसके पास है वे देने को आगे निकले हैं।

और आँखें छलछलायीं, होठ थरथराये, कितनों के दरवाज़े खुल गये। बाहर निकल पड़े कंगन-चूड़ी पहने जोड़े कितने हाथ, "आहा, लो, लो भई···"

अब लौट जाना पड़ेगा। बाढ़-सहायता-कार्य की चारों ओर व्यापक व्यवस्था हो चुकी है। सरकारी सहायता की व्यापक व्यवस्था चल रही है, उसके साथ मिल-जुल गयी हैं अ-सरकारी सहायता करनेवाली संस्थाएँ। देश पर इस विपद् की घड़ी में चारों ओर से कुछ-न-कुछ सहायता आ पहुँची है। एकदम काश्मीर से लेकर केरल, गुजरात, आसाम—सब प्रदेशों से। दान के साथ सहानुभूति का स्वर

एक साथ मिलकर प्रमाणित कर रहा है—भारत एक है, देश के लोग सुख मे दुख में एक है।

नदी मे पानी छूट गया है, बहाव तेज है। अब घर की ओर लौटना है। पहले एक नाव लौट गयी, बाद में एक और, दो दिन बाद तीसरी नाव में रवि लौट पड़ा। धोवेई मिश्र, बई मलिक, दधि अहीर, जम्बू वेहेरा और गुल केवट भी थे।

यही नदी, इतना पाट, इतने गाँव, इतने दिन की बाढ के काम मे परिचित हो गये हैं। फिर हो जायेंगे अनचीन्हे। वे देख आये रोती-बिलखती वेला का आकुल दृश्य। अगली बार वह दृश्य न होगा, वही चिरपरिचित गाँव-गली का दृश्य झलकता होगा—घर-बारवाला गाँव, छाती तक ऊँची फ़सल, झिक-झिक घास के मैदान में चरते निरीह गाय-गोरू—देवल से घण्टी आ रही होगी, पोखरी-घाट से गाली-गलौज की आवाज, बस्ता कांख मे दबाये चटशाला की ओर दौड़ते बच्चे।

वही बात रवि सोच रहा था, आगामी दिनों का चित्र आंक रहा था। सामने वही गँदले पानी का समुद्र, बांध-मेड आदि को लांघता अभी भी चला जा रहा है दिगन्त की ओर, केवल जगह-जगह किसी की कत्थई पीठ की तरह सडी फसल, सड़ी घास बहकर धरती पर उठी दिख रही है। खुरदरी सलेट की तरह आकाश और पानी। आकाश में चल रहे हैं काले-काले धुआँसे हलके मेघ, जगह-जगह वे काले झण्डों की तरह उड़ रहे है। उत्तरा खुल रही है, पानी मे खड़ा है नारियल का बगीचा, उसकी फुनगियाँ दाहिनी ओर झुकी है। उदास गम्भीर दृश्य है। दूर कड़ककर बिजली चमकी, नीचे से ऊपर तक साँप-सँपोले की तरह जल उठी।

जम्बू वेहेरा ने कहा, "दशहरा गया, क्वार-पूनम है आज, इन मेघो की आश मिटी नही, अभी और भी···!"

दिन-भर सूरज छुपा था, उसी मेघपूर्ण आकाश के पश्चिमी कोने मे मानो धान उसनने के लिए पत्तों की आग सुलग उठी हो थोड़ी-सी, उसका स्पष्ट रूप नहीं,
पँस
रहे
हों। थोड़ी-सी आग को तीन भाग किये दो काली पट्टी टँगी रही। दूसरे सिरे पर उगा कुआर पूनम के चाँद का उजास—बैटरी ख़त्म होती आ रही टार्च लाइट की क्षीण रोशनी की तरह।

पास-पास तैरते-तैरते गुज़र गये कितने गाँव, हुलहुली सुनायी पड़ी नही, क्वार-पूनम के गीतों की कही प्रतिध्वनि नहीं, सब ओर सुनसान है।

चाँदनी कुछ तेज हुई। अँधेरा-ही-अँधेरा दिख रहा था, सामने बालूचर, जगह-जगह चमचमाहट, टूटी छान, टूटी भीत, क़तार-की-कतार, ढेर-के-ढेर, और उन्ही पर अब चाँदनी झिलमिलाने लगी है। सब चुपचाप हो गये हैं।

सियार हूक उठे, मानो यह भी कोई एक रीत है जिसका पालन कर रहे हैं। कम ही हैं, दूसरी ओर से कोई पारी नहीं सँभाल रहा। सियार भी बाढ़ में बह गये हैं।

"फिर कब आओगे? फिर कब आओगे?" दिन में कितने ही गाँववालों ने आग्रह से पूछा था।

रवि ने शान्त रहकर याद किया, कितने चेहरे, कितनी विकल आँखें, कितनी मिन्नत!

वे सब उसके अपने हैं।

"वो जो रोशनी पास-ही-पास दिख रही है, वही तो पाटेली गाँव है।" जम्बू बेहेरा ने बताया। देखते-ही-देखते नाव मोड़ पर घूमकर निकल गयी।

इतनी भयानक बाढ़ आयी थी। तोड़ने नहीं, जोड़ने और गढ़ने के लिए।

गुनगुनी फागुन की दोपहर में तटबन्ध पर बैठा रोहीनाथ नयी बस्ती की ओर देखता सोच रहा था। डाल-डाल आक का झुरमुट गोल होकर उगा है, फीके बैंजनी फूल भरे हैं। पास में एक लम्बी गैंती पड़ी है। आक के पौधे पर हलद तितली और लम्बे-लम्बे भँवरे बैठे हैं। पास में एक अकेला कुल्थई रंग का कुत्ता है। बीच-बीच में इस झुरमुट से उस झुरमुट की ओर दौड़ जाता है। झूठमूठ ही हलचल खड़ी कर रहा है, तितली और भँवरे आक को छोड़ उसी के ऊपर-ऊपर उड़ रहे हैं।

"आ, पोटल," रोहीनाथ ने कुत्ते को पुकारा, "शैतान मत बन, थिर होकर बैठ।" पोटल छलांग भरकर दौड़ आया, कपड़े का सिरा मुँह में दबाकर वायु लगने की तरह सिर को बायें-दायें ओर से झटकने लगा।

कितनी बड़ी बाढ़ आयी थी, पोटल का तब जन्म भी नहीं हुआ था—रोहीनाथ ने सोचा।

"छोड़-छोड़!" उसने पोटल की पीठ को धीरे से थपथपाया। पोटल ने पीछे की ओर छिटककर फिर आगे कूदकर ठीक उसके मुँह के पास लाकर चाट लिया, बाद में उसके चारों ओर दौड़-दौड़कर नाना दिशाओं से उसके चेहरे और देह पर जगह-जगह चाटने लगा।

'धत् धेत्, तू उठता है या नहीं—' वह खड़ा हो पोटल की ओर ककर उठाकर दूर फेंक रहा था। वो उधर दूर तटबन्ध के ऊपर कोई धूल का बगूला-जैसा आ रहा है, घूमता-घूमता किनारा पार कर कछार पर उतर गया है। पोटल उधर ही दौड़ गया।

गाँव की ओर से एक लाल कुतिया दौड़ी-दौड़ी आ रही है। पतली कमर, पतली ही देह, नवेली-सी। पोटल ने दिशा बदली और उधर दौड़ गया।

गाँव की ओर से धीरे-धीरे घिसटता-घिसटता-सा चला आ रहा है 'नाला,' कभी वह पाण-बस्ती का विख्यात कुत्ता था। पिंजर के हाड़ हिल-डुल रहे हैं, देह पर रोम नहीं, सारी चमड़ी पर घाव भरे हैं, गरदन लड़खड़ा रही है। वह खड़ा-खड़ा आगे-पीछे झूलने लगा। और फिर धड़ाम से गिर पड़ा।

सच तो, पोटल भी 'नाला' की सन्तान ही तो है! 'नाला' कहकर बुलाते है, यानी सिंह-कुत्ता। कितने कुत्तों को गरदन से उठाकर झकझोरकर फेंक दिया है उसने। बन्दरों को तो यों लपक लेता था। बकरियों की गरदन मरोड़ कितने झगड़ा-फ़ौजदारी खड़ी कर दी है। दस बरस में ही उसका खेल पूरा होने को आया। गिर पड़ा था, फिर उठ रहा है, और एक दिन जो गिरेगा तो फिर उठ नहीं सकेगा।

रोहीनाथ ने गैंती उठाकर कन्धे पर रखी। मन में आगा-पीछा हो रहा है कि जाऊँ या नहीं। उसके दाहिने पैर में कोई ठूँठ टकराकर छोटा-सा घाव हो गया है, पाँव में दर्द हो रहा है, चलने पर पीड़ा होती है। इस वेला फिर वही पोखरी की खुदाई का काम। उसके जाते-न-जाते घर पर दाल-चावल-सब्जी-नमक-तेल का 'सीधा' आकर रखा होगा। ऐसे ही चलता आया है। डेढ़ बरस हो गया, काम करेगा तो खाने को मिलेगा, न करेगा तो भी। तभी तो जोर आता है। काम किये बिना वह भोजन पचेगा कैसे? दस लोगों का धन है, अकेले उसका ही तो नहीं। सच, जैसे शिव-निर्माल्य हो, ठगाई से वह हजम नहीं होनेवाला। वैसे ठगेगा भी किसे? धन बढ़ने पर उससे दस जनों का उपकार ही होगा। हल, बगीचे के लिए गड्ढे खोदना, खाद पटाना, बड़ी-बड़ी सब्जी को बाड़ी के लिए बाड़ खड़ी करना, घर बनाना, घरों पर छावनी-छप्पर करना, अनेक काम हैं। दम लेने तक की फ़ुरसत कहाँ!

सोचते-सोचते वह बन्ध-ही-बन्ध चलने लगा। उसने दूल के आगे कहा था, "इतना काम छोड़ घर पर चिपके रहना सामलाती के प्रति बेईमानी होगी, द्रोह होगा, पाप होगा, सामलाती आय कम हो जायेगी, सब पर क्षति का परिणाम होगा।"

दूल ने कहा था, "अकेले तुम न गये एक वक़्त तो इतनी क्षति हो जायेगी? और कोई नहीं है क्या? तुमने अकेले ही सारा सिर पर लिया है?"

उसने उत्तर दिया था, "इस तरह सोचने पर ही तो घर टूटता है। सब यही कहकर यदि घर पर बैठें तो ख़ूब सामलाती चली!"

बाद में वह काम पर आया था। पर कदमों में वही लड़खड़ाहट। अतः वह अलसा रहा था। सोच रहा था कम-से-कम इस वेला में रह जाता—। परन्तु फिर

वह स्वयं को दिलासा देता-सा आगे चल पड़ा। सोचा, होड़कर लोग वहाँ तो काम में लोट रहे हैं, कि कौन आगे बढ़कर अधिक कर सके। सबकी देह है, सिर है, पर काम करने के उत्साह में भूख-प्यास भुलाकर सब जुट पड़े हैं, अब अपने कष्ट को बड़ा मानकर पिछड़ जाना कितने शर्म की बात है! फिर खबर पूछने घर आ पहुँचेंगे कि क्या हुआ, फिर एक-एक को पैर उठाकर दिखायेगा; समझायेगा। क्या सोचेंगे वे! तुलसी लेकर ठाकुरजी के घर में सबने नियम लिया था—खाट में डाल दे ऐसा रोग न होने तक कोई काम का हरजा नहीं करेगा।

कुनकुनी धूप में कन्धे पर गैंती लादे चोट खाये पैर को घसीटते-घसीटते, लँगड़ाता-लँगड़ाता जब वह चला जा रहा था, उसके मन का उत्साह और पुलक चहक जाती। जाने कितने ही बरसों से मशीन की तरह वह अपना काम करता-करता ही तो जीवन बिताता आया है; सुख पाया है, परन्तु यह उच्छ्वसित आनन्द नहीं मिला था। बिना खाये-पिये पसीने में तर-बतर धूप से जलते-जलते वह गाँव में रामनवमी की यात्रा के लिए रावण का मंच बाँधता। वह राम-लखन-सीता के लिए पत्तों की कुटिया बनाता, पंचवटी सजाता, बाहर छावनी डालने के काम में लोट पड़ता, अण्टी से निकाल पान की गिलौरी मुँह में डालता, काँटों की तरह दाढ़ी पर हाथ फेरते समय कभी-कभी उसका मन आनन्द में भर उठता। यह काम सचमुच जैसे उसी तरह का लगता है, वरन् उससे भी बढ़कर। रामनवमी या रास या झूलन या भागवत-सप्ताह तो बरस में एक-एक बार—पर यह सुख तो अब सदा का है, जिस दिन पाटेली गाँव का इधरवाला भाग मिलकर एक हुआ, उस दिन से ही है।

लोग आपस में कहते तो हैं—"नखिया के बाद रोहीनाथ! वह कोई कम काम करनेवाला है!"

नखिया के प्रति उसके मन में कोई ईर्ष्या नहीं। जाति में पाण (डोम) है, उमर में कितना छोटा होगा, पर उसमें उत्साह भी है और उसके मल्ल की तरह देह का गठन भी है।

अब घर-घर में नखिया का नाम है—"यह नखिया ने किया है। देखा कितना सुन्दर है!"

"नखिया यह कह रहा था।"

"नखिया को बुलाओ।"

सबसे बढ़-चढ़कर नखिया ने नाम किया। पर थोड़ा ही सही, और कई लोगों के गये गुण भी फैल गये। एक-एक दिन की बात सोचें तो एक-एक कर कई लोग इस तरह आँखों के आगे आ जाते हैं। वे सब गाँव-भर के उपकारी भाई है, सब अपने-अपने उपाय से काम में जुटे हुए है। स्नेह बढ़ा है आनन्द बढ़ा है।

आया था फूलशरा का प्रभाव, भयकर बाढ की परवाह किये बिना, जान

हथेली पर लिये, परोपकार करने पहले वे ही लोग आकर पहुँचे थे, बाद में और लोग आये थे, परन्तु बज्रेश्वर के टीले पर का दिन—वह भूल न सका।

इधर पाटेली गाँव में पहले से ही काम कर रही थी सिन्धु चौधरी की बेटी छवि। अजीब थी वह बेटी भी! अब भी तो वह उस गाँव का जीवन-प्राण है। उसके साथ-साथ गाँव की और भी कितनी बहू-बेटियां निकल पड़ी थी। उनके पीछे-पीछे ख़ुद सिन्धु चौधरी, गाँव के और भी कितने ही बाल-वृद्ध-युवा।

दोनों स्रोत मिल गये थे—फूलशरा और पाटेली, उससे उपजा नया समाज, सब सामलाती में चलेंगे, डोम नहीं, जोगी नहीं, ब्राह्मण नहीं, कायस्थ नहीं, जिसकी मरजी हो मिले इस सामलाती में, खेती-बाड़ी, रोज़गार-धन्धा सब मिलाकर एक परिवार, इतने हाथ-पैर, इतने दिमाग़ सबके परिश्रम से जो मिलेगा सब एक जगह होगा, बांट-बूंटकर खायेंगे और सब चलेंगे, पोसने-पालने, हानि-लाभ के लिए सामलात ही दायी होगा, सब उसी सामलात के, सामलात उन सबका।

कैसे यह सम्भव हुआ, आज अचानक सोचकर बताया भी तो नहीं जा सकेगा, पर हुआ तो! सब मिले भी नहीं, गाँव में कई परिवार अभी भी आगे की तरह रहते चले आते हैं। पर मारे सामलात में हुए कुल साठ परिवार, और कई लोग इधर झुक रहे हैं। डेढ बरस भी हुआ नहीं, एक नयी सृष्टि।

दूर हो-हल्ला सुनायी पड रहा है, शोर आ रहा है। वहाँ वे काम कर रहे हैं। रोहीनाथ के मन में छन् से हुई। पैर का दर्द भूल गया, मन में उल्लास भर उसने लम्बी आवाज लगायी, "हो···ओ ओ···"

वे दूर हैं, फिर भी प्रतिध्वनि की तरह उसकी आवाज़ लौटती सुनायी पडी—"हो···ओ···ओ···"

उसकी उत्तेजना बढ़ गयी, पैरों की चाल तेज हो गयी।

मन-ही-मन मुसका उठा। उसके जीने का उद्देश्य है, वह अकेला नहीं या दुकेला नहीं, वह अनेक है। उसके गढ़ने के काम का कोई अन्त नहीं, एक काम पूरा होते ही दूसरा काम तैयार।

अपना साथी, परिवार या गाँव कहाँ से समझेगा! इस शक्ति का मूल! कहाँ पायेगा उसका अन्त!

कन्धे-से-कन्धा लगाकर काम कर रहे हैं आदमी, अतः अपने-आप यह पहाड़ उठ गया है। बाढ़ में सारी सृष्टि का सत्यानाश हो गया था, पर अब उसके और वर्ण-चिह्न कहीं नहीं। उन्होंने रात-दिन एक कर बालू हटायी, जमीन खोद-खाद ठिकाने लगा रहे हैं, क़तार-की-कतार नये घर खड़े कर रहे हैं, पहले से अच्छे, खुले, साफ़-सुथरे। जोगी-बस्ती के पास पाण-बस्ती, वहाँ भी वैसे ही घर, ऊँचा चबूतरा, तुलसीचौरा, अब और टूटी-फूटी मड़ैया नहीं, बाँके-टेढ़े जरा-जरा से आँगन नहीं। खुला रास्ता। दो बस्तियों के बीच सामलाती घर कतार-के-कतार,

सामलाती गोदाम-घर, जहाँ धान रखा जाता। सामलाती भण्डार, नाना चीजें भरी है, चावल, दाल, नमक, तेल, कपड़ा-लत्ता। यहाँ तक कि ज़रूरत का काठ भी सहेजकर रखा है, उसी बीच सामलाती बस्ती के उत्तर की ओर एक जगह सामलाती गुहाल, गाय, भैंस, भेड-बकरियाँ। सामलात के झुण्ड एक साथ चरने निकलते या लौटते समय देखने-भर से पेट भर जाता। सामलाती बैलगाड़ियाँ बस्ती से बाहर जाती, बस्ती को लौट आती। बड़ी-बडी बाडी-बग़ीचा घेरे हैं, बड़े-बड़े बाग लगाये गये है, ज़मीन के बीच असख्य मेड़ या बाड़ नही, पानी रहने या निकालने की सुविधा देखकर चकबन्दी कर खेत बनाये गये है। भेप या साफ़-सुथरापन देख कोई नही कह सकेगा कि कौन जोगी है और कौन डोम। डोम कभी गौ-मास खाते थे। सच, वो बात जैसे याद भी नही।

जोगी-बस्ती मे मुर्गा खाना नही चलता, अतः वे स्वयं ही जान-बूझकर न खाते है और न पालते है। बस्ती मे तीन कुएँ है, मझले कुएँ से पाण-जोगी दोनो पानी भरते है। एक जगह साँझ को कीर्तन होता है, पाणों के ढोल-महुवरी के साथ जोगियो का केन्देरा स्वर मिलाता, सामलाती में और भी कई जाति के लोग है, जो लोग अपनी सम्पत्ति-बाड़ी भी सामलाती मे मिलाकर अपने-अपने घरो मे रहते है, उनमे से कोई चला जाता तो उस सकीर्तन पगत मे मिल जाते।

देखते-ही-देखते अपने आप समय बदला है। सिन्धु चौधरी की अवैतनिक चटशाल और भी बढी है, वहाँ सामलात-भर के बच्चे है, फिर गाँव के और भी कई बच्चे आते है।

वह काम चल रहा है। एक साथ पचासो लोग होगे। बीस-तीस स्त्रियाँ। गैती उठती है, गिरती है। धूप की उन्हे कोई परवाह नही। श्रम की परवाह नही। उन्ही पसीने मे तर-बतर पास-पास तगड़े लोगो को देख रोहीनाथ की आँखे मानो लुभा गयी, छाती लुभा उठी।

साँझ के समय दुकानदार हरि साहू आया। साथ मे आर्त अमीन है, अगणिराय है। ऐसे ही कितने देखनेवाले आते रहते है। हरि साहू हँस रहा है, उसकी छोटी-छोटी आँखें टिमटिमा रही हैं। आर्त अमीन गम्भीर है। किसी ज़माने मे गाँव के जुगाडिये अगणिराय के चेहरे पर अविश्वास की बाँकी मुसकान। खुद रही पोखरी के पास पहले स्वागत किया सुतरा डोम ने। कहा, "पालागी!"

हरि साहू ने कहा, "गैती कोई मिलती तो मैं भी यहाँ थोड़ा-बहुत झाड़ देता। दोगे, है क्या?"

अगणिराय ने कहा, "पर एक बात है।" उसकी तोद की ओर हाथ दिखाया, "यह थोड़ी अड़चन करेगी, और उमर भी, साठ तो पार कर गये।"

आर्त अमीन ने ज़बान नही खोली, सूखे चेहरे से देखते रहे। हरि साहू ने कहा, "देखेगे, देखेगे, ठहरो!"

रघुनाथ चला आ रहा था, सामने पड़ गया। कहा, "सदा केवल ठहरो, ठहरो ! सामलाती-सामलाती मुंह से कहते हो, इतना मतलब सबको समझाते हो, अपनी वारी आने पर वही अलग-के-अलग।"

गैंती चल रही है। कडी-चेमड-मरदानी देह। मासल नसें फड़कती, गोल-गोल लोहे के पिण्ड की तरह मास के पिण्ड हिल-डुल रहे है, नाच रहे है। पसीना टप-टप चू रहा है। यही उस देह का चरम गौरव है, श्रम की यही आभा उसकी ज्योति है।

प्रकाण्ड चौकोर के चारों ओर छाती तक की ऊँचाई पर माटी का ढेर लगा है। स्त्रियाँ टोकरियाँ भरकर ढो रही है। एक दल आ रही है, एक दल जा रही हैं।

वह वहाँ वेलिया रघुनाथ ! बीच मे वो नखिया डोम, वीर पुरुष की तरह मिट्टी के साथ लड़ रहा है, उसके चौड़े कन्धे मानो और भी चौड़े हो गये है। गैंती को ऊपर उठा नचाकर गम्भीर हुकार करने-करते चोट कर रहा है। उसके पास वो रतना डोम है, ततैया की तरह लगा हुआ है। जुटा हुआ है धोबी जुजेष्टी सेठी, उसकी ठोढी के सफेद बाल चाँदी की तरह चमचमा रहे है; और बिका मुदुली, चेमेई बेहेरा, कण्डरा कुलि मलिक, यदु बराल, धन परिडा, भगत महारणा, सदा गोछेइत, नाभ पण्डा, चन्दरा अहीर, नारण महान्ती है। सुदर्शन दास का लड़का शशी भी गैंती लिये माटी खोद रहा है, पहले कितना चुलबुला था। उसके पिता अब भी सामलाती को पसन्द नही करते, परन्तु वह अपनी श्रद्धा से सामलाती काम मे मिल गया है। ऐसे ही कितने चीन्हे-चीन्हे चेहरे !

अन्यान्य स्त्रियों के साथ मिलकर टोकरी मे माटी ढोकर ला रही है छवि, सिन्धु चौधरी की वेटी। आँखो को सहन हो गया है, परन्तु यह रूप देख सम्भ्रम से सिर झुक जाता है।

जमाना उलट गया है !

काम नही, मानो समुद्र पुकार रहा है। रोहीनाथ उसमे मिल गया। अगणि-राय ने हरि साहू के लिए उत्तर दिया, "बाढ के समय से पोखरी खोदने तक इतना दे-देकर भी साहूजी, तुम्हारी आकाक्षा मिटी नही कि इनके साथ सारी सम्पत्ति मामलात करने की बात कहते हो ?"

हरि साहू ने कहा, "नही, नही, कौन क्या उँड़ेले दे रहा है जो इतना भर रहा है? किसने दिया ? किसने लिया ? यहाँ किसका क्या ?"

सतुरा डोम ने कहा, "ये वात ही कितने साहस की है ! आप धरमी पुरुष है। ग़रीब-दुखियारो के लिए आपका भण्डार खुला है। सामलात मे होना या न होना तो अपनी रुचि की वात है, मन की वात है, जिसकी जैसी इच्छा।"

आर्त अमीन ने इतनी देर वाद मुंह खोला। कहा, "अरे गाँव-भर का खूँटा

एक है। वह ढरक गया तो समझो, गज उठ गया। सब एक साथ पागल हो जायेंगे।"

हरि साहू ने कहा, "यह जीव अपने साथ कलह कर रहा है। हामी भरता है, फिर सत नहीं पूरा पड़ता, पिछड़ जाता है। पर यह युद्ध और अधिक दिन नहीं चलता दिखता, वरना मन यहाँ क्यों खींच लाता? देखो ना? बस समझ लो यह चन्द्रभागा नदी में डुबकी लगाना[1] है, डुबकी के लिए मन पुकारता है, पास तक जाता है। फिर सोचता है ठण्ड लगेगी, रात है, जाड़ा है।"

अगणिराय ने हँसकर कहा, "हाड कँपाती ठण्ड, रात तीन पहर की डुबकी। और पानी भी कैसा है?" "क्या कुछ तैर रहा है उसपर?"

हरि साहू ने कहा, "क्या तैर रहा है तुम छानते रहो, देखते रहो जी-भर, मेरी आत्मा आवाज देगी तो मैं डुबकी लगा सकूँगा।" बात घुमाकर कहा, "अख़बार में क्या निकला है, जानते हो? फिर एक ढू।" हरि साहू की अखबार के प्रति आसक्ति सब जानते हैं, वही उसका विलास है।

आर्त अमीन ने कहा—"ढू?"

हरि साहू ने कहा, "फिर किसी ने वह एटम बम परखने के लिए फोड़ा है किसी सूने बालूचर के अन्दर। वह विष हवा में उड़ते-उड़ते आ रहा है।"

सुननेवाले जमे थे। हरि साहू ने कहा, "सब अपने-अपने बढ़ने की चेष्टा में अपना-अपना रास्ता पकड़ेंगे तो यही होगा। एक साथ मिल-जुलकर एक घर की तरह इस सारे जगत् को ज़ोर लगाने की जरूरत है। हम काले-गोरे-हलद-भूरा सब एक घर के हैं, ये एटम-फेटम हाथ-हथियार सब पानी में फेंककर जाओ, यह विज्ञान-अज्ञान जला दो, इसे बन्द कर दो, ताकि हम शान्ति से रहें।"

"सच! सच!" लोगों ने पारी सँभाली।

अगणिराय ने हँसकर कहा, "तुम्हारी आवाज वे सुनें तो कुछ हो।"

हरि साहू ने कहा, "मतलब?" वे दहाड़ उठे, "ये आदमी एकजुट होकर यहाँ आवाज लगायेंगे तो आकाश में इन्द्र का आसन भी डिग जायेगा, अनन्त के फन पर महापुरुष का आसन हिल उठेगा, कहते हो सुनेगा नहीं?"

साँझ डूबती-डूबती जा रही थी। धूल उड़ाते लौट रहे थे गाँव के सामलाती के झुण्ड, साथ में चरवाहे भी थे। हरि साहू उधर ही स्नेह से देख रहा था। बिल-बिलाता-सा कहने लगा, "मेरे गुहाल में से एक जोड़ी बैल कल इनके साथ शामिल होगा और एक दुधारू गाय भी। कल भोर में···"

अगणिराय, आरत अमीन ने एक-दूसरे की ओर देखकर नाक-भौं सिकोड़ी, औरों ने हर्षध्वनि की। बाद में सबके कान खड़े हो गये, रास्ते की ओर से हूँ-हूँ

1. माघ शुक्ला सप्तमी के दिन कोणार्क के पास चन्द्रभागा नदी में सूर्योदय से पूर्व डुबकी लगाने का माहात्म्य है।

गाऊँ-गाऊँ की आवाज नजदीक आती जा रही थी। गायें भिड़क गयीं। बाद में जीप दीख गयी। आ रही है उधर ही, गड्ढे में मे लोग निकल पड़े और उधर खड़े देखते रहे। जीप आकर थम गयी। ऊपर का आड़ा काँच लकीर-लकीर हो फटकर चिपका हुआ, एक तारे के चित्र की तरह, दिख रहा है। नीचे रोशनी का एक काँच नहीं था, मानो एक आँख से कानी है और वहाँ खोखर है। पिछवाड़े में चीजें भरी हैं और तारपुलीन से ढँकी ट्राली जुड़ी है। तीन जने उतर पड़े, पीछेवाला चपरासी की पोशाक में है, मझला धोती-कमीज पहने प्रौढ़ सज्जन, और आगेवाला गोरा हड़ीला लम्बा छरहरा आदमी, चेहरा दोनों ओर पुँछा होने की तरह, उनका फीका मटियाले रँग का पैण्ट, उसपर बाँहोंवाली चमकती तोतई रंग की हवाई, मुँह से सुलगती सिगरेट को बायें हाथ की तर्जनी और मझली अँगुली के बीच पकड़ वे बोले, "यही पाटेली गाँव है तो ? मैं विकास कर्मचारी हूँ।"

रवि के मित्र विकास-कर्मचारी विपिन ने रात वही सामलाती बस्ती में काटने का फ़ैसला किया। खुली साफ़ बैठक में उन्हें ठहराया गया।

चपरासी ने विपिन के कान के पास झुककर फुसफुसाते हुए कुछ कहा, और विपिन क्लान्त की तरह पीछे की ओर लुढ़ककर छान की तरफ ताकता सिगरेट का धुआँ छोड़ने लगा। बाद में सामने देखकर हँस पड़ा, "क्या इस गाँव से मुर्गों का बिलकुल वंश ही साफ़ हो गया !"

सदा गोछेइत ने हाथ जोड़, सिर नवा अति विनय से कहा, "जी हुजूर, पहले रखते थे, झुण्ड-के-झुण्ड थे। रुपये-दो-रुपये लेने-न-लेने की कोई बात नहीं, आप कोई सदा थोड़े ही पधारते हैं ! वे रुपये लेकर कौन-से हम घर खड़ा कर लेते या बिना लिये कौन कंगाल हो जाते···!"

विपिन ने हँसकर चपरासी से कहा, "नहीं, नहीं, दाम दिये बिना हम चीज नहीं खरीदते। क्यों, क्षीर, दाम की बात कही है तो ?"

सदा गोछेइत ने कहा, "हुजूर, क्या पैसे देते नहीं ? बाढ़ में तो सब बह गये, उसपर हमारा यह ठहरा सामलाती गाँव, यहाँ के जोगी मुर्गा नापसन्द करते हैं, एक साथ जब हम सामलात में हैं तो अलग में कुछ करने से फ़ायदा ?"

विपिन कौतूहल से आगे उचककर उठ बैठा। यह धारणा उसे खूब विचित्र लग रही थी—सामलाती गाँव ! डोमों ने जोगियों की रुचि का ध्यान रखकर मुर्गे नहीं पाले !

उसने कहा, "परन्तु तुम लोगों ने क्या सामलात बनाया मुर्गा छोड़ने के

लिए ? तुम लोग आगे और आगे बढ़ने की बात कर रहे हो पर घिसक रहे हो पीछे, क्यों ? मुर्गे का मांस, मुर्गे के अण्डो मे कितना बल है, उसे क्यों भूल जाते हो ?"

उसके निचले कर्मचारी टक बाबू ने उसकी बात का समर्थन कर जल्दी-जल्दी सिर हिलाते हुए कहा, "सचमुच, बात तो ठीक है, तभी ये सारे पुष्टिकर खाना खिलाने और बांटने का भार महिला समिति पर दिया जाता है।"

विपिन ने कहा, "तो मै नोट कर लेता हूँ कि आप लोग महिला समिति का गठन करेंगे और फिर महिला समिति मुर्गे पालेगी।"

बूढ़े सतुरा डोम ने खड़े होकर कहा, "हुजूर एक बात है। औरतें इस काम में क्यो फँसेगी ? वे तो ठहरी घर की लक्ष्मी !"

विपिन ने कहा, "अरे बाबू, वे ही घर की लक्ष्मियां मुर्गा खायेंगी, अण्डा खायेंगी, गोल-मटोल होगी, सब कामों के लिए मजबूत होगी।"

सतुरा ने कहा, "पेट बढेगा, हृदय से दया नाम का शब्द सूख जायेगा।"

रघुनाथ ने कहा, "माँ-बाप-जैसे देख-सीखकर बच्चे भी वैसे ही होंगे। वे बच्चे जब आदमी होंगे, अपने बच्चो को पालेंगे, और किसी की ओर देखेंगे भी नही। भाई-भाई अलग होंगे, घर टूटेंगे, कलह-झगडा बढ़ेगा। आमिषता अपना स्वार्थीपन सिखाती है, हिंसा सिखाती है। देह को पुष्ट करने से क्या हुआ, मन को तो बिगाड ही देती है, उसी का नाम तो है 'कढ़ी बिगाड'।"

"यह तो अच्छी बात है। तब फिर मछली क्यो खाते हो ?"

रघुनाथ ने कहा, "वह न खाये तो और भी अच्छा होता। इस पृथ्वी पर कोई अगर मास-मछली न खाते तो स्वतः दया-धर्म बढ़ता, इतना युद्ध-कलह-जंग होता नही।"

विपिन ने कहा, "तो सुनो, मुर्गे के बारे मे न चाहें, हवा तो अपने मन से फैलती है, स्वतः आयेगी। यह बात अगली बार पर रही। अच्छा, कहिए, यहाँ पहले एक पचायत की जरूरत है, आप लोग अपने प्रतिनिधि चुनेंगे, वे बैठक कर हानि-लाभ का विचार करेंगे, उन्हें आप मदद देंगे। गाँव में विकास का काम होगा।"

सतुरा ने कहा, "हमारे यहाँ लिखा-पढ़ी कुछ नही है, पर हम सब मिलकर एक परिवार सरीखे सामनात मे चलते हैं, अबतक हममे अन्तर आया नही, सबका एक ही मत है।"

टक बाबू ने कहा, "लिखा-पढ़ी न हुई तो फिर काहे की पचायत हुई ? कानून के मुताबिक कौन है आपका प्रतिनिधि ? दायित्वधारी कौन है ?"

अनेक आवाज एक साथ आयी, "हम सब !"

विपिन ने कहा, "अरे बाबू, यहाँ विकास कार्य के लिए जब सरकार ऋण-रुपये देगी, तब दस्तखत कौन करेगा ?"

सदा गोछेइत ने कहा, "सरकार हमारी माँ-बाप है, हम सब मिल गये तो सरकार ! हम चाहते हैं कि पहले हमारे हाथ-पैर काम करें, ख़ुद जो कर सके सो कर गुज़रें, फिर सरकार से मदद लेने की बात आती है। सरकार हमपर अगर दया करे तो अनुष्ठानों की स्थापना करे, जैसे कि अस्पताल, पशु-चिकित्सालय, कृषि-फ़ार्म और नाना प्रकार के पाठ बताने, बुद्धि देने के अनुष्ठान। हम अपना काम करते जा रहे है, सरकार अपना उपकार बरसाती जाये।"

विपिन ने कहा, "आप लोगों के पास पैसों का उतना बल कहाँ कि कीमती चीज़ें खरीदकर जल्दी-जल्दी उन्नति करते जाओगे ? इसके लिए आपको ऋण लेना पड़ेगा। केवल अपने सींगों से माटी खोदते-खोदते युग बीत जायेंगे, आपके पास धन कहाँ ?"

रोहीनाथ ने कहा, "माँगकर खाते-खाते तो आधी उम्र बीत गयी, अब खट-कर खाने को जी करता है।" सब हँस पड़े।

मथुरा ने कहा, "हुज़ूर, केवल हमारे गाँव में दो दिन टिककर देखें—"

टक ने कहा, "हाँ, और नहीं तो क्या ? सात हज़ार तीन सौ गाँवों में तुम्हारी यह एक बस्ती ! हुज़ूर के यहाँ दो दिन रुके बिना थोड़े ही चलेगा !"

सतुरा ने कहा, "हमने तो एक बात जानी है, पहले मन एक हो, श्रद्धा एक हो, सुख-दुख सामलाती हो, सब इस बात को समझें कि वे एक नहीं दो खण्ड है।"

विपिन ने कहा, "मना कौन करता है ? योजना की यही तो नींव है, असल में।"

रघुनाथ ने कहा, "आप कहेंगे, पंचायत गढ़ो, हम तो ख़ुद पचायत हैं। आप कहेंगे टिक्कस बैठाओ, हमारा तो सब सामलाती है, सारी कमाई समझो पचायत की। आप कहेंगे, लोगों को ऋण देन-लेन के लिए भण्डार करो, सोसायटी करो, हमारी तो सारी सम्पत्ति मिलकर भण्डार, सोसायटी, उसे चाहे जो नाम दें। सब सबका, सब तो सामलाती काम करते हैं। जो मिलता है बाँटकर खाते हैं, जो उबरता है वह भी सबका। यही नींव हम लगा रहे है, फिर कोई बड़ी योजना आपकी, हम कोई इनकार करते है ?"

विपिन ने कहा, "ये तो आदर्श है। पर माटी-गारे की दुनिया में कितने दिन टिकेगा ?"

सतुरा ने कहा, "अगर यह न रहा, तब किसी योजना के लिए नींव कौन-सी रहेगी ?"

विपिन ने कहा, "बहुत बड़ी-बड़ी तत्त्व की बातें कहे जा रहे हो, कानों को अच्छी लगती है। पर ससार में जैसा होता है, जो चलता है, वैसी बातें करो। ऋण लेने को लोग लट्टुमलट्टा हो रहे है, और आप लोग उलटे जिरह कर रहे

है ?"

सतुरा दबा नही । बोला, "पोला धन सारे अनर्थ की जड़ है । लोग आलसी होंगे, हाथ-पर-हाथ धरे 'आँ' किये बैठे रहें कि कब ऊपर से बरसे और काम चले । अपने-अपने बीच वाद-विवाद दिखायी देगा । ख़ुद से क्या हो सकता है सो तो परखेंगे भी नही । और एक बात है बाबू, जिस थोड़े-से को पाने के लिए परिश्रम नही करना पडा, उसकी सही कीमत क्या है, उसे कैसे गाँठ बाँधकर रखा जाये, उससे किस तरह सोलह आने उपकार उठाया जाये—इस बात को लोग बूझे तो ? अपने हृदय के अन्दर से विचार न निकलने तक आप बाहर के कितने रखवारे भेजेंगे ?"

विपिन ने कहा, "सो तो ठीक है, पर आपका सोचने का रास्ता थोड़ा कैसा तो अटपटा-सा लगता है । कुछ उलटा-पुलटा-जैसा लगता है ।"

रोहीनाथ ने कहा, "उसमे क्या है ? आप भी हमारे साथ बैठकर सोचें, हमारे विचार भी साफ़ हो जायेंगे । जो अच्छा दिखेगा वही होगी हमारी योजना । हमारे लिए क्या अच्छा है, हमें क्या जरूरत है—यह बात तो पहले हम थिर करें । योजना तो शुरू होगी पहले किसी प्राणी से, उससे फिर सारे गोठ-भर के लिए, और तब देश-भर के वास्ते ।"

फिर विपिन और टंक ने एक-दूसरे की ओर देखा । विपिन ने कहा, "जिसने तुम्हे समझाया है, अच्छी तरह समझाया है । शुरूआत भी कोई बुरी नही, बस काम हो सके तब हो ।"

बाद में बात बदलकर कहा, "पानी पम्प बठाओ, इंजिन से चलेगा, अच्छी फ़सल होगी ।"

रघुनाथ ने कहा, "खेती जितनी है वह तो ढेंकली के लिए ही कम पड़ेगी, सारे खेतों में ढेंकली लगा दी हैं, कुआ (चुंडा) खोदे गये है । हाथ से न उबरे तब तो मशीन लगे ।"

विपिन ने कहा, "चूरा दूध एक डिब्बा दिये जाता हूँ, उबालकर बच्चो को खिला देना । पैसे नही लगेंगे, यह दूध का चूरा बाँटने के लिए विदेशो से आता है । अमेरिका के लोगो ने हमारे देश के लोगो की ख़ातिर श्रद्धा से भिजवाया है ।"

कंगालीनाथ ने कहा, "यह श्रद्धा सदा रहेगी तो ? या यह चीज हमारी जीभ को भा गयी तो फिर कहेंगे कि खरीदो और खाओ ।"

टंक ने कहा, "बहुत सन्देही लोग है ये तो !"

विपिन ने पूछा, "पाटेली गाँव मे अमेरिकनो का क्या उद्देश्य हो सकता है ?"

कंगालीनाथ ने कहा, "हम तो उन्हे बिलकुल ही नही जानते । उनका कोई उद्देश्य है या नही, सो कौन कह सकता है ? पर, जो कोई कुछ कहकर उँडेल जाये, आदमी उसे यो ही ग्रहण कर ले ?"

विपिन ने कहा, "उनका देश धनी है। लोग खा-पीकर सुख से रहने के बावजूद उनके यहाँ बच जाता है। दूसरे अभाववाले देशों को सहायता करने के लिए आजकल कितने-कितने देश आगे बढ़ आ रहे हैं।"

कंगालीनाथ ने कहा, "कहीं थोप के अन्दर बसी का काँटा तो नहीं? तब फिर क्या होगा? इनसे सहायता लेने पर ये मुँह फुलायेंगे, सहायता देनेवालों में लगेगी तेरी-मेरी, खुनस भी पैदा कर देंगे।"

हँसते-हँसते विपिन ने कहा, "आप तो बहुत तरक-मरक की बात करते हैं बाबू! सुनते हैं तो टक बाबू? लो देखो गाँव के लोगों की बुद्धि। कहाँ से ये सारी बातें पढ़ आये?"

टक ने कहा, "अरे बाबू, इन बातों में क्या रखा है? चूरा दूध पानी में घोल-उबालकर देश-भर के बच्चों को पिलाया जा चुका है। उनका वजन बढ़ता है, आप लोग भी लें, वही करें।"

मुतरा ने कहा, "हमने गायें रखी हैं, बकरी रखी हैं, कमो-बेस बच्चों का गुजारा हो ही जाता है, हमें वो नहीं चाहिए।"

रात बहुत अधिक हो चली थी। चपरासी बुलाने आ गया था, ठौर हो चुकी थी। विपिन ने कहा, "खैर जो हो, जी खोलकर बातें तो कर ली, फिर कभी और चर्चा करेंगे। यह आलोचना ही है, वैसे देखा जाये तो, योजना की मूल बात यह है कि पहले बात-चीत हो उस पर, कि किसे क्या सुहायेगा, किसे क्या रुचेगा, किसे क्या दरकार है, ये सारी बातें जानने के बाद योजना बनायी जाती है। नीचे से गढ़-गढ़कर ऊपर भेजी जाती है। इसके लिये आप लोगों को धन्यवाद। यहाँ जैसी गोष्ठी गढ़ी जा रही है, उसके बारे में मेरे मन में पहले से ही कुछ-कुछ धारणा है। फूलशरा के काम के बारे में मैं जानता हूँ। रवि मेरा मित्र है। एक नया रास्ता है, बाद में क्या होगा, मैं नहीं जानता। फिर इस पथ की मूल नीति, मूल चिन्तन और हमारे मतों में कई बातों के सम्बन्ध में मतभेद भी है, दोनों ओर से देन-लेन चलेगा, यहाँ भी योजना का कार्य होगा। मेरी इच्छा है, यहाँ योजना-कार्य आदर्श बनकर चले, ताकि और लोग भी देखकर सीखें। हम योजनावाले नाना उन्नति-मूलक काम कराते हैं ताकि उनसे लोगों में सामूहिक चेतना जागे, यहाँ तो सामूहिक चेतना का काम हो चुका है, उसपर विकास का काम भी यहाँ चल रहा है। रास्ता बहुत बाकी है, यह तो केवल शुरूआत है। कार्य की भी शुरूआत, और अपने सम्पर्क की भी शुरूआत, लम्बा काफी रास्ता..."

विपिन खड़ा-खड़ा सारी कोठरी में घूम-फिर सपने में बिलबिलाने की तरह बातें कहे जा रहा था। उसके चेहरे पर उत्तेजना की आँच फैल रही थी, हाथ और हथेलियाँ झटक रहा था। हिल रहा था समूचा। वह अस्थिर-सा लग रहा था। टक उठकर उसके चेहरे की ओर देखने लगा। वहाँ न मजाक करने की अधखिली

हँसी वाली भंगिमा थी, न उसाँस भरकर अलसाने की तरह मुद्रा थी, उसमें मानो
कोई दीप जल रहा है, कहीं बाहर उसी की धाँस आ रही है।

उसका यह रूप कभी-कभी टक की आँखों में पड़ा है। वह अचानक निकलता
तब टक सोचता, यही, जो आदमी बँधी-बँधायी लीक पर सँभल-सँभलकर चलता
है, चिकनी-चुपड़ी और नपी-तुली बातें कहा करता है, किस तरह ऊपर की सीढ़ी
पर चढ़ेगा इस बात में बुद्धि लगाता है, उसमें भी छुपा है कोई एक पागल, जो
उसकी आँखों में नये सपने तैराता है, दूर-सुदूर के सपने। उन्हीं सपनों को देखकर
वह अधीर होता है। सचमुच जैसे, वह उड़कर जा नहीं पाता—इसी बात का उसे
दुख है। तब टक भी सहमकर रह जाता है। अपने ऊपरवाले के बारे में उसे
भ्रम हो जाता है। वह अपने अन्दर देखता, ढूंढता कि कहीं उसके मन में भी वही
दीप जलता न हो, चाहे छोटा ही क्यों न हो। याद आता कि उसमें भी है दया,
सहानुभूति। स्वाधीन चिन्तन है। अपनी वृत्ति के लिए उसे कितनी ही बातों को,
कितने ही विचारों को आँख मूँदकर अपनाना पड़ा है। जैसे उसका भेष, वैसे ही।
मुँह पर वे ही सारी बातें, रुचि में वही, काम में वही, परन्तु विपिन को इस
अवस्था में देखने पर उसे याद आता कि स्वाधीन भाव से सोचने का उसका अपना
ढंग था। जो दब गया है पर अब भी शेष है।

टक का जीवन एक सामान्य श्रेणी का है। गाँव में कुछ थोड़ी-सी जमीन, जो
बँटाई पर दी जाती है। इससे उसकी आमदनी चार महीने चलने लायक हो ही
जाती। अपनी कमाई से शहर में छोटा-सा प्लाट ले रखा है। हालाँकि वह गड्ढा-
भर है। कभी पैसे होंगे, गड्ढा भरा जायेगा, घर खड़ा किया जायेगा। बेटियाँ
चार, बेटे चार, पढ़ रहे हैं। उनका भी ब्याह करना है। तब उसका दायित्व पूरा
होगा। इन सबपर जितना खरच आयेगा, जोड़कर हिसाब करने पर लगता जैसे
दो जनम में भी उतना कमा न सकेगा। फिर भी आशा है, कोई जादू कभी उसके
जीवन में शायद हो जाये। वह जो सोचता है सो सब घटेगा, जादू की तरह सब कुछ
कैसे-न-कैसे होता जायेगा। आशा करता है, शहर में जीवन बिताता है, अपने-
आपको रोककर तनखा में से पचीस रुपये 'सञ्चय-योजना' में रखता है। उसके बाद
और नहीं, हाथ खाली है। जो आया सब खर्च, बच गया कुछ हाथ-उधारी। उमर
हो आयी सैंतालीस, दो बरस छिपाकर पिता ने स्कूल में नाम लिखवाया था। वह
शुरू की झूठ भी उसके जीवन की योजना का एक अंग है, उस हिसाब से नौकरी
के और दस बरस बचे। फिर याद आता, इस ढलती उमर में अचानक अगर
उसकी मृत्यु हो जाये तो उसकी पत्नी समेत इन आठ सन्तानोंवाले परिवार का
क्या होगा? आगे-पीछे कोई नहीं। फिर भी उसकी योजना अटूट है। गड्ढा
भरेगा, मकान बनेगा, बच्चे आदमी होंगे। उसी आशा से उसकी पत्नी भी
काम में लगी रहती है। देह घिसट-घिसटकर बाँस की फरचन की तरह हो गयी,

ऐसे ही जीवन-भर। इमली और पखाल (बासी भात), किसी दिन हुआ तो दाल और तरकारी, तनखा पाने के बाद आठ-दस दिन तो जरा ठीक से चलते, जरा साँस आ जाती, कभी-कभार मास या मछली भी नसीब होती। जो अच्छी-सी साड़ी अपनी स्त्री के लिए ख़रीदने की बात वह सोच रहा था, ख़रीद न सका, फिर बच्चों के लिए, अपने लिए—वो तो छोड़ो, गहने गढ़ाने की जो बात अपनी पत्नी की ख़ातिर सोची थी, वह अधूरी ही पड़ी है; उसने अपना जो छुट्टी का समय परिश्रम में काट दिया है, उसी मे मुरझा गया है वह, बिना उपभोग किये। शायद कभी अच्छे दिन आयेंगे, जब उसकी सारी आशाएँ पूरी होंगी, चैन मिलेगा, विश्राम मिलेगा। सब अंकुरित हो उठेगा। यद्यपि कैसे क्या होगा—उसे कुछ दिखायी नही पड़ता। इसी अधूरे विचार, इसी अधूरे सपने के बीच डूबकर वह चाकरी कर, कुटुम्ब का पेट भर, साधारण बुद्धि-तर्क-सन्देह और हिसाब से व्यवहार दिखाता चलता आया है। क्या करने से उसके मन की बात पकड में नही आयेगी, वह दूसरो के मन की बात जानकर नौकरी में ऊपर उठ सकेगा, कोई उसे दोष न देंगे, बुराई नही करेंगे, गुस्सा नही होंगे—इसके प्रति सावधान हो, घडी की सूई की तरह चलते-चलते वह अपने दिन बिताता है। उसके सारे सात-पाँच सिर्फ़ अपने स्वार्थ को ओढ़े हुए है।

स्वार्थ और सन्देह मे जर्जर अपनी दृष्टि से वह सबको देख सारी बातो को पहले अविश्वास के तराजू पर तौलता है, फिर अपना मतामत गढने की उसकी आदत हो गयी है। वह सोचा करता है, वह उसका शहरीपन है और फिर उसकी बुद्धि का परिचय है।

विपिन मे नया रूप देखते-देखते वह बुद्धि खो गयी थी, उसके बदलने में विश्वास आ गया था। लगता था कि इस सात-पाँच के हिसाब की ओट में सरल-सच्चा-सुन्दर और करुणामय बनकर अब भी कुछ है!

पाटेली गाँव के नये समाज को वह नयी दृष्टि से देख रहा था—मुग्ध हो रहा था।

बन्धमूल गाँव मे बट महान्ती के जीवन की अभ्यस्त धारा मे हुआ कोई परिवर्तन किसी की आँखो में नही पड़ा। बड़े बेटे कवि पुलिस इन्स्पेक्टर पहले की ही तरह है। उनका परिवार उनके साथ-साथ। कभी मन करता, महीने-दो महीने मे पत्र डाल देते, और बीच में कई महीने गुजर जाते बिना चिट्ठी आये भी। जब आती, उसमे पहले लिखा होता—काम की कितनी भीड है, दाढ़ी बनाने की फ़ुरसत नही, इत्यादि। बी. ए. पास कर छोटा लड़का रवि जिस दिन घर छोड़कर फूलशरा

चला गया, लगा कि जैसे अब इस घर से उसका और कोई सम्पर्क ही न हो, यहाँ कोई काम ही न हो उसका। बीच में कभी आता तो एक-आध वेला ठहर जाता, फिर छटपटाता-सा चला जाता। जब तक रहता, घर में केवल नाम मात्र को होता, गाँव-भर की वस्ती-वस्ती में घूमता। कभी फूलशरा से आये होते कोई सगी। वे आते तो रवि का मन दूना बढ जाता। घर आता तो माँ के साथ सुख-दुख की बातें करता। वट महान्ती उसे दूर से ही देखकर चले आते, वह भी उनके आगे सिर नवाये गम्भीर होकर खड़ा रहता। एक-आध बात में उनके कहे का उत्तर सलटा देता, और चला आता; फिर बीत जाते महीने-पर-महीने, वह आता नहीं।

बेटे को अपने साथ जी खोलकर मिलने की सुविधा उन्होंने बचपन में कभी दी नहीं। तब मन में था कि वह डरे, भक्ति करे, तभी निर्देश मानेगा, आदमी बनेगा। तब वे अपने साथवालों को कहा करते थे, "एक आवाज़ से पेशाब न कर दे, वह क्या बेटा?" अब जी करता है, बेटा जी खोलकर बातें करता, डर या भक्ति को दूर रखकर उन्हें समझाने की चेष्टा करता, बातें सुनता, कुछ बातें कहता, पास में अधिक उठना-बैठना लगा रहता; पर यह बात उन्होंने मुँह खोल-कर कभी कही नहीं उससे।

पहले की तरह सीधी गरदन, चेहरे पर वही कठोर ध्वनि, समान छन्द से ताल बनाये रख वैसी ही खड़ाऊँ की ठक-ठक आवाज़, ज़मीदारी उठ जाये चाहे, ख़ुद-काश्त ज़मीन, बाग-बाड़ी, पोखरी रख, रुपयों की महाजनी कारोबार बनाये रख, पहले की जो धाक थी वो अब भी रहे! वह सोचते, टूट भले ही जाऊ, झुकूँ नहीं। आदतें भी पहले की तरह ही नपी-तुली—।

फिर भी ख़ुद-ब-ख़ुद कई बातों में रवि के साथ उनका मानो समझौता-सा हो गया था। फूलशरा के बारे में वे कभी मुँह नहीं खोलते। रवि के भविष्य को लेकर या उसके काम के बारे में उससे कोई चर्चा नहीं करते, उसे कभी बाध्य नहीं करते, न ब्याह की बात ज़बान पर लाते। अथच उसका भविष्य ही तो था उनका विशाल सपना, उसी के लिए तो कितने गणक-पुरोहित, कितनी पूजा-मनौतियाँ, कितनी सात-पाँच।

इस पुरानी ऐंठ को छोड़ देने का कभी विचार किया ही नहीं। तभी कोई फ़ैसला नहीं कर पाये, ऋतु बदलने या मौसम बदलने पर आदमी जैसे अपने आप उसे ग्रहण कर लेता है और तदनुरूप अपना चलन बदलता है, यह प्रतिक्रिया सच-मुच जैसे उसी प्रकार हो, अपने-आप आयी है, अपने-आप सह्य बन गयी है। उन्होंने कभी ज़बान नहीं खोली।

बड़े बेटे कवि की ओर आशा थी, पुलिस सब-इन्स्पेक्टर था, इन्स्पेक्टर हो गया, बेटी पर बेटा, फिर बेटी पर बेटा होकर चार सन्तानें हुईं। पर चाकरी और

शहर मानो उसे एकदम निगल गया। गाँव की स्मृति, माँ-बाप को मानो मन से बिलकुल धो-पोंछकर ही रख दिया। कभी-कभार सुधि लेने के बहाने एक चिट्ठी। बस, और कुछ नहीं। वह ख़बर भी मानो अखबार पढ़ने की तरह। उसके घटने में उनके मतामत की कोई जरूरत नहीं, वे सब सुनने के भागी हैं। वैसी ही अवांछित खबर उसने एक बार लिखी थी कि उसने 'ऑपरेशन' करवा लिया है कि अब और बाल-बच्चे नहीं होंगे। जो किया सो तो किया, ख़त लिखकर माँ-बाप को बताने की क्या जरूरत थी, कुछ समझ में नहीं आया। उसकी माँ ने रोते-रोते कहा था, "लड़के ने ये क्या विघटन कर डाला! कभी न सुनी, ऐसी बात! जान-बूझकर ऐसा!"

कवि ने उसके लिए नाना कारण लिखे हैं, नाना उदाहरण दिये है। उसने लिखा है कि आजकल देश में जिस प्रकार जनसंख्या बढ़ती जा रही है, उसे आयत्त किये बिना घोर-विपद्। मच्छर-मक्खी की तरह आदमी बढ़ेंगे, उनका पालन-पोषण करने को कुछ न होगा, ऐसी परिस्थिति में दो सन्तान ही ठीक है, चार तो बहुत अधिक हो गयी, उससे बढ़ जाने पर स्थिति काबू के बाहर हो जायेगी; अतः यह उपाय करना पड़ा। देश मे सब बड़े-बड़े जाने-माने लोग यही उपदेश दिया करते हैं, इसके लिए कितने डॉक्टर और अस्पताल हैं। सैकड़ों पढ़े-लिखे लोग, बड़े-बड़े आदमी उसी उपाय से स्वय और ससार को निरापद् कर रहे है। कितने मुखियों का नाम गिनाऊँ। बहुत अधिक सन्तान पैदा करने पर माँ का स्वास्थ्य ख़राब हो जाता है, पालन-पोषण की दिक बढ़ जाती है, अत. यह सहज उपाय है, और शास्त्र-सम्मत।

बट महान्ती ने अपनी स्त्री के रुआँसे चेहरे को देखकर कहा, "रो क्यों रही हो? बहुकुटुम्बी सदा दुखी, पढ़ा-लिखा बेटा है, उसकी अपनी बुद्धि है, अपना विचार है।"

रोते-रोते उन्होंने कहा, "कौन-सा कुटुम्ब भरा आ रहा था इस कुनबे में? किसका पेट भूखा रहता था?"

इसका उत्तर भी उस चिट्ठी में लिखा था। कवि ने लिखा था—'अपने घर मे पेट-भर खा, तन ढाँककर चलने लायक़ है, कोई मना नहीं करता, पर आजकल उतने से ही कैसे चलेगा? लोग खोजते है अच्छा खाना, अच्छा पहनना, पाँच और चीजें घर में हों। लड़के-बच्चे भी देश-विदेश जाकर नयी-नयी विद्याएँ सीखेंगे, अधिक रोज़गार करेंगे, चाकरी के समय बड़ी चाकरी, कोई ऊँची नौकरी करेंगे।'

स्त्री को समझाने की चेष्टा कर बट महान्ती ने वे सारी युक्तियाँ पढ़कर समझा दी थी। पर कवि की माँ धीरज न रख सकी। बट महान्ती खीझते-से कहने लगे, "तुम्हारा तो रोना-स्वभाव ही पड़ गया। ख़ूब आँव के दस्त हो रहे हैं, देह छड़ी हो गयी, जैसे छड़ी को साड़ी मे लपेट दिया हो। उसपर अपनी देह की इतनी

बेखयाली, खाने-पीने का कोई ठीकठिकाना नहीं, उसपर थोड़ा कुछ सोचा या सुना तो छूट पडी फिर आँखों से धारा। मै अब और करूँ भी तो क्या !"

वे चुप पड गयी, पर वह दृश्य कई दिनो तक बट महान्ती की आँखों के आगे टिका रह गया। ठाकुरजी की कोठरी। सामने खटोले पर ऊँचे स्थान पर लाल शालू के कपडे पर शालिग्रामजी की शिलाएँ, ख़ास बनारस के बने पीतल के विग्रहों की जोडी, राधा-माधव, फूल मालाओ से सजे शोभायमान है। फूल, चन्दन, कपूर की आरती से घर महक रहा है। पूजा हो चुकी थी। अब बट महान्ती भागवत-पाठ करते। ठीक तभी डाकिये ने आकर चिट्ठी पकडायी। वही बैठे चिट्ठी पढने लगे। बडी पीतल की आरती की थाली मे पाँचो बत्तियाँ बुझने को थी। नीचे पत्नी बैठी रो रही थी। बट महान्ती निर्लिप्त रहने की तरह छलना कर उन्हे प्रबोधना दे रहे थे। दरवाज़े पर बिल्ली बैठी अपना मुँह कभी-कभी बढ़ाये दे रही थी, पूजा पूरी होने पर वह छेना-गुड के भोग पर मुँह लगाती। ठाकुरजी के आसन के पीछे तिलचट्टे सूँ-सौं कर रहे थे। सिर पर चिड़ियाँ फड़फड़ा रही थी। दस बजे की धूप बाहर बरामदे तक आ गयी थी। उधर सब सुनसान, कोई आवाज नही।

याद आ गया, कवि की बड़ी बेटी सुना, उमर बारहवाँ चल रहा होगा; उसके नीचे कुना, और फिर रुना, उसके बाद मुन्ना। सुन्दर नाक-आँख, घुँघराले बाल। गढन भिन्न-भिन्न होने पर भी एक-जैसी सुन्दर ठवनि थी। कवि का बचपन का चेहरा आँखो के आगे आ गया, छाती के अन्दर मोह भर गया, लगा मानो यह सृष्टि यही शेष है! कवि पराया हो गया, रवि पराया हो चुका। फिर ख़ुद से पूछा, अपने बच्चे पराये क्यो होते है? अण्डा फूटा, चूज़ा बडा हुआ, पंख लगे, और वे फिर उड़ गये।

भागवत-पाठ मे मन नही लगा। केवल घुमड रही थी भागवत की शिक्षा कि ससार अनित्य है, सुख-दुख अनित्य है, जो आता है सब चला जाता है।

फिर किसके लिए है यह इतना आयोजन, इतना परिश्रम ?

रवि की माँ हाँडी-हाँडी-भर बडी बनाती, खटाई-अचार सहेजकर रखती। सुखाती तो आँगन भर जाता, मन मुताबिक़ बाँटती, उनका हाथ ठहरा खुला, फिर भी बरस-बरस का संचित किया हुआ रखा है, एक-एक कर भण्डार-घर मे थाक-की-थाक सजी है। छीके से झूल रहे है—वैसे ही कितने बरसों का पुराना अण्डी का तेल, घी या गुड़।

केवल सहेजना-सहेजना—वह क्यो ? किसके लिए ?

भागवत की पोथी लेकर ठाकुरजी की बुझी आरती की ओर देखते हुए अपनी चिन्ता में डूबे-डूबे बट महान्ती मे ज्ञान का उदय हुआ—आदमी सोचता है कि अपने स्वार्थ के लिए वह वृत्ति अपनाये है, परन्तु असल मे वृत्ति ही अपने स्वार्थ के लिए आदमी को जकड़ती और कार्य मे फाँसती है, खटाती है। वैसे ही वृत्ति है यह

घर-गिरस्ती, यह खेती, यह महाजनी, कौन उसका भोग करेगा—यह चिन्ता वहाँ नहीं उठती। अपने आप दिमाग चलता है, हाथ-पैर काम करते है, एक फ़सल पर और एक फसल करनी पड़ती है, एक घानी बडी उतारने पर एक और घानी बडी उतारने को हाथ बढ़ जाते हैं। इसी तरह काम करते-करते उमर चुक जाती है।

वृत्ति से निकलता है धन्धा, उसी वृत्ति का चाकर, धन्धे का चाकर, जीवन-भर उसी सम्पत्ति का चौकीदार।

ठाकुरजी की ओर देखते अपना उपहास-सा करते हुए वे कहने लगे, "सब तो प्रभु तेरी ही लीला है, तुम इच्छामय हो, हम तो यात्रा के बूढे-बुढ़िया हैं, रानी-रानी या चैती घोडे की खोल है, भीतर तुम रहकर सब कराते हो, नचाते हो, अच्छा हुआ तो तुम्हारा खेल, बुरा हुआ तो तुम्हारा, मेरा सुख है न दुख है, लाभ है न क्षति है। फिर मुझे क्यों कचोटेंगे।"

"मैं करता नही, मैं खाता नही, मैं भोगता नही, मैं कुछ नही, बस यह गुजरती छाँव हूँ।"—सोचते-सोचते ममता और अभिमान से बट महान्ती दुखी हो रहे थे; सब जैसे केवल अपनी पराजय की ध्वनि हो, उसी के साथ याद आ जाता कि इस मन मे नाना कामनाएँ थी, पूरी हो न सकी। पाँच बरस या दस बरस पहले सोचते समय मन की यह अवस्था खुद को नही दिखती थी।

सोचने पर मन मे ज्योति-सी फैल जाती—कि संसार में बड़ा कौन है? जन या धन? काम-काज के बीच अनमने होने पर वही सूनापन मन को घेर लेता। लगता जैसे गीले गुड़ की हाँडी मे वे कोई अकेली चीटी हों, हाथ-पैर लिपट जाने के बाद एक जगह रहकर बस छटपट-छटपट लगी है, न आगे बढ पाते है न पीछे हट सकते है।

तभी याद आ जाता उमर में लगा घुन। ऊपर-ऊपर के तीन दाँत झड़ चुके है, नीचे के चार, सिर मे चाँद बढ़ती-बढती जाकर तालू के ऊपर तक चली गयी है, दोनो ओर जो कुछ भी बाल बचे है वे भी हलके हो आये हैं, उनमे फिर बेसी भाग सफ़ेद हो चुका। गरदन से छाती कितनी हट गयी, चमड़ी झूलने लगी, देह सूख चुकी। अपने चेहरे को देखने पर कभी-कभी याद आ जाता कि पहले यह चेहरा कैसा था। खुद को प्रबोध देने को जी करता—ऐसा तो यह हो चुका बरसों से, यह एक स्तर पर आकर पहुँच चुका है और अब वही है, और बदला नही। उसके साथ-साथ जैसे उनका चेहरा अट्टहास से भर उठता, मन का सारा आश्वासन कही उड़ जाता। कभी-कभी वे मुंह 'आँ' किये आईने की ओर देखते, दाँत कैसे जडों से हिल-कर एकदम बेतरतीब हो गये है, कोई किस अवस्था में है, जीभ की नोंक से ठेल-ठेलकर परखते किसी के ऊपर अँगुली रख देते। मुंह खोल नाना प्रकार से मुख विकृत करते समय कभी-कभी याद आ जाता अब और कितने बरस इस पृथ्वी

पर—कौन कह सकता है ?

देह आकस्मिक दावँ साधती, बात मानती नही। राह चलते-चलते सिर चकरा जाता, पैर डिग जाते। कभी सिर इस तरह चकरा जाता कि बिस्तर से उठ भी न पाते। कभी थोड़ा चलने पर ही झोल खाने की तरह लगता, कुछ कदम बढ़ाते ही लगता जैसे पैर खीच-खीचकर चल रहे है और कितने कष्ट से वे इतनी दूर चले आये है। रात देर गये तक नीद आती नही, और कब अचानक नीद टूट जाती है। जागते रहने पर भी साफ़ कुछ याद पड़ता नही, नाम के साथ घटनाएँ याद नही आती, याद आती-सी लगती पर जैसे छूते-छूते-छू। माथे में झिम-झिम होती, निस्तेज-सा लगता, बैठे या सोते समय पलके ऊँघ जाती, सब भूल जाते।

अधिक दिन काया-सुख नही रहता है। कभी कुछ और कभी कुछ लगा ही रहता है।

गले मे पीड़ा, पेट गोलमाल, दाँतो की जड़े हिलने लगी, माथा झाँय-झाँय। वायु भर जाती, कमर पकड़ लेती, खट्टी डकारें, हथेली और पजे जलते हुए, देह थरथराती, और कुछ नही तो ठण्डे मौसम मे भी देह मे उतनी गरमी निकलती कि बेकाबू लगता, कभी कुछ, कभी कुछ, कोई ठीक नही।

पैसठ के भी हुए नही, उसपर देह इतनी ढीली-ढीली !

कभी-कभी लगता जैसे वे अपनी देह से अलग होकर इस देह का अनुभव कर पाते है, उसके बारे मे सोचकर मर्म भाव भर नही आता, वे किसी कविता के विषय-वस्तु नही, न किसी कल्पना के आधार—बस एक यन्त्र है, जड़-विज्ञान की मदद से बना एक साधारण-सा यन्त्र, वह कही ढीला हो गया है, कही से घिस गया है, या बिगड़ गया है, दूर से ही पता चल जाता है। चुप रहकर ध्यान देते ही वे जान पाते हैं—कही खटर-खटर, कही बेताल, कही दर्द, कही दुर्बलता, कही पहले जो कुछ था—वह अब नही, अब और नही !

आधे ऊँघने की तरह लम्बे पसरे कारीगर यन्त्र को परखकर देखने की-सी भगिमा मे जब अनुभव या कल्पना के बल पर अपने देह-यन्त्र के बारे मे विचार करते, तो उसके साथ ही निराशा और विफलता का बोध बढ़ने-फैलने लगता। लगता कि क्या था और क्या हो गया ! था तब वास्तव मे वह कितना तगड़ा था या सुख देता था, यह विचार वहाँ नही उठता। लगता कि वह सब अच्छा था, उससे वैसी और कुछ न होता। अब वो नही, और आयेगा भी नही।

यही अभाव-बोध और नैराश्यभाव जब विलाप के सगीत की तरह मन मे झकार उठता, तब ससारी सम्बन्ध की बातें याद आने पर कैसी-कैसी अन्यथा-सी लगती। लगता कि बेटा, बहू, पोते-पोती, यहाँ तक कि पत्नी—बढ़ते बुढ़ापे और दुर्बलता के आगे कौन किसका है ? जो बाल पक गये हैं, जो दाँत झड़ गये हैं, जठर की जो आग धीमी पड़ गयी है, रक्त का जो तेज मुरझा गया है, कौन बेटा या कौन

पत्नी इस बारे में क्या उपकार कर सकेगी ?

यह जो यम द्वारा घसीटा जाना साफ अनुभव किया जा सकता है, प्रति पल —कौन वहाँ सहायक बनकर खड़ा होगा। अकेला आया है, अकेला जायेगा— ऊँघते-ऊँघते बात-बात पर ये नये-नये आविष्कार !

चिलचिलाती दोपहर। गाँव के काम करनेवाले लोग खेतो मे। घर पर जो हैं वे खा-पीकर विश्राम ले रहे होगे। छोटी कोठरी मे चटाई पर खुले दरवाजे से बाहर ताकते हुए बट महान्ती लेटे हैं। कभी-कभी आँखें मूँद लेते।

लगता है कि यही सत्य है, पर इस सत्य का तेज सहने मे वे अक्षम हैं। कोई नही। कुछ नही। सब माया। सब सनक है। यही सत्य है।

लग रहा था जैसे माथे मे नशा-सा चढा हो। उसी के बीच दिख जाता है, जो आँखो के आगे नही है पर इस ससार मे है। 'ना'-'ना' का आशाहीन, स्वादहीन तथ्य जानने के साथ-साथ फिर वे स्वादु रगीन छवियाँ लुभाती है, तब वही तो सच हो गया था, और साथ-साथ ठोस बलवान् देह, आशा, उच्छ्वास, अभिलाषा— अभिलाषा-पूर्ति के लिए जो तीव्र उद्दाम इच्छा होती वह ! वही भोग—जी भर-कर, देह डुबोकर, आँख भरकर—वही रग और स्वाद और महक।

यन्त्र नही, यह देह ही तो बनी थी सारा 'मैं'।

लाल फागुन। जामुन के पत्ते, आम के पत्ते, पीपल के पत्ते, पलाश, पालिधी— केवल लाल-ही-लाल फूल। नदी का कछार। नदी की ओर से भीगी ऊष्मा-भरी हवा आकर देह-ही-देह से छुला-छुला जाती है। पीपल, जामुन, पलाश, पाटली आदि की छोटी बगिया सरीखी। बीच मे घना लोटन कुवला थोडी-सी जमीन घेरे था और इस तरह छोटा-सा गोल कुज बन गया, अन्दर दिखायी नहीं पडता। सामने फूट, तरबूज आदि की क्यारियाँ। बीच-बीच मे बाँस खडे है, उसके आगे सिर की तरह हाण्डियाँ। इस तरह का यह गुनगुना दोपहर। लाल साड़ी बाँधे, हाथ में हाँकने की लकड़ी लिये पीपल के तले खेत के किनारे कोई युवती खड़ी है। उधर बालू पर तपन झिलमिला रहा था, सचमुच जैसे पानी हो।

उसका चेहरा, उसका मुँह, उसकी आँखें दिख रहे है।

तब उस नि.शब्द सूने दोपहर में वही अकेली स्त्री, चन्दरा भुक्कड़ की बेटी ···नाम···पता नही क्या, कुछ याद नहीं आता। असिली···कि सइली···कि बली···कि कहली ऐसा ही कुछ था। वह ससुराल जाकर महीना-भर रह, लौट आयी है।

चन्द्र मे कलक की तरह उसकी अजीब कहानी ने बट महान्ती को उसकी ओर आकृष्ट किया था। अखाड़े मे बैठे हारमोनियम लेकर अपना प्रिय गीत "आरे आरे नवीना तो पादे हेलि मु किणा" गाते समय बाहरवाली खिड़की के उधर रुक-कर पल्लू के छोर को चबाते-चबाते दो-चार बार उसने वह गीत सुना है, तब बट

महान्ती की नजर उधर पड़ी है—चिकने पालिशदार काले पत्थर की तरह उसकी देह का गठन, खुली-खुली आँखें, उनमे फिर भंवरों की तरह कजरारी पुतलियाँ, उस निगाह में कितना कौतुक !

उस दिन सुनसान दोपहर में वही तो सामने पड़ गयी थी। मन की आँख और देह की आँख एक जगह मिल गयी।

कल की-सी बात लगती है, लाल-लाल साडी धूप में झलक उठती है। वही चेहरा तिरछा हो उभर आया है, चेहरे पर वही मुसकान। वह बिना कुछ कहे, बिना कुछ किये खीचती जा रही है।—वह डील-डौलवाली देह नही, धरती पर भूकम्प चल रहा है। वहाँ पहाड उठता है, गिरता है, वहाँ से विच्छुरित हो रहा है ताव कि आत्मा को भी तरल कर देना चाहता है; वहाँ उजाड़ नही, बाग नही, केवल इस विराट् खाली विस्तृति के अन्दर रंग-रंगीला एकदम मुँदा ढक्कन—लाल तोतई-कत्थई मटियाला—उस ओर धीरे-धीरे कदम पड़ते जाते है। सामने, वह माया रूप धीरे-धीरे हटता जा रहा है, बाद में वह धूप-छाँववाला कुचला-कुंज, नीचे सूखे फूलों का गलीचा, वहाँ पदचाप भी सुनायी नही पड़ती। झुकी हुई डाल के उस ओर वही तो वह खडी है, उसके माथे पर पसीने की बूँदे। कही भन्-भन् करती मधुमक्खियाँ गुनगुना रही है।

अचानक हडबड़ाकर वे उठ बैठे। बाद में दुर्बल हो दीवार का सहारा लेकर पैर पसारे बैठे रहे। देह में झाँय-झाँय-सा लग रहा है। सिर्फ़ अवसाद और क्लान्ति। मानो खीचते-खीचते धनु का गुण टूट गया है, बाँका हुआ पड़ा है बाँस का टुकड़ा मुड़ा—सूना, दुर्बल और निःसहाय।

मुँह से 'गोपाल-गोपाल'। धीरे-धीरे, मानो दम फूल रहा हो, बाद मे आत्मविश्वास बढाकर और थोडा ज़ोर से। थोड़ी हिम्मत-सी बँधी, और फिर नही। याद आया कि बँटाईदार विरुद्ध होने लगे हैं। कितने सीधे थे, कितने मिली-भगतवाले बन बैठे। "दे एक ही ख़ुराक—" अब हिम्मत बढती गयी, "है—एक ही फूंक मे उड जायेंगे—। जैसे वो संखालीपुर का विष्णु राउत, तेन्तुलिया का माधव पात्र, अरुआ गाँव का कुलमणि जेना। निकाल दिया, क्या उखाड लिया ?" उन्ही के लिए तो रवि इतनी सिफ़ारिश कर कहा था—फूलशरा का पागलों का डेरा तोड़ देने मे भी चलता, कौन होते हैं वे जो यो साँढ की तरह फिरेंगे मेरी जमीन पर ? बाद मे याद आया कि लोग कह रहे थे, दीनबन्धु मिश्र, कीर्तन राउत, काशी अवधान (गुरुजी), और यहाँ तक कि पुरोहितजी भी। मतुरी दास का भतीजा मधु गले में 'टेथोस्कोप' झुलाये साइकिल के पीछे होमियोपाथी बकसा बाँधे घूम-घूमकर क्वाक-

डाक्टरी करता है, उसका भी यही मत है। सबका एक ही मन्तव्य—कंजूस ! और उनसे पार भी नहीं पाया जा सकता, मानो अबकी हवा-पानी भी उन्हीं मजूर-बँटाईदारों की ही सहायक है। क़ानून का बल उनकी ओर। बँटाई पर खेती करते हैं तो हिस्से पर खेती करने का उनका अधिकार हो जायेगा, हटाने पर मुकदमा होगा, फ़सल में पाँच में तीन भाग वे लेंगे। बाद में और आ रहा है कि बँटाईदार चाहेगा तो रुपये दाख़िल कर ज़मीन का मालिक बन जायेगा। और सबके ऊपर आ रहा है—इतनी ज़मीन से अधिक तुम रख न सकोगे। जो अधिक होगी, उसे छीनकर उन्हीं चासी-मजूरों को बाँट दी जायेगी।

एक उकसा-उकसी, बदा-बदी की बात। दोनों आँखें सुलग उठीं। वे आँखें खोज रही हैं कि शत्रु कहाँ है? वट महान्ती ने ज़ोर देकर कहा, "गोपाल—" और मन-ही-मन एक तरफ़ होकर, सैन्य सजाकर, खड़े हुए।

जागा हुआ उत्साह धीमा हो आया। सच, जैसे भविष्य साफ़ चमचमाता दिखायी पड़ रहा है। उन्हीं का बल, बल में गिना जा रहा है, चाहे पंचायत कहो, चाहे असेम्बली कहो, मर्दुमशुमारी में उन्हीं की ओर से अधिक होंगे, दिन-ब-दिन अपनी मरजी के मुताबिक वे ही राज चलायेंगे, वे ही मेहनत कर जीनेवाले लोग !

चाकरी तो ताड़ की छाया है। पूरी होने पर कवि अगर गाँव आया तो क्या खायेगा, फिर कैसे चलेगा? शहर लौटकर वहीं कहीं एक घर बनाकर चलेगा, और तब राज न होगा, धन होगा तो ख़रीदेगा-खायेगा। तभी शहर बढ़ता है, और बढ़ेगा, ज़मींदारी मकड़मी गयी, ज़मीन भी जायेगी, कौन सात पीढ़ी का बड़ा ज़मींदार हुआ था जो शहर में चोकर या खली की दुकान खोलकर बैठ जायेगा, नहीं तो भीख माँग पेट भरेगा। तभी कवि ने लगा रखा है कि बेचो-बेचो, शहर चले आओ।

और रवि—वह मूर्ख कालिदास पर चढ़ बैठा है जिस डाल पर उसे ही स्वयं काटने में लगा है। "नेता होगा, नेता ! जिन्हें बहकाया है, वे ही उसे न रौंदें तो ख़ैरियत !"

एक दीर्घ साँस निकलते-निकलते रुक गयी। हम न होंगे देखने के लिए, हमारा समय पूरा हो चला—उन्होंने सोचा। उस अन्तिम निश्चिन्तता की परिकल्पना ने मानो उनके मन को आश्वासन और अभय दिया हो।

इस देश पर इतनी बड़ी बाढ़ गुज़र गयी। कितनी क्षति, कितनी विभीषिका; पर उनकी कोई क्षति नहीं हुई, फ़सल अच्छी हुई है। मन-ही-मन दिखायी पड़ जाती है—तटबन्ध के नीचे तक पानी लगा है, नदी लबालब ! उबासी आ गयी। "हूँ, कितनी बाढ़ें आयीं और गयीं ! भगवान् की सृष्टि, उसमें कोई क्या करे ?···लोग तो बस केवल····'दो दो, दो' एक बहाना खोजने की बात···बाढ़ चली गयी। गोपाल—गोपाल—"

फिर छन् से लगा। दीनवन्धु मिश्र का वेटा अरिन्दम उधर कही इंजीनियरिंग पढ रहा था, इतना अच्छा पास हुआ कि वृत्ति पाकर अमेरिका जा रहा है। मिश्रजी वेटे के पास शहर गये है। दीनू है मिश्रजी का वेटा! इजीनियर! अमेरिका! क्या हे यह सव! कीर्तन राउत की वेटी के लडके ने मैट्रिक फ़र्स्ट डिवीज़न मे पास की। कहते है स्कालरशिप पायेगा। पधानपुरवाले उद्धव घड़ई का वेटा वाइधर तो प्रोफ़ेसर बन गया, गन्धि जेना का लडका विश्वम्भर कही डेपोटी हो गया। अभिमानपुर डोमवस्ती मे किसी का वेटा भी कोई वडी नौकरी पा गया, कही दिल्ली की ओर, शालिशालिया उत्सव महापात्र का वेटा दुर्योधन पत्थर विद्या मे, कहते है, डॉक्टर की उपाधि पाकर अध्यापक हो गया। सखालीपुर के श्रीमन्त साहू की कोई लड़की वडी डॉक्टरानी वन वैठी है, उसका शहर में वहुत नाम है।

वे लोग ही घर करेंगे। आ रहा है नया युग, इन्ही सवके लिए।

वट महान्ती वही वात सोचते-सोचते आकुल हो उठे, तव वे मानो केवल एक श्रेणी के ही प्रतीक हों। पहले कितना सहज था, सारी सुविधा थी। वैठने के लिए ऊँचा वरामदा, हाथ की कोथली मे माला, देह पर रामनामी चादर, मन किया तो नाक के सिरे से कमर तक सव जगह चन्दन से लिखा होगा 'गोरा-गोरा-गोरा।'

वरामदे के नीचे वे हाथ जोड़े सिर नवाये खड़े होंगे। परिश्रम करेंगे, कमायेंगे, लाकर उंड़ेल जायेंगे। जो भी शर्त कहे, हाँ ही निकलती, 'नहीं' का तो नाम भी न था। वे समझते थे कि अपने-अपने कर्मफल का भोग मानकर ससार मे चलने के लिए उनका जन्म हुआ है। ठाकुरजी के पैरों तले गिर, पुरोहितजी के पांवो पड़, जमीन के मालिक, महाजन, मकद्दम, जमीदार, जिस-जिसका पावना हो उसे ये रूखा-सूखा खा, माटी-गोवर मे सनकर फटा-पुराना पहन समय काटकर मशान की ओर चले जाना है। टूटा झोपड़ा कभी ठोस भी न हो पाता। ऐसे ही तो बीत गयी पीढी-दर-पीढी, पता नही कितना जमाना!

और फिर अव जमाना उलट पड़ा है। वे ही लोग घर करे रहे है। अघोरी-दुवारी, पढाई-लिखाई, काम-धन्धा, मुरब्बीपन, धीरे-धीरे सवमें तेज होते जा रहे हैं, वढ़ रहे हैं।

"ठीक है, गोपाल, तेरी इच्छा!"

कवि रहा दूर, रवि भी वही आग सुलगा रहा है।

घर पर दो वूढे-वूढ़ियां। और सम्पत्ति। किसके लिए? किसने उसका मूल्य समझा? कौन भोग करेगा उसे?"

वट महान्ती दु.स्वप्न मे खो गये थे। आँखो पर पलकें पड़ नही रही थी। लम्बी सांस लेने को भी मानो जैसे वल न रहा हो।

जीप में बैठा चला जा रहा है विकास-कर्मचारी विपिन। मुँह में सिगरेट, आँखों पर चश्मा, और एक निविष्ट दृष्टि, रात में जैसे मोटर की रोशनी हो, दृष्टि का लक्ष्य स्थल पल-पल मे बदलता जा रहा है गति के साथ-साथ; परन्तु निविष्टता उसी प्रकार है।

विपिन का मुँह खुला—"मेरे साथ पढता था रवि, खाते-पीते घर का लडका, जन-सेवा की ओर मन था, नौकरी न कर, व्यवसाय-वाडी मे बिना उलझे, जुट गया एक सगठन के काम में। पढा-लिखा उत्साही आदमी, ब्याह का लाग-लपडा नही। बस जुटा तो जुट ही पडा, एक नया उत्साह फैल गया चारों ओर, तथा कितने गाँव-के-गाँव उमग मे भर उठे है, मैं कोई इनकार नही करता।"

टक बाबू प्रतीक्षा मे थे। उनके ऊपरवाले अधिकारी का अन्तिम मन्तव्य क्या है उसे जाने बिना वे कैसे मुँह खोलें। जिधर बरसा उधर छाता—यही तो दुनियादारी की बात है।

विपिन ने कहा, "परन्तु सगठन तो हजारो लोग हजारों तरीकों से शुरू कर देते है, उसकी परिणति क्या होती है?"

खूब उत्साह मे भरकर टंक बाबू और आशा देवी ने कहा, "सो तो है ही, हाँ!"

टक बाबू ने व्याख्यान दिया, "सगठन मे रहेगा मनः धन, बल, बुद्धि, उपकरण, सारी चीजों के बिना कैसा सगठन? कितने दिन वह टिकेगा?"

आशा देवी ने कहा, "इतने दिमागों को जोड़कर, इतनी चीजें भरकर अपना सगठन बना है, इसपर और अधिक की क्या दरकार है?"

आशा देवी एक वेतनभोगी विकास-कर्मचारी है, एम. ई. पास हैं, फिर ट्रेनिंग, तीसेक की उमर तो होगी ही, एक बेटा है, एक बेटी। गँजेडी पति के अत्याचार सीमा पार कर गये, काँसा-बासन भी रहने नही दिया, जमीन सात एकड़ थी, उसे भी बेच खाया, बच्चे दोनों मूरख बनकर कूदने लगे। इसी बीच, भविष्य की ओर आँख किये बच्चों को आदमी करना है, घर चलाना है—यह सोच मूबलपुर के दल बेहेरा की बहू आशा देवी ने मानो सचमुच एक इतिहास ही रच दिया। सास-ससुर, गुरुजन और बाहर की घिसी सीढियों के सामने ऊँचे चौरे पर तुलसी को प्रणाम कर उसने घर से पैर निकाला।

तराशी गयी काले पत्थर की चमचमाती मूर्ति की तरह, अब भी मानो उस मूर्ति मे लवनी चुपड़ा हो, कुछ इसी तरह चिकनी दिखायी पड़ती हैं वे। गोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखों मे काले भँवरो की तरह पुतलियाँ, घने सिर के बाल, माथे के बीच मे सिन्दूर की बिन्दी। उस मूर्ति में सुख-दुख की अनेक अभिज्ञताएँ एक साथ जमा होकर थम गयी हैं, उसपर छाया तले की गहरी [illegible] के ऊपर की-सी छवि है, देखने पर आदमी सोचने को बाध्य हो जाता है, पर कुछ नहीं पाता। [illegible]

साड़ी, सफ़ेद जैकेट, पैरों में काली चप्पल। हाथों मे चाँदी की चूड़ियाँ, हाथीदांत का चूड़ा; और कोई अलंकार नही।

सुबह, बड़े तड़के, बाग तले धान की क्यारी के पास पोखरी के किनारे, गाँव-गलियारे होकर जीप चली जा रही है। वे लोग जगह-जगह काम देखकर जायेंगे। वाँस से लदी बैलगाडी के बैल भड़क उठे। "अरे रे, पकड़ जूआ, होशियार, होशियार—" ड्राइवर ने आवाज़ लगायी। तनिक रुककर फिर गति पकड़ ली। ईंटों से लदी एक के पीछे एक कई बैलगाड़ियाँ आ रही है। विपिन अपनी वात का छोर पकड कहता चला गया, "ये जो सड़क है, विकास के प्रमाण है ये। कितने दिन हुए ? दो ही बरस तो ? कितना ख़रच हुआ ? किसने दिया ?"

टंक ने हँसकर कहा, "सहायता दो, श्रम दो, कहते-कहते लोगों के पीछे दौड़-दौड़कर जूतो के तले घिस गये। हम उन्हे खीच लाये। बीच की थोड़ी जगह मे माटी डालो, फ़ोटो उठायी जायेगी—हम कितना कह-कहकर थक गये, अन्त में हरिजन बस्तीवालो को समझा-बुझाकर सन्यासीपुरियो ने लाकर खड़ा किया, उनके टोकरी-फावड़ा लिये काम करने की अवस्था मे फ़ोटो उठाये गये, सभा टूटते ही जो-जिधर चल दिया, फिर मजूर लगवाकर काम पूरा करवाना पड़ा। मजूरी के लिए निकलो कहने पर वही हाल। शहर में जैसे यहाँ भी वैसे, दिन के डेढ़ रुपल्ली दो ! अथच सड़क एक करवा दो, हम पूरी सहायता देंगे—यही कहते-कहते झुण्ड-के-झुण्ड लोग दौड़ा करते थे—"

टक समझ न सके थे। बात कुठाँव लग गयी। विपिन ने कहा, "हाँ, जगह-जगह ऐसी निष्क्रियता दिखायी पड़ रही है, मगर वहाँ तनिक कन्धा लगा देने से काम अच्छा होता है, क्यों ? बासुदेवपुर मे लोगों ने क्या नही किया ? वहाँ हमारी सहायता पहुँचते-न-पहुँचते लोगो ने आधी सड़क तैयार कर डाली थी। श्रीराम-पुर में घर-घर से एक जन अपने आप निकलकर अब भी काम कर रहे है। और···"

जीप धड़ से किसी गड्ढे मे पड़ गयी थी। बाद मे फ़र्स्ट गीयर, स्पेशल गीयर, लग गयी गूँ-गूँ-गूँ की आवाज और निकलकर चल पड़ने की चेष्टा। बायी ओर एक दलों से भरी पोखरी, उसके उधरवाले सिरे पर सीढियो तले औरते नहा रही है, और एक जगह सीढ़ियों तले मरद। दाहिने, धान का खेत फैला हुआ है, धान खड़ा है। सामने कतार मे दिख रही है वस्ती। कितने घर टूट गये है, ख़ाली ढूह, टूटी भीत, और कई घर।

जीप फँस गयी। नीचे कीचड था, पहिया धँस गया है। "हो—आना-आना तो, जरा, तनिक धकिया देते तो गाड़ी निकल जाती।" पुरुषों के घाट की सीढी पर लुगी वाँधे चार-पाँच युवक बैठे गुड़ाखू घिस रहे थे। एक जल्दी से उठकर कमर तक के पानी मे खड़ा हो गया। और लोग भी वहाँ से इधर-उधर हो गये।

लगता था, लोग आ रहे है, पर आवाज सुनकर दूर-ही-दूर वे रास्ते से टलकर बगीचे की ओर हो लिये।

"हो, सुनो, तनिक इस गाडी को—"

कोई एक बैल हाँकता आ रहा था, एक छड़ी ज़ोर से मारी कि दौडने के कारण पीछे-पीछे 'तेला बूची, तीखा कान।"

विपिन, टक, चपरासी तीनो ने मिलकर जीप गाडी को धक्का लगाया। ड्राइवर ने फिर स्टार्ट किया, पीछे, आगे, कई प्रकार चेष्टा की। सब बेकार। झुण्ड-के-झुण्ड बच्चे और औरतें दूर खड़े घूर रहे है। "आओ, आओ रे बच्चो, लोगों को बुला लाओ।" सभी चल दिये। गाडी पडी रही। ड्राइवर गाडी की रखवाली करता बैठा रहा।

शेष कुछ लोगों को खोजने चल पड़े।

"कोई थोडा आते तो, गाडी फँस गयी है, जरा धकेल देते।"

"हमें काम है।"

"हमे काम है।"

"अरे बाबू बुला रहे है तनिक जाते नही ?"

"तू जा।"

"जाओ रे छोकरो, धकेल देना। बाबू पैसा देंगे।"

बच्चे भाग गये।

कुछ केवट बरामदे मे बैठे जाल बुन रहे थे।

"अरे नखिया भाई, मेरे पैर मे काँटा चुभा है, नही तो मैं चला जाता। जा, तू हाथ लगा आ।"

"अरे यार, मेरी तो कमर जकडी हुई है, नही तो क्या कोई भारी था ?"

रास्ते मे तलाची डालकर धान सुखा रहे है। एक जगह कुछ लोग जमा होकर हल्ला मचा रहे है, बहुत झगड़ा हो रहा है। "मारेगा'''मारेगा ? बड़ा आया मारनेवाला ?. देखना ठहर ?" वहाँ बुलाने पर देखनेवालों की भीड मे से एक ने कहा, "उन्हें कुछ न कहो, बाबू, अभी उनके सिर मे पित्त चढा हुआ है।"

"तुम्ही जरा आओ।"

"हम गये तो यहाँ क्या-से-क्या हो जायेगा। तब कौन सँभालेगा ?"

"ठीक है, पैसे देंगे, मजूरे करा दो।"

सूखे-से आदमी ने उत्तर दिया, "बाबू, सुनो मेरी बात, यहाँ पटेगा नही, आगे कण्डरा-बस्ती है, वहाँ लोग मिल जायेंगे।"

अत. रास्ते-रास्ते फिरकर आगे बढ चले।

"भला गाँव है ये भी—" विपिन ने कहा।

सँभालने की तरह टक ने कहा, "बहुत सारे लोग तो काम पर चले गये है,

जानने-समझनेवाला तो कोई दिखता नहीं ।"

घर के आगे कूड़े का ढेर लगा है, घास का बीहड़ बढा है, गोबर का ढेर लग गया है, रास्ते में गू पडा है। सूँड़ियों से लिपटा सहजन का पेड़ खड़ा है । छान तले खूँटे में दीमक ऊपर से नीचे तक चढ़ गयी हैं। छत के नीचे भीत की लिपाई नहीं हुई है, जगह-जगह दरारें दिखायी पड रही है। कहीं-कहीं दीवारें आधी-आधी ढह गयी हैं, टूटी-फूटी दिख रही है । लोग आना-आना कर रहे है; ढेकी की चोट पड रही है, चिवडा कूटना, धान कूटना चल रहा होगा । गाँव के बीच कें-कें करती कोई घानी चल रही है । अकथ्य भाषा मे गाली-गलौज के साथ-साथ छोटे बच्चों की पिटाई, रुलाई । नाक रूँध दे, ऐसी धुआँ की गन्ध ।

गाँव भरा है। अपने-अपने काम में सब लगे हैं। मोटर ठेलने को लोग नहीं मिले। बस्ती जाने पर फिर धान के खेत । पतली मेड होकर कण्डरा-बस्ती को रास्ता जाता है। धान के खेतों में पानी खडा है । धूप पड़ रही है। धान के पौधों पर लाल-पीली तितलियाँ, पानी मे उनकी छाया पड रही है । धान के पौधों के नीचे काँच की तरह साफ और थिर पानी मे चुपचाप 'मडिशा' मछली सोयी है, तितली की छाया की ओर नज़र गयी तो हाँव से झपट पड़ी, बाद में मुँह लपलपाते धान के पौधों के बीच छुप गयी। एक दल लगे है मेड के बाँध का पानी बहाकर मछलियाँ पकड़ने में। क्या पडा है ? सौरी मछली भी दो-चार नहीं ।

"आओगे ज़रा, उधर मोटर फँस गयी है।"

इधर यह काम छोडकर कौन जाये ? आगे और उथले गड्ढे मे तीन जन बंसी डाले बैठे प्रतीक्षा कर रहे है । वहाँ पूछने को मन हुआ नहीं । और फिर बड़े-बडे केवड़े के झुरमुटो के बीच से रास्ता । उधर थोडी-सी पेड़ो की सघनता दिखायी पड रही है। धान के खेतों और भीगी-गीली जमीन के अन्दर उपद्वीप की तरह कण्डरा-बस्ती घुसी हुई है।

धडी मलिक कहीं नीव खोद रहा है। एक साथ चार जन नाचते-कूदते पैरों से गारा तैयार कर रहे हैं । एक और आदमी वहाँ ढेर हुई माटी पर मटके-मटके पानी लाकर उँड़ेल रहा है। तनिक हटकर एक बूढा लकडी चीर रहा है, कुल्हाडी लिये । छान पर कहीं कुम्हड़े, कहीं लौकी, घनी सेम, और कई बेल, बाड़ बाँधकर छोटी-छोटी बाड़ी मे लम्बे-लम्बे अरहर के पौधे, अरण्ड के झाड, कपास, नाजुक-नाजुक मुक्तकेशी बैंगन, हृष्ट-पुष्ट । श्रम की श्री खिलकर दिख रही है। मानो अतिथि के लिए लम्बा-लम्बा प्रणाम ! थोड़ा समझाते ही वे लोग जाने के लिए तैयार होकर खड़े हुए ।

"कौन-सा ऐसा काम है जो इसके लिए पैसे लें ?" धड़ी मलिक ने कहा, "मोटर पानी मे फँस गयी, दो लड़कों के पीछे से तनिक ठेल-भर देने की बात, इतने-भर के लिए इस गाँव मे लोग नहीं मिले कि आपको खुद इतनी दूर चलकर

आना पड़ा, बाबू ? चलो रे लड़को—"

वे लोग आगे-आगे दौड़-दौड़कर चल पड़े। विपिन, टक और आशा देवी लौट आये।

"बस, यही अपनी असुविधा है," विपिन ने मन्तव्य दिया, "गाँव में वास्तव में जो काम करनेवाला अंग है, बाउरी कण्डरा या चासी या मजूरा, गाँव के समाज में उसकी आवाज़ कभी सुनायी नहीं पड़ती, वह बेचारा तो नीचे पड़ा है। मानो वह तो कुछ है ही नहीं, और जो हिस्सा अचल है, निर्जीव है, दिखायी पड़ता है वही, वही चाहता है क्षमता और अधिकार।"

आशा देवी ने कहा, "परन्तु चेतना तो फैल रही है, अब क्या पहलेवाला पुराना ज़माना है ? कितना सब बदल गया !"

टक ने कहा, "यह बाबा आदम के ज़माने का गाँव है, अमानुपा। अनेक गाँवों में तो ये ही अगुआ बन चुके हैं।"

विपिन ने कहा, "मैं केवल सोच रहा हूँ, जब वास्तव में यह जीवित अंग अगुआ बनेगा, हाथ में क्षमता सँभालेगा, तब उस अधमरे अचल अंश की दशा क्या होगी—वह जायेगा कहाँ ?"

टक ने कहा, "सम्भवतः शहर के निचले भागों में।"

विपिन ने कहा, "खेती वह कर सकेगा नहीं, अभी ही मजूरे अड़ने लगे हैं। मेहनत उससे होगी नहीं। ज़मीन वह रख सकेगा नहीं। जो पुरानी संस्था थी, ऊँचा कुल, धर्म, नाना जाति के अधिकार, जो धारणाएँ कुछ लोग फैलाते थे, और कुछ लोग उनपर विश्वास कर सिर नवाये उनके पास खटते रहते थे, वह संस्था तो और अब काम देने से रही। अतः वे गाँव में चल नहीं सकेंगे।"

टक ने कहा, "आजकल तभी तो वे ज़मीन बेच रहे हैं, गाँव से चले जा रहे हैं, शहर में घर बसा रहे हैं। हवा किधर बह रही है साफ दिख जाता है। बाद में यह और भी बढ़ेगी।"

विपिन ने कहा, "सरकारी चाकरी, नाना कल-कारखानों की नौकरी, बढ़ते हुए कारख़ानों के ज़माने में शहर में उनके लिए नाना धन्धों में नाना नियुक्तियाँ। छोटे-बड़े व्यवसाय, इनमें ही रह जायेंगे कई एक तो। जो नहीं सकेंगे"—देह मरोड़कर एक विकृत भंगिमा में उसने कहा, "उन्हें भगवान् का भरोसा।"

टक और आशा देवी हँस पड़े।

लोग देख रहे हैं कि मोटर ठेलने के लिए और आदमियों की जरूरत नहीं, कुछ लोग कण्डरा गये। वे लोग सुन चुके हैं कि ये विकास-कर्मचारी हैं। अच्छा हुआ, जाते-जाते रुक गये हैं। आँखें डालते जायें इधर भी तो अच्छा हो, कुछ रुपये मिल जायेंगे। "अरे उल्लू, इनसे अलग रहे तो यों ही रह जाओगे, ये तो कामधेनु हैं। माँगने का तरीक़ा आ जाये तो क्या-कुछ पा लोगे, वरना नहीं।"

जानने-समझनेवाला तो कोई दिखता नहीं।"

घर के आगे कूड़े का ढेर लगा है, घास का बीहड बढ़ा है, गोबर का ढेर लग गया है, रास्ते मे गू पड़ा है। सूंड़ियों से लिपटा सहजन का पेड़ खड़ा है। छान तले खूंटे में दीमक ऊपर से नीचे तक चढ गयी है। छत के नीचे भीत की लिपाई नहीं हुई है, जगह-जगह दरारें दिखायी पड़ रही है। कहीं-कहीं दीवारें आधी-आधी ढह गयी है, टूटी-फूटी दिख रही है। लोग आना-आना कर रहे है; ढेंकी की चोट पड़ रही है, चिवडा कूटना, धान कूटना चल रहा होगा। गाँव के बीच कें-कें करती कोई घानी चल रही है। अकथ्य भाषा में गाली-गलौज के साथ-साथ छोटे बच्चों की पिटाई, रुलाई। नाक रुँध दे, ऐसी धुआँ की गन्ध।

गाँव भरा है। अपने-अपने काम मे सब लगे हैं। मोटर ठेलने को लोग नहीं मिले। बस्ती जाने पर फिर धान के खेत। पतली मेंड होकर कण्डरा-बस्ती को रास्ता जाता है। धान के खेतों में पानी खड़ा है। धूप पड़ रही है। धान के पौधों पर लाल-पीली तितलियाँ, पानी में उनकी छाया पड रही है। धान के पौधों के नीचे कांच की तरह साफ और थिर पानी मे चुपचाप 'मड़िशा' मछली सोयी है, तितली की छाया की ओर नजर गयी तो हाँव से झपट पड़ी, बाद में मुंह लपलपाते धान के पौधों के बीच छुप गयी। एक दल लगे हैं मेड़ के बाँध का पानी बहाकर मछलियाँ पकड़ने मे। क्या पड़ा है? सौरी मछली भी दो-चार नहीं।

"आओगे जरा, उधर मोटर फँस गयी है।"

इधर यह काम छोड़कर कौन जाये? आगे और उथले गड्ढे में तीन जन बंसी डाले बैठे प्रतीक्षा कर रहे है। वहाँ पूछने को मन हुआ नहीं। और फिर बड़े-बड़े केवड़े के झुरमुटों के बीच से रास्ता। उधर थोड़ी-सी पेड़ों की सघनता दिखायी पड रही है। धान के खेतों और भीगी-भीली जमीन के अन्दर उपद्वीप की तरह कण्डरा-बस्ती घुसी हुई है।

धड़ी मलिक कहीं नींव खोद रहा है। एक साथ चार जन नाचते-कूदते पैरों से गारा तैयार कर रहे हैं। एक और आदमी वहाँ ढेर हुई माटी पर मटके-मटके पानी लाकर उँड़ेल रहा है। तनिक हटकर एक बूढ़ा लकड़ी चीर रहा है, कुल्हाड़ी लिये। छान पर कहीं कुम्हड़े, कहीं लौकी, घनी सेम, और कई बेल, बाड़ बाँधकर छोटी-छोटी बाड़ी में लम्बे-लम्बे अरहर के पौधे, अरण्ड के झाड़, कपास, नाज़ुक-नाज़ुक मुक्तकेशी बैंगन, हृष्ट-पुष्ट। श्रम की श्री खिलकर दिख रही है। मानो अतिथि के लिए लम्बा-लम्बा प्रणाम! थोड़ा समझाते ही वे लोग जाने के लिए तैयार होकर खड़े हुए।

"कौन-सा ऐसा काम है जो इसके लिए पैसे लें?" धड़ी मलिक ने कहा, "मोटर पानी में फँस गयी, दो लड़कों के पीछे से तनिक ठेल-भर देने की बात, इतने-भर के लिए इस गाँव में लोग नहीं मिले कि आपको ख़ुद इतनी दूर चलकर

आना पडा, बाबू ? चलो रे लडको—"

वे लोग आगे-आगे दौड-दौडकर चल पड़े। विपिन, टक और आशा देवी लौट आये।

"बस, यही अपनी असुविधा है," विपिन ने मन्तव्य दिया, "गाँव मे वास्तव में जो काम करनेवाला अंग है, बाउरी कण्डरा या चासी या मजूरा, गाँव के समाज में उसकी आवाज़ कभी सुनायी नही पडती, वह बेचारा तो नीचे पडा है। मानो वह तो कुछ है ही नही, और जो हिस्सा अचल है, निर्जीव है, दिखायी पडता है वही, वही चाहता है क्षमता और अधिकार।"

आशा देवी ने कहा, "परन्तु चेतना तो फैल रही है, अब क्या पहलेवाला पुराना जमाना है ? कितना सब बदल गया !"

टक ने कहा, "यह बाबा आदम के जमाने का गाँव है, अमानुपा। अनेक गाँवों में तो ये ही अगुआ बन चुके है।"

विपिन ने कहा, "मैं केवल सोच रहा हूँ, जब वास्तव मे यह जीवित अग अगुआ बनेगा, हाथ मे क्षमता सँभालेगा, तब उस अधमरे अचल अश की दशा क्या होगी—वह जायेगा कहाँ ?"

टक ने कहा, "सम्भवतः शहर के निचले भागो मे।"

विपिन ने कहा, "खेती वह कर सकेगा नही, अभी ही मजूरे अडने लगे है। मेहनत उससे होगी नही। जमीन वह रख सकेगा नही। जो पुरानी संस्था थी, ऊँचा कुल, धर्म, नाना जाति के अधिकार, जो धारणाएँ कुछ लोग फैलाते थे, और कुछ लोग उनपर विश्वास कर सिर नवाये उनके पास खटते रहते थे, वह सस्था तो और अब काम देने से रही। अतः वे गाँव मे चल नही सकेंगे।"

टक ने कहा, "आजकल तभी तो वे जमीन बेच रहे है, गाँव से चले जा रहे है, शहर में घर बसा रहे है। हवा किधर बह रही है साफ़ दिख जाता है। बाद में यह और भी बढेगी।"

विपिन ने कहा, "सरकारी चाकरी, नाना कल-कारखानों की नौकरी, बढते हुए कारख़ानों के जमाने में शहर मे उनके लिए नाना धन्धों मे नाना नियुक्तियाँ। छोटे-बडे व्यवसाय, इनमें ही रह जायेंगे कई एक तो। जो नही सकेंगे"—देह मरोडकर एक विकृत भगिमा में उसने कहा, "उन्हे भगवान् का भरोसा।"

टक और आशा देवी हँस पड़े।

लोग देख रहे है कि मोटर ठेलने के लिए और आदमियो की जरूरत नही, कुछ लोग कण्डरा गये। वे लोग सुन चुके है कि ये विकास-कर्मचारी है। अच्छा हुआ, जाते-जाते रुक गये है। आँखें डालते जाये इधर भी तो अच्छा हो, कुछ रुपये मिल जायेंगे। "अरे उल्लू, इनसे अलग रहे तो यों ही रह जाओगे, ये तो कामधेनु है। माँगने का तरीका आ जाये तो क्या-कुछ पा लोगे, वरना नही।"

किसी ने कहा। रथ-बस्ती की बावड़ी उथली हो गयी है, सदा कीचड़ दलदलाता रहता है। अतएव "जी, आइए, हमारी बस्ती की ओर जरा नजर डालते जाइए।" पट्टनायक-बस्ती की चटशाला की दीवारें फट गयी, अच्छा-सा घर बन जाता—"हमारे उधर पधारेंगे, बस यही तो है।" "जेना-बस्ती का कुआँ पुराना पड़ गया, ऊपर से नीचे तक देख जायें, सारी दीवार मे घास-पौधे-पेड़ उग आये हैं, पानी में एक बार साँप भी मरा तैर रहा था।" "हुजूर पधारेंगे नहीं तनिक, चार बस्तियों के लोग पानी पीते हैं।" "जी, इतना बड़ा गाँव, उसमें एक भी अच्छी पोखरी नहीं, और फिर जो है वह तो आप देख ही चुके, सिवार से भरी है। डुबकी लगा आयें तो घण्टों खुजलाहट नहीं मिटती। पोखरी बन जाती तो मछली की भी खेती होती, फिर पीने, नहाने, खेत में पानी पटाने—" "जी, किस-किसके लिए रुपया आया ?" "कौन-कौन-सी नौकरी मिल सकेगी ? मेट्रिक फ़ेल, कहीं से, जैसे भी कोई—" "हुजूर पंचायत का महकमा हमारे गाँव मे हो। जगह भी पड़ी है, आइए देख लें।" "एक अस्पताल—" "एक माइनर स्कूल—" "एक धान का भण्डार किये बिना हमारे यहाँ के मेहनतकश कैसे जीयेंगे ? घर पर धान होगा नहीं और बाहर से करज मिलेगा नहीं, जो कष्ट है!" पादाम्बु-बेलपत्र लिये भोपा आ पहुँचे हैं, "जो सन्यासीश्वर महादेव महाराज! पधारिए, इतने प्रत्यक्ष देवता हैं; इतना पुराना देवता इस संसार में और कहीं न होगा। कितने यात्री, कितने शरणागत आकर रुण्ड होते हैं, आपकी क़लम से अगर वहाँ एक कोठरी बन सकती, उठने-बैठने के लिए लोगों को सुविधा हो जाती। और वह पोखरी थोड़ी गहरी खुद जाती, पत्थर बँधवा देते तो अच्छा होता। आपकी बस साथे-साथ पदोन्नति कर देते, भगवान्! कितनी उन्नति हो जाती, उसकी कोई गिनती है ? आइए, बस दर्शन करते जाइए!"

कैसे यहाँ से निस्तार मिले ? किधर जाये ? देर होती देख आशा देवी औरतों की ओर चल पड़ी। जितना समय मिलता है उतने मे ही यहाँ कुछ काम शुरू कर देंगी। दूध का चूरा बच्चों को उबालकर पीने के लिए देंगी। साबुन और गरम पानी से कितने बच्चों को नहला देंगी। कोई होती गर्भवती, स्वास्थ्य-

पर विपिन पहले कहाँ जाये ? पहले जहाँ किसी का चेहरा नहीं दिख रहा था, अब वहाँ कितने लोग हैं, एक छोटी-मोटी भीड़ हो गयी।

और इसी समय शख, महुवरि, ढोल की आवाज़ सुनायी पड़ रही है, वाजे पास आ रहे हैं। वह एक दल पहुँच गया। युवक। "हमारा सन्यासीपुर का युवक सघ, आपका स्वागत कर रहा है···आपका शुभागमन हो हमारे क्लब की ओर। अधिक दूर नहीं।"

"क्षमा करेंगे, फिर कभी आया तो अवश्य आऊँगा। आज तो बहुत देर हो गयी। दूसरी ओर जाते-जाते बीच में जीप कीचड़ में फँस गयी थी। उधर प्रोग्राम है, लोग इन्तजार में होंगे।"

ऐसे एक-एक वार सबकी गाडी फँसती, हुज़ूर, तब हमारे गाँव का मंगल होता। नया रास्ता तो खुल गया है, पर गाड़ी यहाँ नहीं फँसती। जो आया सो हो भाँय-भाँय छू। हम तो बस ज़रा-सी इस उड़ती धूल के हकदार रह गये।" वक्ता हँस पडे। आँखें टिमकाकर बोले, "आइए, आइए—"

"जो, प्रोग्राम—"

"ओ, यहाँ के प्रोग्राम की बात कहकर भुलावा मत दीजिए, प्रोग्राम किसका नहीं है इस युग में ! तो फिर आप हम लोगों के अनुरोध को टाल जायेंगे ? हमारा स्वागत एक ओर कर देंगे ?"

"आप लोग तो कहते हैं कि युवक सघ गढो, युवक संघ गढो, आप हमारे अनुष्ठान को देखने पधारेंगे नहीं तो हमें उत्साह कैसे मिलेगा ?"

"इस गाँव की उन्नति के लिए भी हमारे युवक संघ के पास कई प्रस्ताव हैं, थोड़ा समय देंगे तो ठीक-ठीक बता सकेंगे।"

"आइए, आइए, हाँ, बजाओ रे—"

वाद्य-नाच का बाजा बज उठा। युवक सघ के घेरे में पडकर विपिन और टक आगे चल पडे। महुवरी वार-बार बज रही थी—रम्प-रम्प-रम्प !

विपिन और टक के गले में उन लोगों ने लाल मन्दार का हार झुला दिया है।

चारों ओर हँसी, उत्साह, तालियों की गडगडाहट। सारे रास्ते में खडे दर्शकों में किसी ने हुलहुली डाली, और फिर तो कइयों ने पारी पकडी। बाजा बज रहा था। बाजे की आवाज से बन्दर इस पेड से उस पेड़ पर छलाँगें भर रहे थे, गायें भिडक रही थीं। दिखायी पड रहा था कि किलकिलाती औरतें बस्ती से दौडी-दौडी आ रही हैं। परस्पर धक्कमधक्को करती-सी भीड़ किये खड़ी है। बाजे की तान से उत्तेजना बढ़ती जा रही है। लोगों की भीड देख बढ़ता जा रहा है, अपने आप उत्साह। सचमुच लगता है जैसे यह पुराना गाँव उत्सव मनाने के लिए प्रतीक्षा में था। उनके पीछे-पीछे चल रहे हैं युवक सघ के सभ्य,

किताबें निकालकर दिखायी—'विकास', 'योजना क्या है ?', 'हरी खाद', 'जापानी खेती', 'सहकारी खेती', 'घास', 'अण्डा', 'मछली' आदि।

विपिन ने पूछा, "ऊपर धूल जम गयी ?"

"सब देखते हैं अतः ऊपर रखी गयी हैं. थोड़ा-थोड़ा देखते तो हैं ही।"

विपिन ने होंठ दाबे-दाबे कहा, "हूँ।"

"बस एक स्थायी घर की जरूरत है। दो कमरे का मकान हो तो भी चल जायेगा, एक कमरे में ऑफिस, दूसरे में लाइब्रेरी। उसके लिए टेबुल, कुरसी, अन्यान्य चीजें, अच्छी आलमारियाँ दो-चार, महीने के दो टीन किरासिन तेल के, पेट्रोमैक्स की रोशनी, रात में रखवाली के लिए एक चौकीदार—आप क्या जानते नहीं होंगे ? सबसे अधिक जरूरी एक रेडियो है, उसके लिए बैटरी, तब फिर और भी लोग जमेंगे। हमने विभिन्न कार्यों के लिए संघ में मन्त्री खड़े किये हैं, शिक्षा-मन्त्री, स्वास्थ्य-मन्त्री, विकास-मन्त्री, अर्थ-मन्त्री, लोकसम्पर्क-मन्त्री, कृषि-मन्त्री, कला-साहित्य-मन्त्री, जानकर प्रधानमन्त्री नहीं रख रहे हैं, वह सबसे अधिक असुविधा का काम ठहरा। मैं अर्थमन्त्री हूँ। चन्दा कोई देता नहीं। सरकारी सहायता की सख्त जरूरत है। पहले पाँच हजार रुपये हों तब कहीं···"

टक ने मुँह फाड़कर विपिन की ओर देखा। विपिन ने कहा, "ठीक है काम करें, देखेंगे, देखेंगे।"

"कितना देंगे कहिए—"

"वह सब क्या अचानक इस तरह ठीक किया जाता है ? प्रस्ताव दीजिए, विचार होगा, देखूँगा, मुझसे क्या सम्भव है ?"

"चाय लीजिए। परिदर्शन पुस्तिका में कुछ लिख दीजिए।"

चाय पीते-पीते विपिन ने उस कोठरी के अन्दर चारों ओर नजर फेरी। दीवार पर कैलेण्डर के चित्र टँगे हैं, बीड़ी, गुड़ाखू, ड्रेस आदि के अनेक विज्ञापन ···, वे ही चुँधिया देनेवाली तसवीरें। नाना-भाव-भंगिमा में नारी-चित्र। एक ··· चीरहरण का दृश्य है, तो कहीं बादशाह का होली खेलने का दृश्य।

··· कुछ मिल-जुलकर इस घर की रुचि, स्वरूप या आत्मा का परिचय

···शा देवी किधर गयी ? बुला दो, चलेंगे।" विपिन ने कहा।

··· थोड़ा ठहरें, हुजूर !" लोकसम्पर्क-मन्त्री ने कहा, "हमारे खाते-पत्तर ··· नजर डालें। यह देखिए यह रही मिनट-पुस्तिका, उड़ीसा की, भारत की विभिन्न समस्याओं पर यह युवक सभ प्रस्ताव पास कर विभिन्न ···धीन मत भेजता है। उत्तर मिले या न मिले, लोकसम्पर्क की ··· है। वो देखें, दो सौ छियासी नम्बर का प्रस्ताव, अफ्रीका और ···धानमन्त्री नेहरूजी की वैदेशिक नीति का समर्थन कर इस

दोनों ओर है भीड़, वे चले जा रहे है। टक से कहा, "इस गाँव मे तो उत्साह बहुत है! यह उत्साह तो मानो इस देश मे जलविद्युत्-शक्ति हो। एक साथ जमाकर काम मे लगा सके तो देश के विकास के लिए आदमी निश्चिन्त हो जाये, निःशक हो जाये।"

सामने छोटा-सा एक छप्पर का घर। उसके सामने दो जन दोनों ओर से एक बाँस की टट्टी थामे खड़े है। उसमे लाल कपड़े पर रुई से लिखा है—'स्वागतम्'। बाक़ी समय वह इस घर की भीत के सहारे टिका होता, अब बाहर निकाला गया है।

अतिथियों के पहुँचते ही स्वागत-गान शुरू हो गया। एक साथ चार खजड़ी, एक दासकाठिया (रामताली), गिनी बजानेवाले दो जन, एक डुग्गीतबला, एक सिंगल रोड हारमोनियम बजा रहा है। जिसके दो मिड़ जुड़ गये है और चमड़े मे कई जगह छेद हो चुके हैं। उनके साथ दो गायक हैं, प्रत्येक स्वाधीन भाव से गा गया, कोई किसी के साथ मेल नही खा सका।

बाद मे—"ये देखिए, हमारी लाइब्रेरी!" आम की लकड़ी से बनी दो आलमारियाँ, एक के ऊपर राल से लिखा गया है—'श्री गोवर्द्धन जैना के सौजन्य से प्राप्त', दूसरी पर उसी प्रकार से लिखा हुआ है—'श्री गेन्दू छाटोई के सौजन्य से प्राप्त।'

"उपस्थिति-पुस्तिका देखिए," अनेक नाम—बहुत सारे दस्तखत एक हाथ से लिखे जैसे लग रहे है। आलमारी खोली गयी। विपिन और टक ने इधर-उधर से एक-आध किताब खींचकर देखी। अधिक भाग कामशास्त्र सम्बन्धी किताबें थी, जैसे 'स्वस्थ सन्तान सर्जन', 'काम विज्ञान', 'वैवाहिक दायित्व', 'दाम्पत्य सुखवर्द्धिनी', 'प्रकट लीला', 'सुहाग रात' आदि-आदि। तत्सम्बन्धी कई ताड़पत्र की पोथियों का संग्रह भी किया गया है। और कुछ जासूसी उपन्यास, जैसे 'पैनी छुरी', 'जासूस श्रीपति', 'रहस्यमयी', 'लवंगलता हत्या मुकदमा' और इसी तरह। उनसे अधिक सब्धक और एक किस्म के उपन्यास थे। सौ-डेढ़ सौ पन्नों की किताब, चमचमाता गत्ता, उसपर चिकनी-चुपड़ी तसवीर, जिसे किसी और के सामने देखने मे ही लाज लगती, नाम भी उनके अजीब—'दहकती आग', 'लौहनगरी मे द्रौपदी', 'कलंकिनी', 'जले-भुने जीवन की गाथा', 'स्पुटनिका' इत्यादि। पन्नो के कोने मुड़ गये है, हाथों से घिसकर पन्नों की चमक मिट गयी है, जगह-जगह चीकट के दाग, चूने के दाग, काले दाग भी लगे है। जगह-जगह पन्नों पर लकीरें खिंची है, किताबें खूब पढ़ी गयी लगती है।

विपिन ने निराश होकर पूछा, "कुछ योजना-साहित्य नही रखा?"

"है, नही क्यों होगा?"

आलमारी पर के ढेर से धूल झाड़कर कुछेक पत्रिकाओ के पुराने अंक और

किताबें निकालकर दिखायी—'विकास', 'योजना क्या है ?', 'हरी खाद', 'जापानी खेती', 'सहकारी खेती', 'घास', 'अण्डा', 'मछली' आदि।

विपिन ने पूछा, "ऊपर धूल जम गयी ?"

"सब देखते हैं अत. ऊपर रखी गयी है. थोडा-थोडा देखते तो हैं ही।"

विपिन ने होंठ दावे-दावे कहा, "हूँ।"

"बस एक स्थायी घर की जरूरत है। दो कमरे का मकान हो तो भी चल जायेगा, एक कमरे मे ऑफ़िस, दूसरे मे लाइब्रेरी। उसके लिए टेबुल, कुरसी, अन्यान्य चीजें, अच्छी आलमारियाँ दो-चार, महीने के दो टीन किरासिन तेल के, पेट्रोमैक्स की रोशनी, रात में रखवाली के लिए एक चौकीदार—आप क्या जानते नही होंगे ? सबसे अधिक जरूरी एक रेडियो है, उसके लिए बैटरी, तब फिर और भी लोग जमेंगे। हमने विभिन्न कार्यों के लिए सघ में मन्त्री खडे किये हैं, शिक्षा-मन्त्री, स्वास्थ्य-मन्त्री, विकास-मन्त्री, अर्थ-मन्त्री, लोकसम्पर्क-मन्त्री, कृषि-मन्त्री, कला-साहित्य-मन्त्री, जानकर प्रधानमन्त्री नही रख रहे है, वह सबसे अधिक असुविधा का काम ठहरा। मैं अर्थमन्त्री हूँ। चन्दा कोई देता नही। सरकारी सहायता की सख्त जरूरत है। पहले पाँच हजार रुपये हो तब कहीं···"

टक ने मुँह फाडकर विपिन की ओर देखा। विपिन ने कहा, "ठीक है काम करें, देखेंगे, देखेंगे।"

"कितना देंगे कहिए—"

"वह सब क्या अचानक इस तरह ठीक किया जाता है ? प्रस्ताव दीजिए, विचार होगा, देखूंगा, मुझसे क्या सम्भव है ?"

"चाय लीजिए। परिदर्शन पुस्तिका मे कुछ लिख दीजिए।"

चाय पीते-पीते विपिन ने उस कोठरी के अन्दर चारों ओर नजर फेरी। दीवार पर कैलेण्डर के चित्र टँगे है, बीडी, गुडाखू, ड्रेस आदि के अनेक विज्ञापन और वे ही चुँधिया देनेवाली तसवीरें। नाना-भाव-भगिमा मे नारी-चित्र। एक जगह चीरहरण का दृश्य है, तो कही बादशाह का होली खेलने का दृश्य।

सब कुछ मिल-जुलकर इस घर की रुचि, स्वरूप या आत्मा का परिचय देता है।

"आशा देवी किधर गयी ? बुला दो, चलेंगे।" विपिन ने कहा।

"और थोड़ा ठहरे, हुजूर !" लोकसम्पर्क-मन्त्री ने कहा, "हमारे खाते-पत्तर पर भी तनिक नजर डालें। यह देखिए यह रही मिनट-पुस्तिका, उड़ीसा की, भारत की और पृथ्वी की विभिन्न समस्याओं पर यह युवक सघ प्रस्ताव पास कर विभिन्न जगहों को अपना स्वाधीन मत भेजता है। उत्तर मिले या न मिले, लोकसम्पर्क की स्थापना की जाती है। वो देखें, दो सौ छियासी नम्बर का प्रस्ताव, अफ्रीका और चीन के सम्बन्ध मे प्रधानमन्त्री नेहरूजी की वैदेशिक नीति का समर्थन कर इस

दोनों ओर है भीड, वे चले जा रहे है। टक से कहा, "इस गाँव मे तो उत्साह बहुत है! यह उत्साह तो मानो इस देश मे जलविद्युत्-शक्ति हो। एक साथ जमाकर काम में लगा सके तो देश के विकास के लिए आदमी निश्चिन्त हो जाये, नि.शक हो जाये।"

सामने छोटा-सा एक छप्पर का घर। उसके सामने दो जन दोनों ओर से एक बांस की टट्टी थामे खडे है। उसमे लाल कपडे पर रुई से लिखा है—'स्वागतम्'। बाकी समय वह इस घर की भीत के सहारे टिका होता, अब बाहर निकाला गया है।

अतिथियो के पहुँचते ही स्वागत-गान शुरू हो गया। एक साथ चार खजडी, एक दासकाठिया (रामताली), गिनी बजानेवाले दो जन, एक डुग्गीतबला, एक सिंगल रीड हारमोनियम बज रहा है। जिसके दो मिड़ जुड़ गये है और चमड़े मे कई जगह छेद हो चुके है। उनके साथ दो गायक है, प्रत्येक स्वाधीन भाव से गा गया, कोई किसी के साथ मेल नही खा सका।

बाद मे—"ये देखिए, हमारी लाइब्रेरी!" आम की लकडी से बनी दो आलमारियाँ, एक के ऊपर राल से लिखा गया है—'श्री गोवर्द्धन जेना के सौजन्य से प्राप्त', दूसरी पर उसी प्रकार से लिखा हुआ है—'श्री गेण्डु छाटोई के सौजन्य से प्राप्त।'

"उपस्थिति-पुस्तिका देखिए," अनेक नाम—बहुत सारे दस्तखत एक हाथ से लिखे जैसे लग रहे हैं। आलमारी खोली गयी। विपिन और टक ने इधर-उधर से एक-आध किताब खीचकर देखी। अधिक भाग कामशास्त्र सम्बन्धी किताबें थी, जैसे 'स्वस्थ सन्तान सर्जन', 'काम विज्ञान', 'वैवाहिक दायित्व', 'दाम्पत्य सुखवर्द्धिनी', 'प्रकट लीला', 'सुहाग रात' आदि-आदि। तत्सम्बन्धी कई ताड़पत्र की पोथियो का सग्रह भी किया गया है। और कुछ जासूसी उपन्यास, जैसे 'पैनी छुरी', 'जासूस श्रीपति', 'रहस्यमयी', 'लवंगलता हत्या मुकदमा' और इसी तरह। उनसे अधिक सख्यक और एक किस्म के उपन्यास थे। सौ-डेढ सौ पन्नों की किताब, चमचमाता गत्ता, उसपर चिकनी-चुपडी तसवीर, जिसे किसी और के सामने देखने मे ही लाज लगती, नाम भी उनके अजीब—'दहकती 'आग', 'लौहनगरी मे द्रौपदी', 'कलकिनी', 'जले-भुने जीवन की गाथा', 'स्पुटनिका' इत्यादि। पन्नों के कोने मुड गये है, हाथों से घिसकर पन्नो की चमक मिट गयी है, जगह-जगह चीकट के दाग, चूने के दाग, काले दाग भी लगे है। जगह-जगह पन्नों पर लकीरें खिची है, किताबें खूब पढ़ी गयी लगती है।

विपिन ने निराश होकर पूछा, "कुछ योजना-साहित्य नही रखा?"

"है, नही क्यों होगा?"

आलमारी पर के ढेर से धूल झाड़कर कुछेक पत्रिकाओ के पुराने अक और

किताबें निकालकर दिखायी—'विकास', 'योजना क्या है ?', 'हरी खाद', 'जापानी खेती', 'सहकारी खेती', 'घास', 'अण्डा', 'मछली' आदि।

विपिन ने पूछा, "ऊपर धूल जम गयी ?"

"सब देखते है अतः ऊपर रखी गयी है. थोडा-थोडा देखते तो है ही।"

विपिन ने होंठ दावे-दावे कहा, "हूँ।"

"बस एक स्थायी घर की जरूरत है। दो कमरे का मकान हो तो भी चल जायेगा, एक कमरे मे ऑफिस, दूसरे मे लाइब्रेरी। उसके लिए टेबुल, कुरसी, अन्यान्य चीजें, अच्छी आलमारियाँ दो-चार, महीने के दो टीन किरासिन तेल के, पेट्रोमैक्स की रोशनी, रात मे रखवाली के लिए एक चौकीदार—आप क्या जानते नही होंगे ? सबसे अधिक जरूरी एक रेडियो है, उसके लिए बैटरी, तब फिर और भी लोग जमेंगे। हमने विभिन्न कार्यों के लिए संघ मे मन्त्री खड़े किये हैं, शिक्षा-मन्त्री, स्वास्थ्य-मन्त्री, विकास-मन्त्री, अर्थ-मन्त्री, लोकसम्पर्क-मन्त्री, कृषि-मन्त्री, कला-साहित्य-मन्त्री, जानकर प्रधानमन्त्री नही रख रहे है, वह सबसे अधिक असुविधा का काम ठहरा। मैं अर्थमन्त्री हूँ। चन्दा कोई देता नही। सरकारी सहायता की सख्त जरूरत है। पहले पाँच हजार रुपये हो तब कहीं…"

टक ने मुँह फाडकर विपिन की ओर देखा। विपिन ने कहा, "ठीक है काम करें, देखेंगे, देखेंगे।"

"कितना देंगे कहिए—"

"वह सब क्या अचानक इस तरह ठीक किया जाता है ? प्रस्ताव दीजिए, विचार होगा, देखूँगा, मुझसे क्या सम्भव है ?"

"चाय लीजिए। परिदर्शन पुस्तिका में कुछ लिख दीजिए।"

चाय पीते-पीते विपिन ने उस कोठरी के अन्दर चारों ओर नजर फेरी। दीवार पर कैलेण्डर के चित्र टँगे हैं, बीडी, गुडाखू, ड्रेस आदि के अनेक विज्ञापन और वे ही चुँधिया देनेवाली तसवीरें। नाना-भाव-भंगिमा में नारी-चित्र। एक जगह चीरहरण का दृश्य है, तो कहीं बादशाह का होली खेलने का दृश्य।

सब कुछ मिल-जुलकर इस घर की रुचि, स्वरूप या आत्मा का परिचय देता है।

"आशा देवी किधर गयी ? बुला दो, चलेंगे।" विपिन ने कहा।

"और थोड़ा ठहरें, हुजूर !" लोकसम्पर्क-मन्त्री ने कहा, "हमारे खाते-पत्तर पर भी तनिक नजर डालें। यह देखिए यह रही मिनट-पुस्तिका, उड़ीसा की, भारत की और पृथ्वी की विभिन्न समस्याओं पर यह युवक सभ प्रस्ताव पास कर विभिन्न जगहों को अपना स्वाधीन मत भेजता है। उत्तर मिले या न मिले, लोकसम्पर्क की स्थापना की जाती है। वो देखें, दो सौ छियासी नम्बर का प्रस्ताव, अफ्रीका और चीन के सम्बन्ध मे प्रधानमन्त्री नेहरूजी की वैदेशिक नीति का समर्थन कर इस

सघ ने प्रस्ताव पास कर भेजा है दिल्ली।"

"दो सौ चवालीस नम्बर दिखा दो, भारत की भाषा के प्रश्न पर। युवक सघ ने प्रस्ताव भेजा है कि उडिया को भारत की राष्ट्रभाषा बनाया जाये।"

विपिन ने मन्तव्य-पुस्तिका देखी। कितनी भाषाओं मे कितने लोगों ने उसपर मन्तव्य दिये है, कितने ही परिचित लोग। उनकी ख्याति है, अपना-अपना परिसर है। किसी ने भरा है एक पन्ना, किसी ने कविता लिख मारी है, आत्म-प्रकाश की सुविधा देखकर ख़ुद को फैला दिया है। किसी ने कुछ पक्तियाँ-भर लिखी हैं। सबने प्रशसा की है, उत्साह दिया है। युवा-संघ क्या कुछ कर रहा है—वे देख गये है स्वय, परन्तु लिख गये हैं उच्छरित आवेग मे भरकर।

विपिन ने भी एक पक्ति लिख दी—

"युवक सघ मे उत्साह है, आशा करता हूँ कि यह सघ वास्तव में अपना अस्तित्व सार्थक करेगा।"

वह कितने छोटे-छोटे उपदेश दे गया—

आप लोग जिसकी पारी हो उसके खेत मे दो घण्टा शारीरिक परिश्रम करें, अवसर के समय हमारा योजना-साहित्य पढ़ें, चर्चा करें और कार्य मे जुट जायें, आप लोग स्वयं अपनी मदद करें, हम पीछे हैं।

रुपये-पैसो के बारे मे कोई आश्वासन उसने नही दिया था। अतः उसे रोके रखने की ओर चेष्टा नही हुई।

धूप झिलमिलाती कार्तिक की दोपहर। छनछने पत्तो से हरी आभा छनती आ रही है। जीप गाड़ी धूल उड़ाती जा रही है, कितनी गली-कूचे, गाँव-गलियारों का रास्ता, चक-चक करता हरे ग़लीचे की तरह घास का मैदान, बीच में पगडण्डी, शान्त नीलम आकाश को छाती मे भरे, जगह-जगह जोहड, पोखरी, मानो वे भी अपनी डबडबायी आँखो से उसकी गति को अवाक् हो देख रहे है, उसी गाड़ी मे सिगरेट का धुआँ उड़ाता-उड़ाता ढोया जाकर दौडता-फिर रहा है विपिन। उसी रास्ते बैलगाडी चली जा रही है धीरे-धीरे। मानो एक गयी है, और एक आयी है, उसके पीछे-पीछे। मनु, याज्ञवल्क्य, केशरी, पठान, मराठे, अंगरेज कितने आये और गये। अभी भी वही चल रहा है। राह मे भैंसों का दल देख रहा है अपलक, काली स्याह सब कुछ की जानकार आँखे। तिल-भर भी नही टसकती वे, गाडी पास आने पर सच जैसे बिलकुल अनिच्छा से तनिक सरक जाती। पोखरी के ऊपर कतार-के-कतार बगुले, आहिस्ते-आहिस्ते पख हिलाते हुए यहाँ से उड़ वहाँ बैठ रहे है। जगह-जगह दूर-दूर से चावल मिल की घिस्-घिस् आवाज सुनायी पड़ती, नही

तो अब भी जगह-जगह सुनायी पड़ता होता ढेंकी कूटने का धम्-धम्। इमली की छाया में गायें बैठी-बैठी पागुर कर रही हैं। बरामदे में सँकरे दरवाज़े के पास चौपाया होती-सी गृहिणी झाड़ू दे रही है। छोटे छानवाले घर के चौपाल पर नाक के सिरे तक आये सूत बँधा चश्मा लगाये, नाक और माथे पर तिलक किये, कन्धे पर कषाय गमछा डाले, वहीं पर नज़र गड़ाये कोई बैठे हैं, शायद आज खाने को क्या मिलेगा, उन्हें पता न हो। पोखरी के घाट के पत्थर पर पैर फैलाये कोई औरत खूब चिकनाकर अपनी एड़ी रगड़ रही है। जीप की घर्राहट सुनी तो गाँव की चटशाला से कुछ बच्चे किलकारी मारते दरवाज़े की ओर दौड़े आ रहे हैं, ताली बजाकर कूद रहे हैं। जगह-जगह पर फैलाकर मछलियाँ सुखा रहे हैं, 'सुखुआ' करने के लिए, बाँस लिये औरतें कौवों को हाँक रही हैं। पितृपक्ष अभी बीता है, चेहरा चिकना, गिलौरियों से मुँह भरा, छाया-तले बात-चीत भी बैठे-बैठे चल रही है। नये पिल्ले जन्मे हैं, रास्ते पर इधर-उधर कुलबुला रहे हैं। माड़ी लगी-सी आँखों से इधर-उधर देख, संसार को पहचानने की कोशिश कर रहे हैं। कौवा तिनका लिये जा रहा है। पेड़ के तले जगह-जगह कितने चिड़ियों के घोंसले खिसक पड़े हैं। अण्डे फोड़कर चिड़ियाँ उड़ चुकी हैं।

जीप चली जा रही है, विपिन की देह को उत्तरा पवन छू रहा है। लगता है, देहात की इस सपनीली-सपनीली धीमी-धीमी दुनिया के बीच जीप मानो कहीं से बेतुकी बनकर चली आयी है। सचमुच जैसे यह माटी, यह आदमी बिलकुल वेग नहीं चाहता। उसकी गति और उसकी सुस्थि (चैन) एक साथ मिलकर उसकी शान्ति की धारणा बदलने की जब चेष्टा करती है तो वह फिर अपने मन्द भार-केन्द्र की ओर लौट आता है।

कोई मिट्टी काट रहा है, कोई बाँस तोड़ रहा है, कोई चटाई बुन रहा है, पर लगता है सब हो रहा है हौले-हौले। कहीं मेड़ पर बैठकर पान लगाना चल रहा है, पूरा हो तो फिर चोट पड़ेगी। यह सुस्ताने की आदत और परम्परा है। जी-तोड़ परिश्रम के अलावा और भी कई चीज़ें हैं जिन्हें वह अधिक मूल्य देता है, जैसे उसकी चिक्कन सिंथी या माँग, उसका पूजा-पाठ, अष्ट-चीरा हो चाहे, पर ऊँची पटली या सिर पर साड़ी का घूँघट, उसकी पान की गिलौरी, और बीच-बीच में इधर-उधर देखने, ताकते-झाँकते बतियाते जाने की थोड़ी-बहुत फुरसत।

काम की जगह पर जीप रुकती है। कहीं घर खड़े किये जा रहे हैं, कहीं माटी खोदी जा रही है, कहीं बढ़ई काठ की चिराई में लगे हैं, वहाँ बोली जा रही है ओडिशी छन्दशाला—जिसके अर्थ लगाते समय देश के महान्-महान् पण्डितगणों को पसीने छूट जाते हैं। अब बोल रहे हैं निरक्षर मजूरे-मजूरनियाँ। बात-बात पर वहाँ चर्चा चल पड़ती, बड़े-बड़े तत्त्व-दर्शन की—आत्मा क्या है, परमात्मा क्या, दो या एक, भगति का मतलब, ज्ञान का अरथ—उसी गारा बनाने, खूँटे के पास

या सब्ज़ी काटने के पास।

इतना घूम-घूम इतना चिल्लाने के बाद इतने बरसो पर यह जो आँखों के आगे आ रहा है, कही थोड़ी-थोड़ी सुस्थता, क्या इसे परिवर्तन कहा जायेगा ? कहाँ है यहाँ परिवर्तन ? कब होगा ? उलटा उधर तनिक धोया-धोया साफ़-सुथरा होते-होते या दुकान की चीजें पहले से कुछ अधिक ख़रीदते-ख़रीदते, या फिर इधर कोई सड़क या उधर एक मकान खड़ा होते-होते ही वाद-विवाद छिड़ जाता है, मनो मे फटना-टूटना बढ जाता है, सारे विकास और प्रगति के रास्ते मे वह सबसे बड़ा अवरोध है, भविष्य के लिए घोर विपद्‌जनक है।

विपिन सोच रहा है। मानव-जीवन पाकर सोचने का उसे इतना ही तो अवसर मिलता है, इस तरह जीप में जाते समय।

पहले था जमीन मे जड़ जमाये हुए समाज, जहाँ पर इधर-उधर थोपा-थपका। उसके साथ साआन्त-प्रथा (सामन्तवाद), एक दल होंगे जो बैठे-बैठे खायेंगे, हुकम चलायेंगे, और दूसरा दल होगा, धरती पर खटेगा, उन्हे पालते रहेगा। मेहनत न कर मुफ़्त के खानेवालो को लम्बी पटली, बडा घर, लम्बी ही नीति-सिद्धि, जिनकी देखभाल करते होंगे अन्य लोग, ऊँचे टेककर उन्हे रखते होगे, साफ़ करते होंगे, काम-धन्धा कर देते होंगे। उनकी अपनी देह से पसीना बहेगा नही, केवल सग्रह करना, सहेजना, भोग करना, मनमाना देना, लेना या उडाना। शीतला की मनौती या 'तप्त पूजा' किसी-न-किसी बहाने भाँति-भाँति के पिठऊपना, पूजा, उत्सव, बड़ी पीकदान, पत्थर का हमाम, भारी काँसे के कलसे, हुण्डे, थाल-थालियाँ, तकिया, सवारी, पालकी, वजनी सीसम की पीतल की जडाऊदार बहँगी, रहने का सजा-सँवरा कमरा। उस समाज की परिस्थिति मे न श्रम था न उद्योग करके जीना। रीति-नीति, आचार-विचार, मनोवृत्ति ख़ुद ही वैसी हो गयी है। बाद के ज़माने मे बेटे-पोतो के समय यह व्यवस्था टूटकर चकनाचूर होने पर भी आदत या मन बदला नही, जो था भोग-आडम्बर-अमल का, चैन से चलने का कायदा, उन सबमे कई चिराचरित वैसी ही प्रथाएँ अब भी हैं, वही पुराने ज़माने की परिस्थिति मे गढा गया धर्मविश्वास उस प्रथा को कसकर थामे है, अत. आदमी-आदमी के बीच-छुआ-छूत का भेद भी इतनी तर्क युक्ति, इतने प्रचार के बावजूद सम्पूर्ण रूप से हट न सका।

और वे जो एक दल था, देश का बड़ा भाग, धरती पर खटनेवाले लोगो का, उस पुराने जमाने मे उनके अस्तित्व की नस-नस मे एक असीम उदासीनता भर गयी थी कि कितना भी वह खटे, थाली भरती ही नही। अँगुली के पोरो के बीचवाली फाँक होकर वह जायेगा पता नही कितना—उच्च कुल, ऊँची जाति, साआन्त, महाजन, मकद्दम, ज़मीदार, राजा, वे ही जन्मे है सुख से इस धरा को भोग करने के लिए, राजभोग करने के लिए, अतः सारी भाग्य की बातें हैं। जितना हुआ

उतना ही सही, सबको प्रणाम जनाकर—गुरु, गौ, ब्राह्मण, वैष्णव, साआन्त, मालिक सबको—जितना सम्भव उतना अलसाकर, दम लेकर किसी तरह समय काट इस जीवन को बिता सके तो उस पूजा, ओझा, यात्रा-पर्व-स्नान-वारुणी तिलक छापा नाम-कीर्तन के बल पर अगले जनम मे तनिक भले घर मे भली अवस्था मे जन्म ले सकेंगे, भोग कर सकेगे। वैकुण्ठ मिल गया तो पुनर्जन्म का सारा भय मिट जायेगा। उस समाज की रीति-नीति, चाल-चलन, आचार-विचार भी उसी जमाने की परिस्थिति के साँचे मे बने है, जब श्रम के लिए कोई मर्यादा नही थी, न ही विकास के लिए कोई उत्साह। वह अवस्था बदली है, अब किसी की लाल आँखों का डर नही। अब जितना श्रम, उतनी ही उन्नति। सच है, परन्तु वह दादे-परदादे के जमाने की थम जाने की, रुक जाने की चेतना भरी है कि मै कुछ नही, मेरी भला क्या गिनती है!—मै कहीं काम न आ सकूँगा—मेरा तो सागमाँड़ खाकर पैसारा लादे घूमकर या माटी खोदकर जैसे चलता था ही वैसे चलेगा; किसी दिन लुढक जाना है, किसी ओर देखना या हूँ-चूँ करना नही चाहिए। पर इधर इतिहास बदल गया है, उमी आदमी के हाथो मे है अब क्षमता, दायित्व-शक्ति, सब।

विपिन सोच रहा था, जटिल भावनाओं के दायरे मे सरल-सा रास्ता खुला जा रहा है सामने की ओर। उसकी विभिन्न दिशाएँ उसकी आँखों के आगे दिखती-सी लग रही है।

सोच रहा था—वही जो आम आदमी, कानून या सस्था, जो कहो, उसके अनुसार इस माटी का मालिक है, मालिक होने के बाद भी वह उसी पुराने अभिमान, पुरानी अनास्था की ओर ढलकर रहने की तरह है, उसकी आवाज़ में दम नही, आँखो मे रंग नहीं, सच, जैसे उसमें न दाढ़ी है न लाठी। अब भी वह उपकार की आशा में हाकिम-अफ़सरों के पास जी-हुजूरी करता है, दरख़ास्त डालकर ऊपर की ओर ताकता रहता है, महीनो सोचता है कि दया कर कोई और आयेगा तो उसका घर खडा कर देगा। और वह चाहता रहता है छोटी-छोटी सुविधाएँ, उसी का काम पहले होता, और कोई कुछ पाये या न पाये, वह कुछ पा जाता। सुयोग का रास्ता दिख जाने पर उतने भर के लिए उसका औरो के साथ आपा-धापी कलह-झगड़ा शुरू हो जाता है, पड़ोसी पर दाँव साधने-सधाने में ही उसका समय चला जाता है, देखते हुए भी अपने अधिकार को पहचानता नहीं, अपना दायित्व समझता नही।

कितने दिन बीतेंगे यों ही? कितने दिन रहेगी यह कुम्भकर्णी नींद? रहेगी तो नही। तब इस माटी पर युग पलटेगा। वह अपनी मनपसन्द सस्था गढ़ेगा। चलने-चलाने की ख़ातिर मशीन तैयार करेगा, कितनी उठा-पटक करेगा। तब वह सह-सँभालकर काम करेगा या नयी क्यारी-बाड़ी लगाने के लिए पुराने खेत को उखाड़

देगा, तोड देगा, छोटा करेगा, वड़ा करेगा। एक-एक कर पुराने खेत से सारे झाड़-झखाड की जड़, ठूंठ उखाड-खोदकर एक जगह रख, आग लगा देगा?

अव उसकी अपनी वात! वह—विपिन—उसे भी आगामी अवस्था को सँभालना पड़ेगा। तव वे और खीस नही निपोरेंगे।

गुहारिया होकर दरखास्त भेजकर प्रतीक्षा करते वैठे नही रहेंगे, उन्हे अनुभव होने लगेगा कि वे ही वास्तव में मालिक हैं, स्वामी है—शासन-गद्दी से शासन-काल तक सब उन्ही का है और उन्ही के लिए है।

तव फिर क्या होगा?

यही जीप ओर इस तरह की कितनी ही गाडियों को तव माटी-गारे मे सने फटे-पुराने चीथड़े पहने चासी उसी दृष्टि से देखेंगे, और गैंती-टोकरी या भार-बहंगी ढोते कुलियों के समूह, या कल-कारखाने, दुकान-गोदाम के मालिक-व्यवसायी या पहाड-जगलो के बीच झोपडियों में लँगोटी वांधे आधे भूखे कन्द-मूल खानेवाले लोग, उसी दृष्टि से देखेंगे! रोशनी झिलमिलाते मकानों की भीड़-भरे शहरो और पहाडो-टीलो पर लाखों रुपये से बने राजप्रासादो से, जहाँ सगीनधारी पहरेदार होते हैं। जहाँ सारी राते जैसी दीवाली की रातें होती है—ये भण्डार हमारे ही धन से बने है। हम मालिक है—ये सब हमारे ही हित के लिए हैं।

निराशा होने पर या गुस्से मे भरने पर वे क्या दरखास्त भेजकर चुप रहेंगे या और कुछ करेंगे?

क्यों वारम्वार वाढ आती है, रोकी नही जा सकती, क्यों किसी काम मे देर हो रही है, कहाँ त्रुटि रह जाती है, कहाँ छेद होकर धन वह जाता है, क्यो कहीं पीने को भी पानी नही, रोगी के लिए दवा नही, डॉक्टर नही। क्यों शिल्प वढ़ नहीं रहे, आमदनी वढी नही, गरीबी हटी नही, अशिक्षा गयी नही, इसके लिए वे सभा में उत्तर पा लेने-भर से सन्तुष्ट नही होंगे। सवकी जव आँखे खुल जायेंगी, भय टूट जायेगा, तव तरीका यह नहीं रहेगा!

फिर विपिन ने दूसरे सिरे से सोचना शुरू किया, कि अभी वह दिन दूर है। कितनी ही आँख खुले, कितनी ही बुद्धि आये, फिर भी वहाँ लुका-छुपा होगा भेदासुर। स्वार्थ के मोह मे पड लोग अपने हाथ-पाँव वाँध खुद को औरो के पास वेचते रहेंगे। धन और क्षमता का लालच, आगे वढकर सुविधा प्राप्त करने का लोभ उन लोगों को अलग-अलग किये रखेगा। अभी भी करता है, आगे भी करेगा। वाँस वढता है, साथ-साथ उसके अन्दर का खोखलापन भी वढ रहा है। मनुष्य स्वार्थ के लिए दौड़ता होगा औरों के पास जी-हुजूरी करता होगा, पिछलगू वना फिरता होगा। एक दल अगर विपिन को खराव कहेगा, तो दूसरा दल निकलेगा जो उसे अच्छा कहेगा। नाना स्तरो पर उसके लिए पानी थामनेवाले, ढोलवाले, महुवरिया वननेवालो की कमी नही होगी। वस वुद्धि होने की वात। परन्तु उस वुद्धि में अपनी

उन्नति नही हो सकेगी, उसके कार्य की उन्नति में वह कहाँ तक सहायक होगा ?

विषण्ण होकर वह सोचने लगा, लोगों में जो एकता है, जिस सामूहिक चेतना और विकास-कार्यों की नींव बनना वह चाहता है, अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन के लिए वह उसका उलटा ही मानो खोज रहा है। तो क्या अपने प्रचारित लक्ष्य के प्रति उसमें आन्तरिकता नही ?

वह अपने विवेक के दंश का अनुभव कर रहा था, इसके बाद एक और धारणा अपने मन में लाकर वह अपना दोष छुड़ाने लगा—

दोष उसका नही, दोष उन लोगों का नही, दोष तो इस साँचे का है। इसमें ऐसा कुछ है जो आदर्श और कार्य को परस्पर विरोधी किये दे रहा है।

सच, जैसे उसने कोई बड़ा भारी आविष्कार कर डाला हो, कुछ इसी प्रकार के आत्मतोष का उसने मन-ही-मन अनुभव किया। सिगरेट का लम्बा कश खीच-कर इधर-उधर देखता सोचने लगा—जब साँचा बदलेगा, तब अपने आप वह बदल जायेगा, सब सुधर जायेगा, तब तक कोई दायी नही, किसी का दोष नही।

साँचे की बात सोचते-सोचते भाग्य की बात। ठीक उसके नीचे एक और सीढ़ी। भाग्य, समय-सुयोग। समय—वह आने पर अपने आप साँचा भी बदलेगा, सबसे बड़ा कारण, सबसे बड़ी कैफ़ियत, सबसे बड़ी सान्त्वना और सबसे बड़ा आश्रय—भाग्य।

जब आगे-पीछे की बात सोचता, वह अपने संगी-साथियों के ही उदाहरण पाता। कोई नीचे पड़ा है कि दो जून पेट भी नही भरता, और कोई बढ़ते-बढ़ते हो गया है उसके हाकिम का भी हाकिम। उन्ही लोगों को चाकरी देने लायक़ कोई सेठ या नेता बन बैठा है, पहले जो लोग दाना-पानी के युद्ध मे उतरे थे, जिन्हें वह गोद मे खिलाता था, उनमें कितने ही तो चटशाला मे बैठे पहाड़े रटते थे, जब वह कॉलेज छोडकर आया था। आज वह उन्हें ख़ुश करने की चेष्टा करता है, डरते-डरते चलता है, वह कोई कारण या फल और कुछ नही—वह भाग्य है !

उसकी योजना का दर्शन आपत्ति करे, अस्वीकार करे, वह गुप्त रूप से विश्वास करता है कि भाग्य ही मूल है। असमानता भाग्य का प्रमाण है, भाग्य का फल है। वह मशीन की तरह काम ज़रूर करता है, पर मन-ही-मन किस ज़माने से उसने वहाँ आत्मसमर्पण कर दिया है ! कितनी जलन, कितनी घुटन, कितनी निराशा, कितने अभावों के कारण गढ़ा गया है—इस देश में पीढ़ी-दर-पीढ़ी बना हुआ यह भाग्यवाद। पोशाक या छटा, आदत या चलन मे आधुनिक बनने पर भी वह उसे छोड नहीं सका है।

धड़-धड-हिचक्-हिचक्-घूँ-घूँ करती जीप चली जा रही है। सोचना ही पडेगा। भावना मोड ले गयी। उसे इतिहास की बात याद आयी। बिलकुल इसी रास्ते न सही, इसी माटी पर युग-युग के शासक और कार्यकर्ता ज़रूर घूमते रहे

होंगे, हाथी-घोड़े पर चढ़कर या सवारी पर बैठ। कितने प्रतापी थे! बादशाह, राजा-महाराजा, सेनापति। कितनी विचित्र घटनाओं से इतिहास के पन्ने भरे हैं।

परन्तु किस युग में था कि देश का आम आदमी जाति-धर्म-वृत्ति निर्विशेष से इस देश का मालिक होगा! कब था आम आदमी का इतना दायित्व, इतना अधिकार? इस समय के लोगों को देखकर क्या सोचते अशोक या अकबर, नरसिंहदेव या प्रतापरुद्र देव? कब आम आदमी की उन्नति के लिए इतनी बातें, इतनी योजनाएँ? जल्दी हो, धीमे हो, कोई गलत हो या कोई ठीक हो—यह उद्यम, यह नियम कभी न था। यह योजना फलवती होंगी या निष्फल—इतनी जल्दी इस बारे में कोई राय नही दी जा सकती। कल की बात लगती है, कुछ ही बरस तो हुए इसे शुरू किये—और वह इतिहास था हजार-हजार बरसों का, तुलना करने का समय अभी आया नही है।

ऐसे और पचास बरस के बाद यह देश कैसा होगा, कैसा दिखेगा?

अपने आत्मप्रत्यय में आराम से सहारा लिये विकास का कारीगर विपिन मन-ही-मन एक सुखकर चित्र आँकता हुआ उसे बाहर की ओर देखने की चेष्टा करने लगा।

उसके उस चित्र में नही थे—बाढ़, भूकम्प, या जगत्-ध्वंसी बमों का उत्पात। उसमें कोई विक्षोभ या विप्लव न था, उसके बीज या बीजों का बोना भी न था। केवल सड़क, मकान, पुल, बाँध, नाले, मशीन, यानवाहन, रकम-रकम के खाद से पुष्ट खेत, दसगुनी पैदावार, गाय-गोरू, मुर्गा, मछली, कारखाने, बाजार, बिजली की रोशनी, और ऐसी कितनी ही बातें। उसमे न था मानव-समाज का स्नेह या प्रीति, देन-लेन, दया-दाक्षिण्य भाव की कमी या बढ़ोत्तरी, आदमी के मन के अन्दर सुख-शान्ति का माप, मानव के विभिन्न सम्बन्धों को लेकर मोल-तोल का हिसाब, भागवत या भगवान् के प्रति आदमी का दृष्टिकोण।

जीप गाडी तक आ रही है सरसों के फूलों की महक। उधर मेड़ पर गयश के फूल सिर हिला रहे हैं, दूर-दूर पर उठी हुई पूँछ की तरह ढेरों खस के फूल। गाँव-गलियारे से जाते समय बाड लगी बैंगन की क्यारी के उधर थोड़े-थोड़े गेंदे के फूल। बाड़ में अपराजिता के फूल, लाल टहटह कुँदरू, झाड़ में महाकाल फल, नयी खिली हुई गुंजा, आक, सोने के तार की तरह निमूली लता। घास पर भूरे रंगिणी फूल, सैंकडो गौरया, माटी मे चिपके होने की तरह पतले-पतले नाके, उनपर छोटे-छोटे फूल।

इस लिपी-पुती माटी के बरामदे के नीचे नारियल की छाया मे वह तनिक रुक जाता, भीत पर आँके गये इस सुन्दर पिठऊ से बने चित्र को निरखने। तनिक रुककर पुन्नाग की छाया मे आँख-भर इस हलदीवसन्त चिड़िया का रूप देख लेता। कितना स्वच्छ आकाश, कितना स्वच्छ पानी। और यह खिलखिलाती अल्हड़ धूप

याद दिला देती है, पढ़ाई के दिनों का खेल और भाग-दौड़। गिलगिले-से बच्चों के चेहरे, पत्नी का चेहरा दिख जाता, गाँव का दृश्य आँखों के आगे तैर जाता।

केवल पल-भर रुक जाता! जीप चली जा रही है।

परन्तु पाटेली गाँव अथवा, फूलशरा मे चल रही रवि की योजना की बात कभी याद आ जाती तो विपिन के बायें होंठ का कोना दब जाता, आँखें कुछ सुलग-सी उठती। पाटेली गाँव को ओर गाडी चली जा रही है, वहाँ कोई झमेला उठ खडा हुआ है। कल की-सी बात है—पाटेली गाँववाले कितनी लम्बी-लम्बी डीग हाँक रहे थे, तब वे एकजुट होकर श्रम में लगे हुए थे, मामलाती में रहने की तरह गाँव को गढने में लगे थे। सचमुच जैसे वे इस राज्य से भी स्वतन्त्र हों। कानी भेड का अलग ही वाडा। यह कैसे सम्भव होता? कितने दिन रहता? अपने अन्दर होड़-तोड की आवाज़ सुनते-सुनते विपिन मन के मोड में वही बात सोचता जा रहा था—कुछ ही महीनों मे चौपट होने की सूचना मिल रही है, ज़रा-सी हवा करते ही आग सुलग उठेगी, मिल जायेगी तूफ़ान में, और फिर?

रवि उसका मित्र है ज़रूर, वह उसके लिए अपना कुछ पैसा या सुविधा या समय का भी कुछ त्याग कर सकता है, परन्तु बुद्धि की दौड या खेल-कसरत में वह उससे बढ जाना ही चाहता है, वहाँ वह जीतेगा, ज़रूर जीतेगा। यही बात मन-ही-मन वह जोर देकर कहता है, आशा करता है।

कानून मानकर उसकी संस्था और ऊपरवाले उसके रास्ते के लिए जो रेखा खीच देते है, उसी लीक-लीक पर चुपचाप चलकर भी वह अपनी पोशाक के खोल के अन्दर अपने व्यक्तित्व के अभिमान को सहेजकर रखे है। संस्था के लौह-पिंजर के अन्दर जहाँ वह अपना जीवित अभिमान पग-पग पर अनुभव करता कि वह दुर्बल है, निःसहाय है, वहाँ वह परिस्थिति को ग्रहण कर लेता है। सचमुच जैसे किसी अस्वास्थ्यकर इलाके में बदली होने पर वहाँ की हवा-पानी को ग्रहण कर लेने की तरह—मानो वही उसके लिए भगवान् का बनाया दायरा है, उसे जो करने को कहा जाता है, चलन का जो नियम उसपर लाद दिया गया है, उसमें उसे चाहे जितनी अडचन आये, वह चाहे जितना ग़लत लगे, फिर भी उसके बारे मे उसे कुछ नही कहना, सबको यथायोग्य मानेगा।

परन्तु उसका वह अभिमान हाड-चाम मे एकदम बूढे बाघ की तरह भूखे रह-रहकर उन्मत्त हो उठता, वही जहाँ वह क़ाबू में रहने को बाध्य नहीं, परिस्थिति के चक्कर मे पडकर इच्छा होते हुए भी जो वह न कर सका, जिधर उसने भरोसा नही किया, उधर कोई और कुछ करता है तो वह उसका कठोर आलोचक बन

जाता है। वह चाहता है कि वे सारी चेष्टाएँ दबें, टूट जायें। उनके भूखे अभिमान के लिए कम-से-कम वही आहार होता, उतनी ही सान्त्वना होती। वही उसका बौद्धिक आनन्द है—वह आनन्द की धारणा युग की पट्टभूमि पर चाहे केकड़े की तरह पैरवाली हो, यानी आगे-आगे देखते हुए पीछे की ओर गति।

खेत के उधर पाटेली गाँव के घने पेड़ों की क़तार विपिन की आँखों मे पड़ते-न-पड़ते उसके मन में वही उत्साह फैल गया। घटना बिलकुल मामूली-सी, वही रोज़मर्रे की बात—दो मत। बाड़-दीवार।

सामलाती की तरफ़वालो ने कहा, "आनुष्ठानिक भाव से पचायत गढ़ने मे हमारी शोक नही, सबका मन मिला तो पचो का मेल, उसके लिए फिर इतना अख़बारों में नाम छपाना या ढिढोरा पीटना हम नही चाहते।"

एक तरफ़ है अगणिराय, गदेई लेंका, सुदर्शन दास, बावन महान्ती आदि। उन लोगों का कहना है, "तुम लोग माटी खोद-खोदकर गाँव को किस स्वर्ग मे कितने दिन उठाते रहोगे, अत. हमारे यहाँ पचायत बनेगी, तब जाकर सरकार से रुपये मिलेंगे, काम होगा।"

दूसरी तरफ़वालो ने कहा, "हमारा तो सब कुछ सामलाती हो गया है। सबकी सारी कमाई सामलाती कमाई है, सारी पचायती पूँजी है, फिर और क्या रहा ?"

पहली तरफ़वालो ने कहा, "हमारी भोटो की लड़ाई हो जाये। कानून कहता है।"

सामलातीवालो ने कहा, "गाँव का चलन कोई बादीपाला (दावा रखकर 'पाला' गायन करनेवालो द्वारा की गयी युगलबन्दी) नही है।"

उधरवालो ने कहा, "भोटों के बिना जनता का मत किधर है, कैसे जाना जायेगा ?"

सामलात की तरफवालो ने कहा, "केवल अधिक लोगो के मत को आगे रख थोड़े लोगों पर लाद देने से शान्ति नही रहेगी।"

उधरवालों ने कहा, "एकमत न होने तक क्या होगा ?"

सामलात की तरफवालो ने कहा, "इन्तजार कर समझाने-बुझाने में लग जाना पड़ेगा।"

उधरवालो ने कहा, "तब फिर इन्तजार ही सार हुई, कोई काम तो होने से रहा। हमारे तो भोट लिये जायें।"

पचायत के विस्तार को लेकर भी घोर मतभेद दिखायी दिया था। सामलाती-वालो ने कहा, "एकमत होकर सब उन्नति के कामों मे लग जायें। यही इच्छा हो तो पास-पास घर बनाकर एक पल्लि या एक गाँव को एक-एक पचायत होने की ज़रूरत है, ताकि पैदल ही चल-चलकर एक ही दिन मे एक जगह सब बसर-गुज़र करें, देखा-देखी हो सके।"

पहले दलवालों ने कहा, "सो कैसे होगा? सरकार जो करे। देखो हमारे यहाँ की पंचायत है—तण्डीकूल, साइंसो, जरिपड़ा और पाटेली गाँव। चार गाँवों की एक पचायत।"

सामलाती दल ने कहा, "छोटी-छोटी पचायतें, एक-एक गाँव की एक-एक। असल काम होगा मन का मेल करना, परस्पर की सहायता करना, सबकी उन्नति की बाबत सोचना और कठोर परिश्रम करना। सरकारी सहायता आयेगी दो प्रकार से, पचायत जी-तोड़ काम करे फिर जो कमी रह जायेगी उसके लिए सहायता मिलेगी, मन लगाकर काम किये बिना कुछ नही होना। और एक तरह की सहायता आयेगी बड़े-बड़े अचल को लेकर, बीस-पचीस पंचायतो को लेकर एक-एक अंचल (बड़ा चक) या समिति या ब्लौक, चाहे कुछ भी नाम दो, सारी पंचायतों के मत के अनुसार और फिर सबके हित की दृष्टि से क्या-क्या किया जाना चाहिए सो सोचकर, सरकार अपना बलाबल देख-विचारकर, पैसा खर्च करती जायेगी। पचायतें जितना सकें उतनी मदद करेगी। वह होगा रुपये-पैसों का विकास, मशीनी विकास, और यही होगी विकास की असल नीव। मन मिलेंगे, नीति ऊँची रहेगी, आदमी गढ़े जायेंगे, विचार के साथ हाथ-पैर बात मानेंगे।"

पहले दलवालो ने कहा, "रखो जी अपना यह विचार, तुम ख़ुद जब सरकार होगे तब कहना, लोग-बाग मानेंगे। अभी तो पचायत का गठन होगा, भोट लिये जायेंगे, मेम्बर चुने जायेगे। चार गाँव के तेरह जने मेम्बर, उनमें पाटेली गाँव के चार चुने जाते हैं, उन्ही पर भोट पड़ेंगे। तुम्हारी ओर के एक तरफ़, बाकी हमारी तरफ़ के एक ओर।"

सामलातीवालों ने कहा, "जो करना हो करते जाओ, हम इसमें नहीं है।"

गोलमाल हो-हल्ले के बीच बैठक टूट गयी थी।

चर ने सही वक़्त पर आकर ख़बर दी—ख़ूब उत्साह से विपिन ने अपनी दौरे की डायरी मे तारीख़ डालकर मोटे-मोटे अक्षरो मे लिखा—'पाटेली गाँव।'

इसी तरह एक बार फिर लिखेगा—'फूलझरा।' वह सुदिन उसके दिग्वलय मे लगेगा कभी तो जरूर, उसका मन कह रहा है। फिर और कई गाँव।

सच, जैसे ये कोई गाँव नही, गढ़ है—रामगढ़, प्रतापगढ, सारंगगढ़, एक के बाद एक कर इतने गढो का पतन होगा।

उसका मत विजय पायेगा। सच, जैसे उसकी तरफ की जीत होगी, यह उसी की सूचना है।

रास्ते पर जीप चली जा रही है। किनारे-किनारे जमीन की बाड़ पर खिले है बटुवा के फूलों की तरह लाल-लाल गोल-गोल फूल, उनके उधर घना हरा गुनगुने अगरे के पौधे मे हलद फूल ढेर-के-ढेर, वही दृश्य उसकी दृष्टि मे भर गया, और

मन में वह एक तीक्ष्ण आनन्द का अनुभव कर रहा था। रक्ताभ लाल और उधर सब्ज-हलद चित्र की पृष्ठभूमि पर वह एक सत्य देख सका—कि यह कलह तो आज का नहीं, युग-युग का है, यह कलह अभिमान-अभिमान के बीच है, व्यक्तित्व और व्यक्तित्व में है, एक ओर वह स्वयं—दूसरी ओर रवि !

रवि उसका प्रिय मित्र है, परन्तु आदमी की अस्तित्व-अनुभूति मानो इस हृदयभाव पर दिखायी नहीं देती, उसका आसन अहंकार-मन-बुद्धि के ऊपर है। वहाँ रवि उसका प्रतिपक्षी है।

अबकी वह सोचने लगा—कोई एक क्षमता पाता है तो अपने प्रकार से गढ़ता है। दूसरा आते ही पुराने तरीके को उलटने की चेष्टा करता है, मानो कि उस पहलेवाले की छूत अथवा उसके नाम की मुहर उसके हर काम में लगी हो, पहले उसे रगड़-पोंछकर निश्चिह्न करना पड़ेगा, उसके बाद धुली-पुंछी सलेट पर नये अक्षर लिखे जायेंगे।

जिस साँचे या जिस कार्य पर अनेक लोगों का भला-बुरा निर्भर करता है, उसे सिर्फ एक-एक आदमी के अहंकार-मन-बुद्धि के विशिष्ट स्वरूप के अनुसार गढ़ने पर भविष्य में उसका फल क्या होगा ? व्यक्तित्व-व्यक्तित्व की कुश्ती-कसरत का फल देश-भर भोग करता रहेगा ? आगे-पीछे के समन्वय को छोड़कर योजना की कमर फिर मजबूत कैसे रहेगी ? उलट-पलट इधर-उधर होने से मूलतः उसका अस्तित्व कैसे रहेगा ? यह तर्क याद आते-न-आते उसने अपने व्यक्तिगत आनन्द को दबा दिया। अब उसकी गति मुड़ी हृदय और अहंकार के किनारे-किनारे। विश्वास कर लिया कि उसने जो मूल्य दिया है, उचित माना है, वह ठीक हुआ है। यह कोई व्यक्ति-व्यक्ति या मतामत के बीच का कलह नहीं है—यह सिर्फ सत्य का आश्रय लेना है, सत्य की प्रतिष्ठा है। जो गलत रास्ते पर जा रहा है वह उसके लिए दुखित है। रवि का यह रास्ता केवल असम्भव, काल्पनिक और अल्पायु का है। इस तरह जाने कितने ही लोग कितने पथ दिखा गये हैं युग-युग में, पर यथार्थ यथार्थ ही रहा है, आदमी का स्वभाव बदला नहीं।

सिर्फ मुँह से कहे, 'दान दो, एक घर बनो, हिंसा छोड़ो, श्रम करो'—इस तरह कहते चलने पर देश की उन्नति नहीं हो सकेगी, दो दिन के लिए लोगों को उभारकर एक रास्ते हाँकने पर भी वह यात्रा चिरस्थायी नहीं होगी। कौन-सी बुद्धि लगाने से विकास-कार्य हो सकेगा, देश की अज्ञता, अशिक्षा, अभाव, रोग दूर होंगे और दुनिया के अन्यान्य उन्नत देशों के साथ यह देश समकक्ष होगा—इसके लिए कितने देशों के कितने बड़े-बड़े दिमाग एक साथ मिलकर काम कर रहे हैं। और रवि ! क्षुद्र रवि ! वह केवल समय बरबाद कर रहा है, शक्ति का क्षय कर रहा है अपनी, और साथ-साथ औरों की भी।

आदमी के अभाव, दुख, दुर्दशा और नैराश्य में से पैदा होते हैं उसके लिए भाँति-

भाँति के बाबाजी, रास्ता दिखानेवाले, क्योंकि तब आदमी जादू और असम्भव आकस्मिकता पर निर्भर होकर दिन काटता होता है। कोई मन्त्रित कर पानी की चुल्लू देगा, कोई धूल या राख की मुट्ठी देगा, कोई सिर्फ़ प्रसन्न होकर हँस देगा, बस इतने में जिसे बेटा नहीं उसे बेटा मिलेगा, चाकरी में पदोन्नति होगी, या व्यापार में लाभ होगा। इसके लिए बारम्बार पैदा हुआ करते हैं रत्तलेई गाँव। (कुछ वर्ष पूर्व अलौकिक शक्ति सम्पन्न बालक के इस गाँव में प्रादुर्भाव की ख़बर सुन वहाँ लाखों लोग जमा हुए थे और हैज़ा आदि के कारण कितनी जानें चली गयी थीं।) उसी तरह सामाजिक संस्था बदलकर स्वराज्य गढ़ने का आश्वासन देकर निकल पड़ते हैं कितने ही बार पथप्रदर्शक—'आओ, इस रास्ते चलो। मेरे ही पीछे-पीछे।'

ढोल-मृदंग बजते हैं, शंख, हुलहुली उच्छरित होती है, अपनी-अपनी साधारण धन्धा-वृत्ति छोड़ कई त्याग कर झुण्ड-के-झुण्ड दौड़ जाते हैं। बाद में दौड़ते-न-दौड़ते वह यात्रा बुझ जाती है, वह जुलूस छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह बहाव सत्ता खो देता है किसी कीचड़ या गन्दी पोखरी में। अतः निर्देश कौन दे? केवल हृदय का उच्छ्वसित आवेग और स्वप्न तथा आँख-मूँदा विश्वास, या देख-बूझ-विचार के बाद एक हाथ नापकर एक बित्ता चलने का कायदा?

रवि को वह कितनी बार यह बात समझा-समझाकर थक गया है। रवि क्या कहेगा, सो भी वह जानता है। कहेगा—आदमी में निहित भलमनसाहत में तुम्हारी आस्था नहीं। स्नेह, प्रीत, आशा, विश्वास पर तुममें भरोसा नहीं, फिर किसे लेकर आदमी जीयेगा? सन्देह, अविश्वास, वितर्क और अति-सावधानी से आदमी ने गढ़ी है यह सृष्टि—ध्वंसक बम, वही तुम खोजते हो?

वो, पाटेली गाँव पास आ गया। रवि की वह हँसी याद आ रही है। उसका घर यहाँ नहीं है, पर यह सामलाती उसी की हवा के छूने से बना है। और इस गाँव में है सिन्धु चौधरी की बेटी छवि। उसी मन्त्र से दीक्षित। चेहरा याद आ रहा है। दोनों की जोड़ी तो ख़ूब जँचती! विपिन सोच रहा है। नहीं, शायद यह भी रवि की योजना में नहीं होगा!

स्वयं जलकर वह इस दुनिया को तो ऊष्म करेगा!

सरल मूर्ख!

रक्त की खाद, मांस की खाद, हड्डियों की खाद, कुल मिलाकर मन-भर भी नहीं होगा, एक एकड़ आलू के खेत को भी पूरी न पड़े।

और मानव-समाज के मन में आदमी की स्मृति—पानी में लकीर है।

व्यर्थ अपना जीवन उजाड़ता जा रहा है! पगला कहीं का! विपिन ने दीर्घ साँस छोड़ी।

पाटेली गाँव के इधर गोचर जमीन, तीन ओर के खेतों से देखने पर तनिक ऊँचा-ऊँचा, बीच में विराट् घना बरगद का पेड़, समतल पर आकार और अवस्थिति में वह अकेला-अकेला दिख रहा है। दूर से खेत के ऊपर धूप नाच रही थी, पानी की लहर सरीखी, धुँधला हलका कोहरा घिरा था, और वह बरगद मानो लंगर डाला हुआ कोई स्थिर वोहित हो।

धूप में वहाँ पेड़-तले चहल-पहल लगी हुई थी, गोया गाँव-भर के स्त्री-पुरुष उठ आये हों। आस-पास के गाँवों से भी कई लोग आये थे।

उनकी आलोचना चल रही थी, गाँव के रास्ते पर गाड़ी आ रही है—वे लोग कौतूहल से देखने लगे। विपिन गाड़ी से उतर पड़ा। भीड़ में से कौन ये आगे आ रहे हैं? वह चेहरा हँसमुख है। रवि!

रवि के चेहरे पर काफ़ी परिवर्तन आ गया दिखता है। चेहरे की दीप्ति बढ़ी है। परन्तु देह सूख गयी, धूप में पककर कड़ी पड़ गयी है। कमीज का भद्र आवरण उसकी सुडौलता को सुन्दरतापूर्वक दिखा नहीं पाता। श्रम ने उस देह को अपने साँचे में ढाल लिया है। माथे की लकीर, ठुड्डी का नक़्शा, गाल के हाड़, दृष्टि का पैनापन और गम्भीरता, समूची ध्वनि—कुल मिलाकर उस चेहरे में एक विशिष्ट चरित्र की छवि खिल रही है। देखते ही समझ में आ जाती है कि यह आदमी किस काठ का है। यह कि अमुक-अमुक व्यवहार यहाँ सम्भव है, और अमुक-अमुक बात की यहाँ कोई गुंजाइश नहीं।

रवि के दोनों हाथ पकड उसके चेहरे की ओर देखते हुए हँस-हँसकर विपिन एक ख़ाली हँसी का मुखौटा-भर रह गया था। छन् से उसे लगा—एक साथ पढते थे, बढे थे, यह तो ठीक, पर बढ़ते-बढ़ते कुछ दूर जाकर मैं पेड़ न बनकर लता हो गया, मचान पर लिपट गया थोड़ा-सा, यह आदमी चला जा रहा है, सर्र-सर्र!

उसी भावना की धाँस से रवि की ख़ुशी मुरझा गयी और उसकी आँखों में खिल उठी करुणा। कोट, पैण्ट, टाई की कलई और अँगरेजी की सेवार लगी पथरीली दीवार कई बार उसकी आँखों से ओझल हो गयी है, और उसके उस ओर उसने देखा है भावना और व्यक्तित्व का दारिद्र्य, निःसहायता, आकुलता, और यह विपिन, अपने रास्ते पर कितनी जल्दी-जल्दी सफलता पा रहा है, अथच ताकता कैसे है! गति में मस्त चलता होगा किसी मशीन की तरह, चेतन मन में कुछ अनुभव करने की आदत न होगी जो कुछ भी अनुभव करता होगा वह होगी क्लान्ति ही!

उसके चेहरे पर यह हँसी नहीं, ख़ाली एक मुखौटा है। बाहर जाते समय जैसे एक कोट या कमीज डालता है, अलग-अलग समय पर अलग-अलग, वैसी ही एक-एक अभ्यस्त भंगिमा। हो सकता है, इस भंगिमा ने कभी बरसाती का काम

दिया हो ! सँभल-सँभलकर वातें करता होगा। कोई वात अधिक न निकल जाये, वरना वखेडा हो जायेगा। जो वातें करना भी होगा, वे उसकी अपनी नही, उससे भी बड़े और कई लोग होगे, उन्ही का मत उगल रहा होगा वह !

तो क्या उसके पास भी है···परन्तु वह अकेला नही है, सामने यह जनता है। इसके बाद, हो सकता है, मन छोटा करने का गुप्त विकार अपनी प्रतिक्रिया दिखाये। शुरू हो गया, छाती आगे कर, तनकर सामने देखने लगा है, हँसी मे हलकी-सी उपेक्षा। विपिन ने पूछा, "कितना आश्चर्य, यह सयोग ! इधर किधर आ टपके हो ? वात क्या है ?"

रवि हँस पडा, "इतने सहज मे ही कह दूँगा ?"

विपिन ने कहा, "पचायत वनाने को लेकर यहाँ कोई मनान्तर हो गया था ?"

छवि हँस रही है। और भी कई लोग हँस रहे है।

रवि ने कहा, "कितने कुछ वनते है—याना होता है, पोस्ट ऑफ़िस होता है, पचायते भी चारो ओर हो रही है सो होगी, इसमे मनान्तर कैसा ?"

किसी ने कहा, "जो अड़चन थी दूर हो गयी।"

विपिन कौतूहल रोक न सका, "वाह ! झमेला समाप्त ! किन-किन शर्तों पर ?"

रवि ने हँसकर कहा, "विना शर्त के। आओ वैठो।"

सुदर्शन दास ने खडे होकर कहा, "हुजूर, देखिए, इस गाँव मे एक दल लोग लगे थे कि किसी तरह यहाँ पचायत न होने पाये। कहते है कि सव तो उनका सामलाती हो गया, अव सरकारी पंचायत का क्या होगा ? अड़े रहने की तरह तुनके बैठे थे। और फिर ये वावू लोग आये, समझाया-वुझाया, वात तय हो गयी कि सव जगह की तरह यहाँ भी पचायत वैठेगी। वही वात पहले से कह देते तो वात खत्म होती, देशभर मे तो एक ही सरकार है, कोई क्या उससे वाहर है ?"

भीड़ मे एक गुनगुनाहट फैल गयी। कई लोगों ने सुदर्शन दास के चेहरे की ओर देखा। ऐसा लगा मानो कि उनकी वात इस परिस्थिति मे वेसुरी लग रही हो, अजीव-सा जिद्दीपन मानो उनकी वात में उनकी ध्वनि से फूट रहा था। किसी ने कहा, "वैठो भी !" किसी ने कहा, "क्यों बेकार वकवास कर रहे हो ?" और नाना प्रकार के मन्तव्यों के वीच वे वैठ गये।

खड़े हुए सिन्धु चौधरी। सचमुच लगा जैसे आदर के कारण सव चुप हो गये हों। वे वोले, "आलोचना तो वहुत हो चुकी है, फिर दुवारा उसे शुरू से कह जाने मे उतना ही समय लगेगा। हमारा कोई कलह-वलह न था, ठाकुरजी करे कि भविष्य में भी कभी न रहे। इस गाँव के एक भाग के लोगो ने अपनी इच्छा से सम्पत्ति-जायदाद, सुख-दुख सामलात मे कर दिया है, वीच-वीच में और किसी का

मन बदलता है तो कोई आकर सामलात में हो जाता है। किसी का मन होगा तो सामलात से अलग भी हो जायेगा, अपनी मरज़ी राज़ी-ख़ुशी की बात है, कोई ज़ोर-जबरदस्ती नहीं। यह तो हुई चलने की एक तरकीब। सदा लगता है कि हम सब इतनी जातियाँ, इतने परिवार होने पर भी मिलकर एक ही घर है, प्रत्येक के लिए हम सब है। अपने लिए ख़ुद धुन-धुनकर नाक-घिसायी करते रहे—वह हमारे पास नहीं। फसल कहो, रहने का घर कहो, मति-गति कहो, वह अच्छा हुआ या बुरा, यह बात तो जो देखेगा वही कहेगा, ख़ुद ढोल बजाने से कोई फ़ायदा नहीं।"

सबने भरपूर उत्साह से उनका समर्थन किया। एक ओर खड़ी भीड़ के उधर अगणिराय बैठे थे। खँखारकर बोले, "बारह भाइया बेमुरव्वी ज़माना हो गया, कोई मान्य-मानता नहीं रही, चौधरीजी के मुँह से फिर ये बात सुनने को मिली!"

बात थोड़ी बेमुरी होने पर भी उसमें एक बिजली की-सी चौंक पैदा हुई। यहाँ-वहाँ कई लोग आपस में एक-दूसरे का चेहरा ताकने लगे। सिन्धु चौधरी हँस पड़े। कहने लगे, "जुग में कोई अड़चनवाली बात नहीं है, सारी अड़चन तो हमारे मन के अन्दर है। इस ज़माने में गाधीजी जन्मे थे, कितने सिद्ध-साधक-त्यागी पैदा होकर काम दिखा गये है। युग की क्यों निन्दा करने बैठें? हमारे पीछे और सौ बरस बाद लोग कहेंगे कि इस युग में सत उपजा था। पीछे जो युग, उसमें कूट-कपट, कलह-द्वन्द्व बढते-बढते मन फूट-टूटकर माराकाटी लगी, और बारम्बार देश विदेशियों के अधीन रहता आया। अब की अपेक्षा पहले लोग कम थे, फिर भी जितने थे वे नीचे से ऊपर तक थाक-के-थाक। ऊपरवाले ख़ूब मज़े में चलते थे तो नीचेवाले बड़े हिस्से के लोग दबकर रहते थे। उनका और भला-बुरा न था। आग को आँचल में छुपाये रहते, ऊपर दिखता छापा-तिलक सब चिकना-चुपड़ा। मानुष मारना एक दल के लोगों का धर्म हो गया था, जो जितना दगाबाज़, निर्दय होता, वह उतना ही; प्रतापी, वीर था; हिंसा-स्वार्थ, दम्भ को हम आसन पर बैठाकर पूजा करते थे। यह कोई झूठ है? या, कहूँगा नहीं और कहूँगा तो इस घर में रहूँगा नहीं?"

विपिन रवि के पास आकर सटकर बैठ गया था। सिन्धु चौधरी की बात को रवि सचमुच जैसे कि पीता जा रहा था। रवि ने मुसकराते-मुसकराते धीमे-धीमे कहा, "सभा-मण्डप नहीं, फिर भी यह सभा; माइक नहीं, फिर भी यह भाषण, कैसा लग रहा है?"

विपिन ने दीर्घ श्वास छोड़कर कहा, "बाप रे!"

सभा टूटने को आयी। सिन्धु चौधरी की बात सुनते-सुनते लोग फिर मन लगाकर बैठे रहे थे। सिन्धु चौधरी तनिक रुककर फिर कहने लगे, "एक तरीका हमारे यहाँ चल रहा है। अबतक हम बढ़ते ही जा रहे हैं, लोगों के मन को भा गया है। फिर अब आयी पचायत बैठाने की बात। कानून हुआ है, सरकार कहती

है, सो होगा ही। कुछ लोगो ने सोचा कि पचायत होने पर हमे अपना यह तरीका तोड़ देना पड़ेगा। चर्चा चलायी, वही बना अनर्थ की शुरूआत का कारण।"

उनके कहते-न-कहते उनकी वात को समर्थन देते हुए कई लोगों ने ज़ोर से आगे-पीछे सिर हिलाया। कुछ थोड़े-से लोग अलग-अलग दिखने-से इधर-उधर ताक रहे हैं। वे दूसरे गोठ के है। विपिन ने सब कुछ देखा। अब समझा कि उत्तेजना का कारण क्या है और रवि यहाँ क्यो आया है।

किसी ने भस् से मोटी आवाज़ मे कहा, "अनर्थ है अनर्थ है—सह नही पाते है, अतः लोगों को फुसला रहे है, निकल जाओ, हम अपने पचायत मे मिलेगे, सरकार रुपये देगी—असल वात है रुपया···"

फिर वीच मे इस वात पर चल पडी थोडी-वहुत चख-चख, तर्क-कुतर्क।

सिन्धु चौधरी ने पुन. कहना शुरू किया—"रहने दो, सुनो। इस चलन मे रहने-टूटने के साथ पचायत का क्या है? हमारे ये सत्तर परिवार मिलकर एक घर, कमरे सबके इधर-उधर जगह-जगह, लोगो की जात अलग-अलग, माँ-वाप अलग-अलग, परन्तु घर एक है। यह घर कितना वड़ा होगा या कितना छोटा होगा सो लोगों की अपनी मरजी पर निर्भर करता है। उसपर कोई क़ानून का ज़ोर नही, किसी पर जवरदस्ती नही। परन्तु पंचायत मे तो वो वात नही, उसे तो सरकार गढ रही है, उसके पीछे कानून का जोर है, कौन-कौन गाँव मिलकर पंचायत बनेगी—इस बात की घोषणा सरकार करेगी। सव जगह हो रही है, यहाँ भी होगी ज़रूर। पर हमारे इस घर से पचायत का सभ्य बनकर कोई रहेगा या नही, वह सरकार की इच्छा पर निर्भर नही, हम जायेंगे या नही उसका विचार हम करेंगे। हमे रखा जायेगा या नही उसका विचार और लोग करेंगे। अपने करने के काम का हमने फैसला कर लिया है। बिना नाम खोजे, अपने स्वार्थ और सुविधा की खोज किये विना, सव सदस्य अगर परिश्रम करने को राजी हो जायें, ताकि सबकी उन्नति हो तो हम उस सदस्य-मण्डली मे रहकर काम करेंगे। सब वैठ एक मन एक विचार होकर अगर तय कर लें कि कौन-कौन सदस्य होंगे तब हम उसमे मिलेंगे। यदि शुरू से ही मन वेमेल रहेंगे, कौन सदस्य होगा इसका फ़ैसला यदि भोटो की लड़ाई से ही होगा, तो हम उस ओर नही जाते। सर्वसम्मत न होकर अल्पमत पर वहुमत को लाद देनेवाली भोटो की जीत की व्यवस्था है, वाद मे वह अड़चनें पैदा करती है। वहुमत से जीतनेवाले अल्पमत से हारनेवालो पर पिल पड़ेंगे, दावें साधेंगे। उधर अल्पमतवाले हरदम चेष्टा करेंगे कि वहुमत की तरफ़ से कल-वल-कौशल कर एक-एक को खीच-तानकर जैसे भी अपने दल को बढ़ायें। वाद मे वे वनेंगे वहुमत। तब हम क्या विकास करेंगे, क्या उत्पादन करेंगे, समय तो जायेगा केवल दावँ-पेंच में ही, कलह-फ़साद मे ही, छक्का-पजा में ही।"

मन बदलता है तो कोई आकर सामलात में हो जाता है। किसी का मन होगा तो सामलात से अलग भी हो जायेगा, अपनी मरजी राजी-खुशी की बात है, कोई ज़ोर-जबरदस्ती नहीं। यह तो हुई चलने की एक तरकीब। सदा लगता है कि हम सब इतनी जातियाँ, इतने परिवार होने पर भी मिलकर एक ही घर हैं, प्रत्येक के लिए हम सब है। अपने लिए खुद धुन-धुनकर नाक-घिसायी करते रहे—वह हमारे पास नहीं। फ़सल कहो, रहने का घर कहो, मति-गति कहो, वह अच्छा हुआ या बुरा, यह बात तो जो देखेगा वही कहेगा, खुद ढोल बजाने से कोई फ़ायदा नहीं।"

सबने भरपूर उत्साह से उनका समर्थन किया। एक ओर खड़ी भीड़ के उधर अगणिराय बैठे थे। खँखारकर बोले, "बारह भाइया बेमुरब्बी जमाना हो गया, कोई मान्य-मानता नहीं रही, चौधरीजी के मुंह से फिर ये बात सुनने को मिली!"

बात थोड़ी बेसुरी होने पर भी उसमें एक बिजली की-सी चौंक पैदा हुई। यहाँ-वहाँ कई लोग आपस में एक-दूसरे का चेहरा ताकने लगे। सिन्धु चौधरी हँस पड़े। कहने लगे, "जुग में कोई अड़चनवाली बात नहीं है, सारी अड़चन तो हमारे मन के अन्दर है। इस ज़माने में गाधीजी जन्मे थे, कितने सिद्ध-साधक-त्यागी पैदा होकर काम दिखा गये है। युग की क्यों निन्दा करने बैठें? हमारे पीछे और सौ बरस बाद लोग कहेंगे कि इस युग में सत उपजा था। पीछे जो युग, उसमें कूट-कपट, कलह-द्वन्द्व बढ़ते-बढ़ते मन फूट-टूटकर माराकाटी लगी, और बारम्बार देश विदेशियों के अधीन रहता आया। अब की अपेक्षा पहले लोग कम थे, फिर भी जितने थे वे नीचे से ऊपर तक थाक-के-थाक। ऊपरवाले खूब मजे में चलते थे तो नीचेवाले बड़े हिस्से के लोग दबकर रहते थे। उनका और भला-बुरा न था। आग को आँचल में छुपाये रहते, ऊपर दिखता छापा-तिलक सब चिकना-चुपड़ा। मानुष मारना एक दल के लोगों का धर्म हो गया था, जो जितना दग़ाबाज, निर्दय होता, वह उतना ही प्रतापी, वीर था; हिंसा-स्वार्थ, दम्भ को हम आसन पर बैठाकर पूजा करते थे। यह कोई झूठ है? या, कहूँगा नहीं और कहूँगा तो इस घर में रहूँगा नहीं?"

विपिन रवि के पास आकर सटकर बैठ गया था। सिन्धु चौधरी की बात को रवि सचमुच जैसे कि पीता जा रहा था। रवि ने मुसकराते-मुसकराते धीमे-धीमे कहा, "सभा-मण्डप नहीं, फिर भी यह सभा; माइक नहीं, फिर भी यह भाषण, कैसा लग रहा है?"

विपिन ने दीर्घ श्वास छोड़कर कहा, "बाप रे!"

सभा टूटने को आयी। सिन्धु चौधरी की बात सुनते-सुनते लोग फिर मन लगाकर बैठे रहे थे। सिन्धु चौधरी तनिक रुककर फिर कहने लगे, "एक तरीक़ा हमारे यहाँ चल रहा है। अबतक हम बढ़ते ही जा रहे है, लोगों के मन को भा गया है। फिर अब आयी पचायत बैठाने की बात। क़ानून हुआ है, सरकार कहती

है, सो होगा ही। कुछ लोगों ने सोचा कि पचायत होने पर हमे अपना यह तरीका तोड़ देना पड़ेगा। चर्चा चलायी, वही बना अनर्थ की शुरूआत का कारण।"

उनके कहते-न-कहते उनकी बात को समर्थन देते हुए कई लोगों ने जोर से आगे-पीछे सिर हिलाया। कुछ थोड़े-से लोग अलग-अलग दिखने-से इधर-उधर ताक रहे हैं। वे दूसरे गोठ के है। विपिन ने सब कुछ देखा। अब समझा कि उत्तेजना का कारण क्या है और रवि यहाँ क्यो आया है।

किसी ने भस् से मोटी आवाज मे कहा, "अनर्थ है अनर्थ है—सह नही पाते है, अतः लोगों को फुसला रहे है, निकल आओ, हम अपने पचायत मे मिलेंगे, सरकार रुपये देगी—असल बात है रुपया···"

फिर बीच मे इस बात पर चल पड़ी थोड़ी-बहुत चख-चख, तर्क-कुतर्क।

सिन्धु चौधरी ने पुनः कहना शुरू किया—"रहने दो, सुनो। इस चलन मे रहने-टूटने के साथ पचायत का क्या है? हमारे ये सत्तर परिवार मिलकर एक घर, कमरे सबके इधर-उधर जगह-जगह, लोगों की जात अलग-अलग, माँ-बाप अलग-अलग, परन्तु घर एक है। यह घर कितना बड़ा होगा या कितना छोटा होगा सो लोगों की अपनी मरजी पर निर्भर करता है। उसपर कोई कानून का जोर नही, किसी पर जबरदस्ती नही। परन्तु पचायत मे तो वो बात नही, उसे तो सरकार गढ़ रही है, उसके पीछे कानून का ज़ोर है, कौन-कौन गाँव मिलकर पचायत बनेगी—इस बात की घोषणा सरकार करेगी। सब जगह हो रही है, यहाँ भी होगी जरूर। पर हमारे इस घर से पचायत का सभ्य बनकर कोई रहेगा या नही, वह सरकार की इच्छा पर निर्भर नही, हम जायेंगे या नही उसका विचार हम करेंगे। हमे रखा जायेगा या नही उसका विचार और लोग करेंगे। अपने करने के काम का हमने फैसला कर लिया है। बिना नाम खोजे, अपने स्वार्थ और सुविधा की खोज किये बिना, सब सदस्य अगर परिश्रम करने को राज़ी हो जायें, ताकि सबकी उन्नति हो तो हम उस सदस्य-मण्डली मे रहकर काम करेंगे। सब बैठ एक मन एक विचार होकर अगर तय कर लें कि कौन-कौन सदस्य होंगे तब हम उसमें मिलेंगे। यदि शुरू से ही मन बेमेल रहेंगे, कौन सदस्य होगा इसका फ़ैसला यदि भोटों की लड़ाई से ही होगा, तो हम उस ओर नही जाते। सर्वसम्मत न होकर अल्पमत पर बहुमत को लाद देनेवाली भोटो की जीत की व्यवस्था है, बाद में वह अड़चनें पैदा करती है। बहुमत से जीतनेवाले अल्पमत से हारनेवालों पर पिल पड़ेंगे, दावें साधेंगे। उधर अल्पमतवाले हरदम चेष्टा करेंगे कि बहुमत की तरफ़ से कल-बल-कौशल कर एक-एक को खींच-तानकर जैसे भी अपने दल को बढ़ायें। बाद में वे बनेंगे बहुमत। तब हम क्या विकास करेंगे, क्या उत्पादन करेंगे, समय तो जायेगा केवल दावें-पेच में ही, कलह-फ़साद में ही, झगड़ा-झंझट में ही।"

दुकानदार हरि साहू चुप बैठा था। पहले पल्थी मारकर बैठा था, अब घुटने उठाकर बैठा, और फिर अपनी दोनों नलियों पर दोनो बाँहें कसकर घेर ली, बाद में अपने घुटनो पर ठोडी टिकाये रहा, नीचे नजर, मानो वह अपनी आदत के मुताबिक़ लीलावती सूत्र की किसी जटिल समस्या के साथ मन-ही-मन कसरत कर रहा है, मन की नोक जमी हुई है एक बिन्दु पर।

सिन्धु चौधरी की बात पूरी होते-होते उसने अपने ध्यान से उठकर बड़बड़ाने की तरह कहा, "हो गया !"

पास ही बैठे थे गदेई लेंका। पूछा, "क्या हो गया साहूजी ?"

हरि साहू ने कोई उत्तर न दिया, उठ खड़े हुए। उसके मुँह पर, पेट पर, गरदन पर, टुकड़े-टुकड़े धूप छनकर गिर रही है। उसके चेहरे की भंगिमा दिख रही है असाधारण।

हरि साहू ने कहा, "और अब दो नाव में क्यों, मैं भी समझो इस सामलात में ही आ गया। एक ही का होकर क्यों, सब-सब लोगों का।"

एक साथ बहुत सारे मुँहों से अचम्भे की आवाज आयी। गदेई लेंका ने कहा, "यह क्या तमाशा है ?" अगणिराय ने कहा, "कैसे ? कैसे ?"

हरि साहू कहने लगा, "अरे बाबू, सम्पत्ति को कोई साथ लादकर नहीं ले जायेगा। एक कमाता, अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करता, अब सबकी सारी कमाई एक जगह होकर सबके कुटुम्ब चलेंगे, यही तो बात है, सब ओर से सुधरी। तुम भी आओ ना लेंका भाई, राय !"

धडिया नाई ने कहा, "आते तो, पर उनकी कमाई किस रास्ते से होगी फिर ? कोई कलह करे तब तो वे उसे रास्ता दिखाकर कमाई के दो पैसे पाते।"

लेंकाजी और रायजी दोनों ठहरे गाँव के टाउटर। लेंका ने बुरा नहीं माना, अगणिराय ने खेंखारकर कहा, "कैसे, सो कैसे ?"

हरि साहू ने कहा, "पहले बढ आओ, फिर तरीका खु़द-ब-खु़द दिख जायेगा।"

हरि साहू भी सामलाती में हो गये।

सामलाती में जमीन बढ गयी। गाय-गोरू, धन-धान्य, सब बढ गया। सबसे अधिक तो प्रतिष्ठा बढ गयी। हरि साहू तगड़ा बुद्धिमान् मुरब्बी आदमी है गाँव में। हरि साहू इधर है, इसका मतलब इधर की बात पक्की, असली है। देखते-ही-देखते उनके बीच उत्साह फैल गया, लोग आपस में बातें करने लगे, चेहरों पर हँसी-ख़ुशी, उत्तेजित उत्साहपूर्ण बात, एक और एक के साथ जल्दी-जल्दी बातचीत। कितने ही लोगों ने हरि साहू को घेर लिया। सभा समाप्त हो चुकी है। खड़े होकर और किसी को कुछ नहीं कहना।

रवि ने चुपके-चुपके विपिन के कान के पास जाकर कहा, "माटी की आवाज़

तो तुम खुद सुन चुके हो, माटी सदा खोजती आयी है कि सब मिल जाये। उसका धीरज असीम है, वह प्रतीक्षा में है।"

रवि के चेहरे पर स्वप्न की झलक है, बहुत दूर है उसकी दृष्टि।

विपिन ने स्वय उस स्वप्न में वह जाने की चेष्टा की, अनुभव हुआ कि वह सहम जाता है। हिसाब, कानून, हुकम, डर-भय, अभ्यस्त अनुभूति के द्वारा वह अपनेआप बोध कर पा रहा है उसपर अनेक लगाम है। उत्साहित होना-न-होना निर्भर करता है एक विचार पर—वह पछाड़ खाकर गिरना नही चाहता। पहले उसे चाहिए सुस्थि, निश्चिन्तता। उसे चाहिए उसका वेतन, उस वेतन मे बढोत्तरी, अन्त में अपनी पेन्शन। विश्वास से अविश्वास तक उसके भाव बदलते-बदलते उसके मुंह से निकल पड़ा, "भाव या भावना का एक पागलपन देख रहा हूँ यहां।"

रवि प्रसन्न होकर कहने लगा, "ठीक देख रहे हो। नाना प्रकार की आशकाएँ सहते-सहते, लगता है कि माटी पागल हो रही है। सन्देह, मतान्तर, अशान्ति, युद्ध की तैयारी, और एक चरम परिणति की काली छाया—ध्वंस। पागल न होकर धीरमति स्थिरबुद्धि से बुद्धिमान् लोग अगर उसी परिणति की ओर ससार को ले जाते है तो पागल बने बिना माटी शायद स्वयं अपनी रक्षा न कर सकेगी।" तनिक उत्तेजित होकर उसने फिर कहा, "परन्तु इस उत्साह को पागलपन कब तक कहोगे? अन्धेर नगरी में एक रोशनी, हो सकता है पागलपन हो, परन्तु चारों ओर जब असख्य रोशनियाँ जलती होंगी, तब लगेगा कि वह पुराना अन्धकार ही पागल है, अस्वाभाविक है, उसका समय पूरा हो चुका। तभी मैंने कहा कि माटी क्या कह रही है, सुनो। सब जगह, सब देशो मे सामान्य जन खोजता है कि आदमी-आदमी के बीच गढा जाये विराट् भाईचारा, तब जाकर हिंसा, अशान्ति के कीड़ों को घुसने का रास्ता नही मिलेगा। एकमात्र कर्म ही तो है जिसे ये विनाशक बम भी ध्वस नही कर सकेंगे। तुम्हारे-हमारे अलक्ष्य में कितनी ही जगह, कहाँ-कहाँ वह गढ़ना-बनना चल रहा है।"

दोनों उठकर थोड़ी दूर टहल रहे थे। विपिन ने कहा, "हम भी उसी एकता को बढावा देने के लिए सस्था गढ़ रहे है—लोग सहयोग करे तब कोई बात हो।"

रवि ने कहा, "लोग स्वय जिसे गढ़ते हैं उसमे सहयोग की कमी नही रहती। तुम गढोगे सस्था, और लोगों से माँगते हो सहयोग। अच्छी बात। कितने दिनों से आँखों के आगे रखकर सस्था गढ रहे हो? सब देशों मे जितने ये संस्था गढनेवाले है—उनकी उमर कितनी है? समय लेकर, अवस्था लेकर जिनके हाथ में क्षमता होती है उनके मन को देखकर सस्था गढ़ी जाती है, बदलती है, टूटती है। मानव-जाति को किसी सस्था ने गढा है? आदमी का जो असली स्वरूप है, एक

साथ मेल से रहना, एक दूसरे को चाहना, चाहने के लिए जीना—यह किसी संस्था की प्रतीक्षा नहीं करता, इसका प्रमाण तुम यहाँ अपनी आँखों से देख रहे हो।"

कितने ही लोग उन दोनों की ओर देख रहे है। वे लोग बातचीत के लिए आग्रही हे, पर साहस ज़रा नही पा रहे।

सभा टूटने को आयी। कई लोग उठकर चले जा रहे है। हरि साहू के चारों ओर फिर भी भीड है।

रवि की बातें सुन विपिन हँस पडा। कॉलेज के दिनोंवाला वही विपिन, चेहरे पर विचारो मे क्लिष्टता नही। सचमुच जैसे मेघ के फटे परदे के उस पार दिख जाता है प्रशान्त नील आकाश से थोडा-सा। रवि के कन्धे को घेरकर कहा, "कहते हो आदमी चाहने के लिए जीता है, तुम किसे चाहते हो?"

रवि ने ठहाका लगाया। "मैं किसे नही चाहता, मै स्वयं नही जानता।" लोग और प्रतीक्षा नही कर पाते। सिन्धु चौधरी, हरि साहू, सदा गोछेइत, वे लोग एक-एक कर आये। उनके पीछे और लोगो की क़तार लग गयी।

विपिन ने गहरी साँस छोडकर, सूखी हँसी हँसते हुए कहा, "अच्छा, चलता हूँ, रवि! तुम स्वाधीन हो, जीवन का स्वाद चखने के तुम्हारे पास अवसर है। भई, मेरा तो वह सौभाग्य नही रहा, गले मे पट्टी है, पट्टी मे साँकल, और फिर साँकल पराये हाथ मे, गले मे ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड। अगर कभी तुम लोगो की इस संस्था का विरोध करूँगा, तो वह विरोध भी मेरी इच्छानुसार नही होगा। भाई, मैं नही तो और जो होता वह भी करता।"

विपिन का चेहरा गम्भीर है, उसकी आँखें सचमुच जैसे स्थिर नैराश्य से जड़ बन गयी हैं। रवि उसके चेहरे की ओर देखकर चचल हो उठा। उसका हाथ कस-कर थामा और कहने लगा, "क्यों अपने ऊपर इतना दोप लादे ले रहे हो विपिन, इतनी हताशा मे क्यो डूब रहे हो? चाहे जितने नियमो मे बाँधो, हृदय तो कही जाता नही।"

"मैं रेलगाड़ी हूँ।"

"नही, तुम पहले आदमी हो। कोई सोचता है, वह रेलगाडी है, कोई सोचता है वह स्पुटनिक है, कोई सोचता है वह कोई सहारक अस्त्र है, परन्तु मानसिक विकृति के सामयिक विचार है वे सब, उनकी परिणति भी अपने और दूसरों के लिए अशुभ है। वास्तव में सब आदमी है, सरल भाव से जीने को छोड़ देने पर सब स्वतः घुल-मिल जाता है, गोबर से रस लेकर सुगन्धित फूल खिलते हैं। नैराश्य आता नही, दुख छूता नही, जीवन सतेज रहता है।"

झुकते-झुकते विपिन फिर सतेज हो उठा। रवि का, जीवन-दर्शन के बारे मे, व्याख्यान उसके अन्दर सचमुच जैसे कितनी लोहे की छड़ो और स्प्रिंग पर दबाव

देता हो ! उसे अनुभव हुआ कि क्षण-भर के सिर चकराने मे वह दुर्बलता प्रकट कर चुका है। सिर उठाया। चेहरे पर, आँखो मे, फिर लौह-हँसी।

"नही, कुछ नही," उसने कहा।

लोग आ गये है। मामूली बातचीत से उन लोगों से छुट्टी पाने के लिए उसने कहा, "और ? हूँ, सब ठीक चल रहा है, तो ? आप लोगों की मै क्या मदद कर सकता हूँ, कहिए। झगड़ा या अड़चन तो कुछ नही ? अच्छा, अच्छा है। और ? ठीक है ठीक है। इस बार तो अब चलूँ, कई जगह जाना है।"

उस ओर से महिलाओ का एक जत्था भी आ रहा है। वे दोनो मानो केन्द्र है। उनके चारो ओर गाँव-भर भँवरी घूम रहा है। "आज आप हमारे गाँव मे मेहमान है, ठहरेगे नही ?" सदा गोछेइत ने पूछा। विपिन ने अगले पाँव पर टिककर, तनकर सीधा हो, मानो और भी लम्बा बनने की चेष्टा की। फिर बोला, "नही, नही, माफ़ करे। कई तरफ़ जाना है।"

और किसी ने रोका नही। वह जीप मे बैठा। जीप स्टार्ट हुई—धूल उड़ाती चली गयी। क्यो वह आया था कुछ पता ही न चला। सब उसे जाते हुए देख रहे है। बरगद की छाया ढाँप रही थी, खेत की थोड़ी-सी जगह। समय ढल गया था। घने बरगद की ओर उड़ती-उड़ती आ रही है असख्य चिड़ियाँ, दल-के-दल।

सदा गोछेइत ने पूछा, "जी आप तो आज ठहरेगे।"

रवि हँस पड़ा।

छवि अकेली तटबन्ध के तले खड़ी थी। पीठ की ओर सेहुडा का पेड़ ओट किये है। घर से वह दिखता नही, परन्तु इतने पास है कि आहिस्ते पुकारने पर भी सुनायी पड़ता। और छिन-भर मे सूरज अस्त होगा, बायी तरफ़ वो उधर नीचे झूल गया उस सूने सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति बन जो केवल इस सिहराते पौष मे ही नज़र आती है—सामने अनन्त अकलन नीलिमा सच नही, कल्पना नही, मानो कल्पना का एक रूप नही, यौवन का स्वप्न और मर्म भावो का अनकहा सगीत वहाँ रंग का पिण्ड बन क्षण-भर के लिए विराजित है ! बाद मे वह लीन हो जायेगा।

छवि अन्यमनस्क होकर उसी सूर्य की ओर देख रही है मानो कि उसमे मिल जाने की चेष्टा कर रही थी। कभी सचमुच उसमें मिली जा रही थी, तब उसे अनुभव ही न होता। फिर कभी उससे छिटक जाती, तब वह उदास करुण अनुभूति के बीच छन-छन से चौकन्नी हो उठती, उसकी छाती के नीचे थर-थर होती। कितनी जल्दी मन के अन्दर एक दूसरे का पीछा करते हुए ज्वार भागा-दौड़ी करते, एक ही निःश्वास मे कितनी अतीत की चेतना-समष्टि, भूले-अधभूले दृश्यों की स्मृति

है। वेदना में ढँके गहरे आनन्द के तले से जो भाव उठता, उसकी किरण शीतल, उदास, वर्ण की विचित्रता में और विपुलता में विह्वलकारक। उसका अविकल प्रतिरूप मानो यह सूर्य है।

पौष का यह अस्तगामी सूर्य आत्मस्थ हो चुका है। महाशून्य में अलग होने की तरह उसकी गोलाई की लकीर का स्पष्ट पता चल जाता है। सचमुच जैसे कितनी ही अपार काल की अनन्त दूरी की ओट से भी वह अपनी माया-ममता, प्रकट और प्रकाश का ज्योतिपुंज खींचकर स्वयं में यह रस संवरण कर अनासक्त होकर हँस देता है, उस हास्य में उद्दीपना नहीं पिघलती, अँधेरी चेतना में विचार की दीपशिखा भरे देता है—इस पल तुम गति रोको, स्थिर होओ, भेष खोल डालो, अनुभव करो, सोचो!—सुदूर देहात के पाटेली गाँव में उस समय छवि के लिए मानो इतना ही उसका सन्देश है।

सूर्य अस्त हो रहा है, शरशय्या पर है भीष्म, क्रियाशील, गति और शक्ति के आधार, वे आत्मस्थ होकर स्थिर हो गये है, दृष्टि की सीमा से चले जा रहे हैं दिव्य दृष्टि की सीमा में।

छवि की छाती गहरी साँस से उठती है, गिरती है। मेंहुडा के पेड़ से वह चिपट गयी है। तनिक खसखस या खड़खड़ाहट होते ही वह चौंक उठती।

बीच-बीच में उसका मन जाग उठता। तब वह इस अद्भुत गम्भीर क्षण में अपने साथ उसका मुक़ाबला करती, क्या उसका उद्देश्य है? क्या उसने पाया है? ऐसे कितनी ही पूछ-ताछ, समझा-बूझी करती। अस्पष्ट-सी प्रतिध्वनि की तरह उसके मन-गहन में उसका उत्तर गुनगुनाते समय फिर वह अस्तगामी सूर्य से चिपटी थमी रहती। तब भले-बुरे के विचार और उद्देश्य से परे केवल एक स्पन्दित मन-रूप होता।

किनारे के तले दूर तक फैल गया है फ़सल से भरा कछार। टटके-टटके बैंगन, टमाटर, मटर की फली। जाड़ों के दिनों के कद्दू, करेला, भाँति-भाँति की तरकारियाँ बीच में दो दूर रखवाली करने के लिए झोंपड़ी बनी है। और दाहिनी तरफ़ हलदी सरसों का खेत। पहले इस कछार का पट्टा लेने के लिए कितनी बढ़-चढ़कर बोली, झगड़ा होता, परन्तु अब यह फ़सल की है सामलाती से। सब खटते हैं, सब भाग पाते है। कछार के नीचे बालूचर है, ख़ाली विस्तृति में कुछ सोने की झलक जैसे दिखायी दे रही है, उसके उधर नदी की सुरमई लकीर, उस पार सीधा कगार और अमराई।

और बायीं तरफ़ कोने में सूरज उतर पड़ा है। निचला आधा तो बुझ गया है, ऊपर का आधा दबता-दबता जा रहा है, अपरूप वर्ण के किसी देवल की तरह, सारे आकाश में रंग-रँगीले चन्दोवे।

घुटी-घुटी-सी छवि उसी अस्त-सूर्य की ओर देख रही है, मानो सृष्टि विलीन

होने से पूर्व कुछ थोड़ा-सा उत्तर चाह रही है, जिस पर कि उसका सारा अस्तित्व भार दिये टिका है। ठीक है, डूब रहा है, छाती के अन्दर खूब जोर से हिलोर-सी उठी, अपनी धुकधुकी की प्रबल घबड़ाहट मानो सचमुच उसके कानों से टकरा रही है, और फिर उसकी छाती के तले एक प्रचण्ड उथल-पुथल होकर फिर सब स्थिर-जैसा हो गया। अस्ताचल की अन्तिम रक्त-रेखा को प्रणाम करने के लिए दोनों हथेलियाँ उठाने तक वह बुझ गया। एक गहरे साँस छोड़ छलछलायी आँखों से वह उसी दूर की ओर देखती रही। श्मशान-वैराग्य का शेष दर्शन उसकी चेतना पर काले डैने फैलाये घेरे रहा कुछ देर तक—

यह सब चला जायेगा, सब झूठ है!

आहिस्ते से फिर रंगीन हो उठता है बिना सूरज का आकाश, जैसे किसी गहन अन्तर में मर्म भाव के आलोडन से ऊपर चिकने गालों पर रंग फैलता हो। कितना सुन्दर। छवि उसी दृश्य के आगे स्वयं को सब आनन्द की झलक की तरह अनुभव कर रही थी। सूरज नहीं, वह है। इस संसार में ऐसे कितने विभव, कितने पराक्रम, कितनी चमक-दमक, कितने इन्द्रजाल आये-गये हैं, अपने नाम को लोगों की निगाह में पड़ने लायक रखने के कितने उपाय, कितनी चेष्टाएँ की हैं, देवल की देह पर खुदकर या अगणित लोगों के लहू-पसीने में भीग-डूब लेखनी की नोंक से ताड़पत्र या भोजपत्र पर लिखे जाकर भी वे सारे नाम अस्त हो गये हैं, खो गये हैं, और इस पल वह यहाँ है—छवि!

सोने की पाग बाँधे मोती-माणिक जड़े वेश पहने एक-एक या दल-के-दल तैरते जाते हैं आकाश में कितने मायारूप। उनके वैसे ही दल-के-दल कितने माया-वाहन, हाथी, घोड़ा, ऊँट, बाघ, मगर, एक रूप और एक रूप में बदल जाता है, और फिर उसका रूप ही टूट जाता है। वैसे एक-एक झलक में आकाश में जितने जादुई राज दिख जाते थे, कितने गाँव या गढ़ या दूर का रास्ता, उनका छुपा-छुपा संकेतमय गुप्त इतिहास—देखते-ही-देखते वह भी कहीं विलीन हो रहा है!

और है वह, छवि, सूरज चाहे डूबे या विलीन हो जाये, चाहे जितने चमत्कार-पूर्ण दृश्यपटल हों, वह अपने प्रकाश में आनन्द ले रही है। उसके पैरों-तले भूरी घास है। घास में लाल रामजड़ा, वह उसके चिकने कोमल पत्ते के सिरे को अँगूठे और तर्जनी के बीच धीरे-धीरे मसल रही है। वहाँ से तनिक हटकर किसी ने दो-पहर में टट्टी की है, और एक तरफ़ किसी एक पुट्ठे का हाड़ पड़ा है। नासा फन-कारती थोड़ा मुँह खोल 'आँ' किये एक लय से वह दूर देख रही है। यौवन और जीवन की मूर्ति है वह आदमी!

कोई कार्यकर्ता नहीं, कोई विप्लवी नहीं, केवल आदमी!

वह अचम्भे में भरी विह्वल होकर एकटक देख रही है उसी आकाश की ओर। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर नारियल की फुनगियों पर वहाँ कितनी झुण्ड-की-झुण्ड

अनजान चिड़ियाँ उड जाती है। कहाँ किस देश से आती हैं, फिर किधर चली जाती हैं।

अचानक उसे लगा—जितने यह सिर चकरानेवाले काम है, जितनी दांत भींचकर प्रतिज्ञा-पूर्तियाँ है, जितने आँख फाड़ मुट्ठी कसकर घड़ी-घड़ी बातें उगलते हुए आन्दोलन है, जितने ऊँचे काठ के पायदान पैरों में बांध भाँति-भाँति के विचित्र साज सजा अपनी टेक ऊँची रखने के लिए जीवन व्यापी परिश्रम है, जितने धन्धे या योजनाएँ, चिन्ताएँ या बुद्धि की कसरत है जिनमें भेजा पिघल जाता है—ये सब केवल आनन्द के प्रकाश के लिए अवलम्बन मात्र हैं। जो जिस तरीके से कर सके। वे अपने में आनन्द के हेतु नही। आनन्द तो अपने अन्दर है, अनुभव कर सके तो वह है, न कर सके तो नही। जो अपनी पहुँच मे है उसे हाथ बढाकर ले लेना ही मानो बुरा है, सुस्थ सतेज सरल दृष्टि से देखना ही गलत है, अतः शायद आदमी हाथ पसारता है दूर—आसरा करता है कुटिल बुद्धि का और जटिल पन्थ का।

छवि ने सतेज होकर मन मे चचलता का अनुभव किया, और उसे अनुभव हुआ अपने भीतर से निकल रही मादक महक का, खयाल मे मन का एक खेल रच लिया कि वह आदमी नही, कोई फूल है, झरने या न झरने की उसके मन मे कोई चिन्ता नही। वह है, बस इतना ही यथेष्ट है।

अपनी महक के साथ साँस से पी रही है परमतृप्ति, शान्ति, आनन्द। लू की प्यास में शीतल पानी की घूंट पीने पर जैसे तृप्तिकर हो, उत्साह और उत्तेजना आती है, कुछ वैसा ही लग रहा है। समूचे सब उसके, अपने, स्नेही आदमी, किसी के साथ उसका विरोध नही, प्रतिद्वन्द्विता नही। उसका आनन्द ही उसकी सार्थकता है, वह नही चाहता कि कोई उसे चीन्हे या बडा करे या प्रशसा करे। यही हवा, यही छाया-रोशनी का दृश्य, यह माटी का उतार-चढाव उसे मायाजाल में गूँथकर रखे है, प्रत्येक धागा ढूँढने पर कोई एक स्मृति, नही तो परिचित स्वप्न के मारे सार अनन्त आनन्द मे समा जाते है।

इस गाँव मे कभी था हृदयो का फटना-टूटना, गाली-गलौज, निन्दा, कलह, दगा-फ़साद। वे ही जो आज उसके बारे मे इतनी प्रशंसा कर इतने आशीर्वादो से सीच-सीचकर प्रचार कर रहे है, कितने लोग उनमें से ऐसी बातें भी तो कहा करते थे कि सुनकर हाड से मास झर पड़ता था। कितना बड़ा झूठ, कितना अपवाद! हलदी मलने की तरह कब से झड गया है, याद आने पर पीछे हट जाता, कोई परवाह नही है। वैसे ही उसे लालच नही इस प्रशंसा की। गाँव की बहू-बेटी ने परदा खीचकर फेंक दिया है, जाति में बड़ी-छोटी, छुआछूत, धन मे होने-न-होने का भेद, मन के किस कोने-कोने मे किस मान्धाता के ज़माने से घर-घर मे मतान्तर, आँचल मे ढेर-की-ढेर गाँठ की तरह बाँधे थे—वे सब मन से भूल चुके है, सन्तान पैदा-करना, खाना पकाना, पान लगाना—इनके अलावा

अब और भी विराट् सामाजिक जीवन का वे लोग उपभोग कर रहे हैं, एक गाँव, एक घर, सब आदमी भाई-भाई के आदर्श की नीव रखकर वे नयी दुनिया गढ़ रहे हैं, सचमुच जैसे वे लोग मरुभूमि पर बहाते-बहाते चले जा रहे हैं भागीरथी की नयी धारा। यह सब उसे बिलकुल साधारण-सा लग रहा है, इस सबमें उसका अपना कृतित्व कुछ है—उसे लगता ही नहीं; कुछ है भी ऐसा वह सोचती नहीं, बड़े-बड़े नाम उसे याद नहीं—त्याग, परिश्रम, सेवा, निष्ठा। फूल की तरह वह खिली है, हवा में उसका सुवास स्वतः घुल गया है, इसीलिए उसकी चेष्टा नहीं। उसका स्वाभाविक तरीक़ा ही वही है।

उसमें जैसे, उसी तरह और भी कितनों में वह तरीका ढक्कन-बन्द हो रुका पड़ा था, खुल गया है। सारे स्रोत एक जगह मिलकर हो गयी है, पुण्यधारा! कार्य याद आता है तो उन्माद भर जाता है। गर्व या गौरव या गरिमा का कण-भर भी मन में आता नहीं।

याद आ गया कि आज हरि नाहू सामलाती में आ गया है। उसमें भी कोई विचित्रता नहीं, साग के घोरे में साग का पौधा धीरे-धीरे ख़ुद ही उठकर खड़ा हो जाता है, हरसिंगार से फूल जैसे धीमे-से माटी पर झर जाता है, वैसे ही एकदम साधारण-सी यह घटना उसके देखने-सोचने के ढंग में मिल जाती है।

इसी हवा-पानी से गढ़े जायेंगे इस युग के छोटे-छोटे बच्चे। वे नये युग के कारीगर होंगे। भविष्य के घर-बारी आदमी, ये ही नन्ही कोमल कलियाँ, कोई माँ के पल्लू की ओट में मुँह छुपा रहा है, कोई पाटी-किताब लिये घर लौट रहा है। उसकी छाती फूलकर चौड़ी हो गयी। अबकी उसने देखा, आकाश में एक-एक तारे उग आये थे। फीके-फीके दिखते-दिखते अब उज्ज्वल होते जा रहे हैं। ऐसे ही उठेंगे इस धूल-माटी से इस देश के ज्योतिष्क, स्नेह-शान्ति से बढ़कर वे मैत्री के प्रतीक बनेंगे। उनके विचार या विश्वास में न विरोध होगा और न सन्देह।

और वह होगी माँ, जैसे वो दूर तट पर देवदारु की जोड़ी की ओट से चाँद उगता आ रहा है, ये नन्हे-नन्हे तारों के ऊपर अपनी सुनहली हँसी उँड़ेल दे रहा है। वहाँ सब कितना सहज और स्वाभाविक है।

विचारों-भावनाओं में खोये हुए अचानक उसे उचाट-सा लगा। उसकी देह सिहर उठी, वह तन-तनाकर मुड़ गयी और देखा, शायद कोई उसके मन की भावनाओं को सुन रहा है, अस्त-व्यस्त होकर उठते समय कहीं कोई पास छुपा बैठा देख रहा है।

छवि ने थर-थराकर तटबन्ध के ऊपर दृष्टि दौड़ायी। कोई नहीं, एक कुत्ता दौड़ा-दौड़ा आ रहा है!

और जो बड़ी बात उसकी चेतना में घुल-मिल सचमुच जैसे उसपर रंग

चढ़ाये थी उसे मानो स्पष्ट छू दिया हो, कान और गाल गरम-से हो उठे हैं, देह थर्रा रही है, छाती धड़-धड़ कर रही है, छवि मन-ही-मन सोच रही है कि आज इस गाँव में रवि है।

लजाती-लजाती जब धीरे-धीरे तटबन्ध पर चढ़ी, और फिर उतरकर घर की ओर चल पड़ी, तब घूम-फिरकर स्मृति लौट गयी दो वर्ष पीछे की ओर, जब रवि के साथ उसकी पहली देखा-देखी थी।

घर की प्राचीर के दरवाज़े पर फिर रुककर प्रतीक्षा करने लगी। मन-ही-मन ख़याल बुनने लगी कि चबूतरे पर चटाई डाले वे बैठे होंगे, बतियाते होंगे। पास माँ होंगी, गुरु की माँ, बग़लवाली कोठरी में पल्थी मारे बापू बैठे होंगे, भागवत-पाठ से पूर्व जैसे वे आँख मूँद कुछ समय बैठते हैं, किसी अनदेखी शक्ति के ऊपर या ख़ाली शून्य पर सम्पूर्ण आत्मसमर्पण की भंगिमा, सामने लालटेन और मयूरचन्द्रिका का चिह्न लगी भागवत का एकादश स्कन्ध, सिर के ऊपर मुकुट की तरह बड़ा धान का गुच्छा, उसमें कौड़ियों की माला लपेटी होगी। उन्होंने रवि को स्वीकार कर लिया है, उनके व्यवहार से साफ़ पता चलता है। इस घर ने भी उन्हें अपना लिया है। उसी रूप में, उसी परिवेश में वह उन्हें देखना चाह रही है, बाहर सम्बन्ध स्थिर न हो, शंखवाले ने शख न फूँका हो, पुरोहित ने मन्त्र न पढ़ा हो परन्तु मन-ही-मन उसका समर्पण हो चुका है।

और दो डग जाते-न-जाते उसके मन में मानो वितर्क उठता है—

और अगर वे राज़ी न हुए तो? उनका यदि कहीं और मन होगा तो? असम्भव! ख़ूब ज़ोर से मन ने प्रतिवाद किया। समुद्र में ज्वार ही चन्द्रमा के आकर्षण का प्रमाण है। बचपन में पढ़ी साधारण भूगोल की बात यही बताती है। और यहाँ उन्हें उस दिन से देखा, तभी से अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में अनुभव करती आयी है ज्वार का, उसी खींच-तान में उसने जीवन के लक्ष्य का अनुभव किया है। वह भला कभी झूठ हो सकता है?

···पर वे क्यों आये हैं?

ख़ूब जल्दी-जल्दी वह घर के आँगन में चली आयी। भीतर घर के दरवाज़े पर एक छोटी छाया हिल उठी। भस् कर सामने आकर उसके पल्लू को खींच खमखसाहट के स्वर में एक ही साँस में कह गया, "छवि जीजी, वे आये थे, चले गये!"

छवि ने उसके हाथ को कसकर थाम लिया और खींचते हुए पूछा, "कौन, कौन रे गुरु?"

गुरु ने मन-ही-मन मानो अभिमान किया हो, मानो दोनों किसी षड्यन्त्र में लिप्त थे, पर अब एक जन दूसरे का विश्वास करता नहीं—ऐसा उसे अनुभव हो रहा हो। नटखट स्वर में कहा, "कौन?···अगर तुम न जानो तो मैं फिर उसे

कसे जानूंगा ?"

उसका माथा सहलाते-सहलाते फुसलाकर छवि ने पूछा, "वता न, क्या हुआ ? वडा सयाना है रे !"

"मैं भला कौन ?"

गुरु खबर दे गया कि रवि आया था। उसके साथ वहुत सारे लोग थे, उन्होंने वाहर प्रतीक्षा की। उसे गुरु को माँ घर के अन्दर बुला ले गयी, फिर छवि की माँ और गुरु की माँ ने उससे वातचीत की, सिन्धु चौधरी भी वाहर निकले। जलपान से उसने इनकार कर दिया था।

"जाते समय मुझे क्या कह गये, जानती हो ?"

"क्या ?"

"वोले, अपनी छवि जीजी से कहना···वे आयेंगी।"

"तूने क्या कहा ? क्या कहा ?" सो-सो कर वह पूछ गयी, सारी देह उत्तेजना से भरी थी।

"सच रे, वे तो उसी सामलाती में ही रहते हैं। मुझे भी बुलाया है, कितना खेल-तमाशा-यात्रा होता है वहां !"

उसके विचित्र विह्वल भाव को दहलाते हुए उधर सिन्धु चौधरी की स्पष्ट आवाज़ आयी, "कौन, छवि ?"

"हाँ, वापू !"

"रवि आया था। सामलाती घर मे आज साँझ को एक चर्चा होनेवाली है, काम-धाम को लेकर वातें होंगी। तुम्हे भी वहुत जोर देकर कह गया है आने के लिए।"

पिता के मुँह से 'वहुत जोर' सुनते ही छवि के कान लाल हो गये। लाज के मारे उसे लगा कि यही माटी मे मिल जाती। परन्तु सिन्धु चौधरी ने बालक की तरह सरल सीधी आवाज में कहा, "कहा है कि तू अपना दल-वल बुलाकर ले जाना। तुम्हारे महिला दल के सवको जाना है। वास्तव मे इन सारे कामों में चर्चा और भावों की अदला-वदली की वहुत जरूरत है। आज कितनी ख़ुशी का दिन है कि हरि साहू इस सामलाती में मिल गया है। वह सदा अख़वार की वात कहता है, आज वह ज़रूर जी खोलकर कहेगा अपनी वात—उसे क्या हुआ जो वह पिघलकर वह चला समुद्र में मिलने के लिए। सुनने में मज़ा आयेगा···"

"वापू, तुम भी जाओगे न ?"

"मैं तो वस निकल ही रहा हूँ। और जल्दी ही तुझे भी निकलना है। जा बुलाती आना अपनी सवों को।"

ख़ुशी से नाचती-नाचती पैर फड़काती चल दी छवि। छवि की माँ ने ऊँची आवाज दी, "अच्छा, अच्छा, उसे वुलावा आया है, वह जायेगी, आपको

आदर-गोरव मिला है आप जायेंगे, और मैं—मुझे तो कोई बुलाता नहीं।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "तुम्ही तो हो असल, तुम्ही तो हमें हांककर ले चलोगी !"

"हूँ, वारुणी-योग पडा है, यात्रा दिखाने मे जाना है !"

"अरे, पहले तो था प्रहसन या नौटकी या विमान-मेलण। आँखों से देखते रहो, कानों से सुनते रहो झांझ-मजीरे, मृदग की झन्-झन् झांय-झांय, घी के पिठऊ कुछ नही तो माला, चूडी, छाज, छवड़ी लेकर घर लौटना। यह जो यात्रा है ना, उसमें भाग लेंगे हम-तुम ख़ुद, तू होगी नट। तू ही गानेवाली, बजानेवाली, ठाकुरजी भी तुम्ही और क्या ?"

"हां सब तो मैं, और कोई क्या ? मैं ही नाटक का नायक !"

"अरे बाबू, तुम सब एक साथ न होने पर भी एक-एक कर सब हो। आदमी अपने लिए अब का यह मेलन करता है। कोई पक्षी उड आता है किसी राज से, सब एक जगह होते है, जो खोल सुख-दुख की बातें करते हैं। नाना लोगो का बुद्धि-विचार एक-साथ मिलकर एक रास्ता निकलता है, ताकि सबकी और अधिक भलाई हो। अज्ञान, अशिक्षा, अन्धकार, ग़रीबी, रोग, अविचार इन सबके विरुद्ध लड़ाई तेज़ होगी। और भी नाना-नाना अच्छे-अच्छे उपाय दिखेंगे। रास्ता दिखानेवाली, घर चलानेवाली, आदमी गढनेवाली तो तुम औरतें हो, तुम्हीं लोगो की नहान-घाट पर की चर्चाओं या सुबह-शाम की ख़ुसफ़ुसी से युग-युग मे इस समाज के चलन ने दिशा बदलकर इधर-उधर मोड़ लिया है, और इस गांव ने जैसे नये ढग से नये चलन को अपना लिया है, सारी तो तुम्ही लोगों की करामात है—"

"अच्छा, बस-बस !" छवि की माँ ने बात काटकर कहा, "मुझे इतना ऊँचा करने की ज़रूरत नही। जो तुम कह गये, कर गये। सब तो मैंने सहा, और सहती रहूँगी जीवन-भर। बाबाजी बने। कहा कि माताजी बन, वह बनी। न खाना न पीना, देह के भले-बुरे की ओर कोई ध्यान नही, बेटी को छोड़ दिया पत्ते की चक्री की तरह घूम-घूमकर गाँव-दुनिया की बेगार करने। माँ होकर उसे भी सहा···"

"ओह !" सिन्धु चौधरी ने हँसकर कहा, "तेरे मन का अरमान मिटा नही !"

"यह मरा नही जाने का ! क्या था, और यह क्या हो गया, क्या हो रहा है ! फिर वैसे ही कर रहे हो ? फिर वायु लगेगी नही, बेटी बूढ़ी हो जाये !"

"परिवर्तन के साथ-साथ तुम चल रही हो, तुम्हें तो उसने तोड़ा नही, मरोडा नही, फिर तुम्हे दुख किस बात का ?"

"मुझे और दुख क्या है, बाढ़ मे सब भर गया !" छवि की माँ ने हँसकर कहा।

सिन्धु चौधरी ने कहा, "बाढ की बात शायद तुम समझ न सको, तुम्हारे

पोते-पड़पोते समझेंगे, वे कहेंगे कि सैकड़ो बरस हुए जो मानव-समाज इस देश मे पड़ा-पड़ा बँधे हुए दल-कीच मे जम गया था, उसमें उलझकर नया जीवन्यास तुम्ही लोगों ने दिया, अतः उसमें नयी सृष्टि और नूतन विचार सम्भव हो सके, लोग यही कहेंगे।"

"अच्छा, क्या-क्या वे कहेंगे, ताडपत्रो पर तुम लिखकर रख दो, गुसाँईजी की गद्दी के पास थाक मे। किसी के पड़पोते ही सही, वे पढ़ेंगे, तुम्हे तो होने से रहे—"

उनकी हँसी बदलकर एक करुण दीर्घ साँस मे परिणत हो गयी। सिन्धु चौधरी बरामदे से उनके पास उतर आये, बोले—"सुन, अपनी उमर गढने के अलावा जिसके पास और कोई काम नहीं होता, वह बूढा होता है, या वो बूढी होती है; जो नयी सृष्टि करने की तरह काम के स्रोत मे मिल जाता है, उमर के हिसाब से उनकी नाप नही होती।"

"नही, वह जवान ही रहता है, एकदम तुम्हारी ही तरह !"

"और जो अपना जीवन धन्य करता है, लोग श्रद्धा करते है; भक्ति करते है या पूजा करते हैं, उसकी उमर की भी माप नही होती। ठाकुरजी देवताओ के परिवार को लेकर हम बातें करते है—कोई किसी का बेटा या बेटी है, तो कोई किसी की भार्या, परन्तु कभी किसी के मुँह से सुना है कि पार्वती की उमर कितनी है ?"

गहरी साँस छोड़कर छवि की माँ ने कहा, "अच्छा, भुलाते रहो, मुझे नही बहकाते, ख़ुद को बहका रहे हो। मुझे लगता है, बेटी के लिए वर तुम्हारे हाथ के नीचे है। बेटी ख़ुश होती, बेटा भी अवश्य ख़ुश ही होता, पर तुम्हारी आँखों को दिखता नही ?"

हँसकर सिन्धु चौधरी ने कहा, "शायद न दिखता हो, बताओ न।"

"त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ पुरुष बने हो, देख नही पाते ? मैं हुई औरत जात। छवि के लायक रवि। जैसे यह जोडी विधाता ने गढी है। तुम्हारी चुप्पी तुम्हारे पास रहे। एक बार फिर बात चलाओ तो सही। नही तो स्वयं जाकर वट महान्ती से बात करो।"

"कल्प वट है न, माँगते ही थाल भर देंगे।"

"एक बार इनकार किया था, आन पर अडकर हम बच्चो का जीवन नष्ट कर दें ?"

"किसी के जीवन का कोई कुछ नही कर सकेगा, छवि की माँ ! वे अगर ब्याह करना चाहेंगे तो कर लेंगे।"

"कौन करायेगा ?"

"करानेवाला एक ही है, उसका काम दिखता है, वह नही दिखता। 'मो

बिनु आन गति नाहीं'।" सिन्धु चौधरी हँस पड़े। फिर बोले, "तुम जाती हो, फिर रुक क्यों जाती हो ? गाँठ के पास लौट आती हो, उसमें बंध-जुड़ जाती हो, छटपटाती हो—यही फल होता है। गाँठ खोल दो, दोनों हाथ ऊपर टेककर निश्चिन्त हो जाओ।"

"क्या ये सब फालतू बक रहे हो ? क्या मेरी बेटी का ब्याह नहीं होगा ?" उस स्वर में बज उठा अत्यन्त करुण संगीत।

सिन्धु चौधरी वैसे ही प्रशान्त भाव से कहते गये, "अचम्भा इसी बात का तो होता है कि लोग कहते हैं मेरी बेटी सुखी नहीं होगी। मेरा बेटा सुख से नहीं रहेगा। वे केवल कहते हैं, मेरी बेटी का ब्याह नहीं होगा। मेरे बेटे का ब्याह क्या नहीं होगा ?"

"और नहीं तो क्या कहते ?"

"नहीं, वही तो ! बस आडम्बर से बाजा बजाकर लोग इकट्ठे कर भोज वगैरह खिलाकर पुरोहित को बुला चार-पाँच घण्टे श्लोक-पाठ कर सोचते हैं कि जीवन-भर का दायित्व उतर गया। तुम भी उसी तरह खोज रही हो। तुम समझती क्यों नहीं कि वे गुड़ियाँ नहीं, आदमी हैं ! दो आदमी अगर सोचें कि वे एक साथ रह एक सन्तान के माँ-बाप बनेंगे, या एक साथ रहे बिना उनके जीवन का कोई अर्थ नहीं है, तब वे जैसी इच्छा होगी करेंगे, वैसे ही रहेंगे।"

तिरछी होकर छवि की माँ के चेहरे पर चाँद की किरणें पड़ रही थीं। सामने थे सिन्धु चौधरी। उन्होंने देखा, छवि की माँ सिहर उठी है, उनका चेहरा विभग-सा दिख रहा था। थरथराती खोखली आवाज में कहने लगी, "तुम्हारे मन में क्या है खुलकर कहो। तुम क्या कहते हो, मेरी बेटी का ब्याह नहीं होगा। सिर्फ पिछलग्गू बनकर किसी के पैरों-तले—"

"सुनो, पागल मत बनो। पीछे लगकर वन-तपस्या कर वर पाने का भाग्य तुम्हारी बेटी का है या नहीं, मैं नहीं जानता। प्रेम और सम्बन्ध, ये दोनों एक ही बात नहीं है। हम खोजते हैं सम्बन्ध, जैसे जमींदार जमींदार के साथ या ग़रीब अमीर के साथ या व्यवसायी एक और व्यवसायी के साथ। घर के बड़े-बूढ़ों की रुचि के अनुसार, लोभ के अनुसार सम्बन्ध खोजते हैं। परन्तु प्रेम खोजने गयी थीं पार्वती। और जो जाति, आचार, शास्त्र या संस्कार से बँधा समाज लेकर हम बड़ाई करते हैं, इस समाज में अतीत में आदमी के वास्तविक प्रेम ने समाज के सम्बन्धों को कई बार उलट-पलट दिया है। उत्पला ब्राह्मण-कन्या थी, चित्रक जाति से था चाण्डाल। उनके प्रेम ने उन्हें अमर कर दिया। दोनों के अन्त के बाद उनका शव जिस नदी में गिरा वह हुई पवित्र चित्रोत्पला नदी, उन दोनों के नाम पर ठाकुरजी की मूर्ति बिठाकर हमारा ही यह मान्धाता के ज़माने का समाज उन्हें पूजने लगा।"

छवि की माँ की आँखो में आँसू छलछला आये थे—मौनी नदी मे चन्द्रमा की झलक।

कहने लगी, "कौन पडे इन बातो मे?"

उनका सिर चकरा रहा था।

सिन्धु चौधरी ने कहा, "देखो, जन्म दिया है, पाला-पोसा है, चाहती हो। तनिक उदार बनो, निधड़क होओ। जाल डालना या बहेलिये की तरह फन्दा डालना, षड्यन्त्र करना, ये सब अपने काम नही हैं। वे एक-दूसरे को पहचानते है। दोनो को एक ही काम मे झोंक है। एक ने घर छोडकर जगत् को घर बना लिया है, और एक घर पर रहकर भी मानो अघोरी है। मुझे तो लगता है, अगर इनका कभी विवाह होगा भी तो वह भी होगा एक योगसाधना की परिणति, दो विशाल हृदय त्याग, तपस्या, स्नेह, उदारता मे बिछकर पडते-पडते जाने कब अचानक एक हो जायेगे। वे अब कोई गुड्डे या गुडिया तो हैं नही। आदमी है।"

"और अगर न हुए? अगर किसी ने ब्याह का नाम न लिया तो?"

सिन्धु चौधरी बोले, "तो क्या हो जायेगा? क्या पृथ्वी पर प्रलय हो जायेगा?" बाद में छवि की माँ के कन्धे पर दोनों हाथ रख उनकी आँखो मे आँखे डाल भाव-प्रवण होने की तरह कहने लगे—"वरना बताओ तो, रवि को छोड छवि के लायक और कोई वर है?"

सोचते-सोचते नदी के किनारे-किनारे चले जा रहे थे कोई, सीधी छड की तरह पतला लम्बा आदमी। खूब लम्बे पैरो की ओर से ऊपर को दृष्टि किये दिखता कि आकार चल रहा है—ऊपर-ही-ऊपर की ओर। फिर दिखी भालू सरीखी दाढी-मूँछ, काले-काले बाल नही, सफेद भूरे मिले-जुले। बड़े गैडे की तरह मोटी-सी नाक, दृढ़ ऊँची नासा, बडी-बडी आँखें, उनमें गहरी भावुकता, ऊँचा-चौडा ललाट भीत की तरह सीधा उठा। देह के अनुपात मे एक बड़ा माथा। इधर-उधर पसरे पडे टेढे-मेढ़े लम्बे-लम्बे बालों से लदा वह सिर और भी बडा लगता था। चौड़े कन्धे और सीधी गरदन का मानो गुमान टूटा नही। गोरी देह धूप मे चिलक रही है। मटियाली खद्दर की मोटी धोती बांधे है, कन्धे से देह पर तिरछा बँधा है मोटा गेरुआ खद्दर का गमछा या चादर। उसे ढँकने की तरह वहाँ एक हाथ लम्बा एक हाथ चौड़ा ताड़ के पत्ते का आसन भी झूल रहा है। थैले के एक ओर एक अलमूनियम का लोटा लटक रहा है, दूसरी ओर एक छोटी लालटेन, हाथ में गाँठ-दार पक्के बाँस की एक लाठी।

चला जा रहा है रूप, कोई जल्दी नही, परन्तु रुकता नहीं। मानो यह राह

चलना किसी विशेष काम के लिए नहीं। यह जैसे उसका जीवन है। किनारे के नीचे की दुकानों से, फिर जगह-जगह किनारे के बगीचों तले अलसायी बातचीत की पगत से लोग उधर देखते चले जाने के बाद पूछताछ करते, "कौन है ये? किधर जा रहे है?" परन्तु किसी की आँख की पकड़ में वह नज़र नहीं आती, मानो किसी के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं। केवल उनके पैर पडते-पडते आगे चलते, दो लम्बे कदम, एक लाठी का सिरा।

यही वह चीन्ही हुई धरती है। बाँकी-तिरछी होती नदी बायीं ओर चली गयी है, दाहिनी ओर खेत, थोड़ी-थोड़ी दूर पर एक-एक बाग-बगीचे से घिरा गाँव। सिर के ऊपर लाल पत्ते और आम के बौर। तेड के तने पर गिलहरियाँ ऊपर-नीचे दौड़ रही है। बीच-बीच में मोटी-मोटी मधुमक्खियों की घों-घों और कोयल की कुहू-कुहू। कटहल के मोटे तने में छोटे-छोटे कच्चे कटहल झूल आये हैं। किनारे के घने झुरमुट में वासक की महक आ रही है, कभी केतकी के फूलों की सुगन्ध। वो गया पुराना सुलताना चम्पा का बाग। फूल खिले हैं। आ गयी कोई देवल की फुलवारी। नीचे बाँस का वन है, और घना नारियल का बगीचा ओट में, परन्तु सुगन्ध आ रही है। बकुल के फूल और नागेश्वर के फूलों की सुगन्ध एक साथ घुल-मिल गयी है।

सामने थोड़ी-सी दूर में लालवन, जामुन की ललायी लिये कोपलें, फूलों भरा पाटली वन। बीच-बीच में पलाश और पालिधि का पेड। एक ओर एक विराट् सेमल का पेड, पत्ते बिलकुल नहीं। केवल लाल-लाल फूल। धूप के कारण रग की आभा सचमुच जैसे शून्य में रच गयी है।

याद आ गया। वसन्त। सचमुच जैसे ख़याल ही न रहा। और एक के बाद एक दिखता गया—जगलों से भरी पहाड़ी दीवार से घिरी कोई खोयी-छुपी अँधेरी खोल, पर्वत की ढलान में कोई अकेली झोपड़ी, छोटी-सी झोपड़ियों की बस्ती से हटकर सामने रंग में चमकता पाटली-वन, नीचे झरने के किनारे अशोक का सघन जगल, वहाँ भी फूल खिले होंगे, और उन फूलों से भी सुन्दर स्नेह से लबालब सरल चेहरे, काले चमचमाते—

"फिर कब आओगे बेटे?···"

"इस लोक में भेंट नहीं हुई तो फिर उस लोक में भेंट होगी। हम खोजते फिरेंगे कि वह कहाँ गया, ऐसा उसका चेहरा, हमें स्नेह दिया, बुद्धि बतायी, अभय दिया, हमारा भला किया, हमारा लडका। हम उसके बेटे-पोते, हम उसके साथ मिलेंगे, बताओ वह कहाँ है?"

उन्हीं छलछलायी आँखों की गहरी दृष्टि···वह एक-दो शब्दवाली भाषा, जो बातें बनाना, बढाकर बखानना जानती नहीं, केवल दिखाती है हृदय की गम्भीरता।

हथेली भींचकर मुँह-आँख की ओर सीधा देख काँपते स्वर मे कहा—"तू जा नही बेटे, सच तू चला जायेगा ?"

"हाँ, जाना ही पडेगा।"

जो लाया था, अन्तर से उसी ने आवाज लगायी है, फिर लौट जाना पडेगा। हवा मे उडते-उड़ते खबर आयी कि वहाँ आदमी अपनी राजी से चुपचाप नया समाज गढ़ रहा है। सचमुच जैसे एक गाँव एक घर है, सब सबके हित के लिए स्नेह मे गुँथे-बँधे। उसी तरह आग की चिनगारी यहाँ से उठ वहाँ पडती है, भावना फैल जाती है। इच्छा हुई कि देखूँ, जाऊँ, सचमुच क्या कलि पूरा हो गया।

अविश्वास भी हुआ नही। शुरुआत जहाँ से भी हो, होती तो ? जिस अहीर-बस्ती मे श्रीकृष्णजी जन्मे थे, जिन वनवासी-गोष्ठी के बीच शाक्य मुनि पैदा हुए, जिस अनजान पल्ली मे शुरू हुआ है युग पलटने का आन्दोलन—कौन उसे जानता था चीन्हता था पहले ! जाना-पहचाना, आँखो मे दिख जाने लायक जो देवल खडा कर आडम्बर से सजाये लोग प्रतीक्षा कर रहे है—प्रकाश और कहाँ खिला करता है उस जगह को छोड।

कितनी ठोकरें, अनादर सहकर यह माटी मौन हुई पडी रहती है, फिर अकस्मात् कभी कही वह हिल उठती है, भूकम्प होने लगता है। वैसे ही कितने अत्याचार, शोषण, लूट सहते हुए युग-युग का अँधेरा, कुसस्कार, नैराश्य के कूडे-करकट के ढेर तले दबा रहता है किस देश का आदमी, और फिर उसकी चेतना में भर आती है हलचल—वह कुछ कर दिखाता है।

आदमी इच्छा करे तो काम कर सकता है, हाथ-से-हाथ मिलाये तो बन जाता है वज्र—कौन जाने हुआ होगा !

तब अपने आप याद आ जाती है कुछ ही बरस पीछे की कहानी। उसने उस अँधेरी गुहा मे आश्रम नही गढा था। देश ने इच्छा की थी कि वह स्वाधीन होगा। स्वाधीन हो गया। तब पुलिस और मजिस्ट्रेट थे। राजा-महाराजा, नवाब-जमीदार, रायसाहब-रायबहादुर लोग थे, और थी थाक-थाक पलटन, बन्दूक, तोप-तमचे, आकाश मे हवाई जहाज, नदियों मे युद्ध का बेड़ा था, देश मे भेड़िये थे, झूठा भय था, देह मे, मन मे सब जगह मानो बन्धन की बेड़ियाँ पड़ी थी, हिमालय से कन्याकुमारी तक उस विराट् कारागार की छाती चीरकर उठी थी एक ही आवाज—"महात्मा गाधी की जय !" और इस देश की जनता ने इतिहास निर्माण कर दिया, एक अभूतपूर्व स्वाधीन जनता की स्थापना कर डाली।

कौन कह सकता है ? हो सकता है, आगामी इतिहास मे और एक कदम हो, जब देश-देश के बीच भी बाड़ें नही रहेगी, युद्ध के बीज सूख जायेंगे, परस्पर का हित मनाते हुए यह सारी धरती स्नेह-मैत्री मे गुँथ-बँधकर गढा जायेगा एक

चलना किसी विशेष काम के लिए नहीं। यह जैसे उनका जीवन है। किनारे के नीचे की दुकानों से, फिर जगह-जगह किनारे के बगीचों तले अलसायी बातचीत की पगत से लोग उधर देखते चले जाने के बाद पूछताछ करते, "कौन है ये? किधर जा रहे है?" परन्तु किसी की आँख की पकड में वह नजर नहीं आती, मानो किसी के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं। केवल उनके पैर पड़ते-पड़ते आगे चलते, दो लम्बे कदम, एक लाठी का सिरा।

यही वह चीन्ही हुई धरती है। बाँकी-तिरछी होती नदी बायीं ओर चली गयी है, दाहिनी ओर खेत, थोड़ी-थोड़ी दूर पर एक-एक बाग-बगीचे से घिरा गांव। सिर के ऊपर लाल पत्ते और आम के बौर। पेड़ के तने पर गिलहरियाँ ऊपर-नीचे दौड़ रही है। बीच-बीच मे मोटी-मोटी मधुमक्खियों की घों-घों और कोयल की कुहू-कुहू। कटहल के मोटे तने से छोटे-छोटे कच्चे कटहल झूल आये हैं। किनारे के घने झुरमुट से वासक की महक आ रही है, कभी केतकी के फूलों की सुगन्ध। वो गया पुराना सुलताना चम्पा का बाग। फूल खिले हैं। आ गयी कोई देवल की फुलवारी। नीचे बाँस का वन है, और घना नारियल का बग़ीचा ओट मे, परन्तु सुगन्ध आ रही है। वकुल के फूल और नागेश्वर के फूलों की सुगन्ध एक साथ घुल-मिल गयी है।

सामने थोड़ी-सी दूर मे लाल वन, जामुन की ललायी लिये कोंपलें, फूलों भर पाटली वन। बीच-बीच मे पलाश और पालिधि का पेड़। एक ओर एक विर सेमल का पेड़, पत्ते बिलकुल नहीं। केवल लाल-लाल फूल। धूप के कारण र आभा सचमुच जैसे शून्य मे रच गयी है।

याद आ गया। वसन्त। सचमुच जैसे ख़याल ही न रहा। और एक एक दिखता गया—जगलो से भरी पहाड़ी दीवार से घिरी कोई अँधेरी खोल, पर्वत की ढलान मे कोई अकेली झोपड़ी, छोटी-सी झो बस्ती से हटकर सामने रंग मे चमकता पाटली-वन, नीचे झरने के कि का सघन जगल, वहाँ भी फूल खिले होंगे, और उन फूलों से भी लबालब सरल चेहरे, काले चमचमाते—

"फिर कब आओगे बेटे?···"

"इस लोक में भेंट नहीं हुई तो फिर उस लोक मे भेंट फिरेंगे कि वह कहाँ गया, ऐसा उसका चेहरा, हमें स्नेह दिया दिया, हमारा भला किया, हमारा लड़का। हम उसके बेटे मिलेंगे, बताओ वह कहाँ है?"

उन्ही छलछलायी आँखों की गहरी दृष्टि···वह ए जो बातें बनाना, बढाकर बखानना जानती नहीं, के गम्भीरता।

रही थी उसे अपने आकार मे सीमित मानकर। तब खादी केवल एक प्रकार का मोटा कपड़ा ही नही थी, वह एक पवित्र आकांक्षा और आदर्श का प्रतीक थी। वैसे ही महात्माजी। वे सारे भारतवर्ष के प्रतीक थे।

गांव-भर जलाकर राख कर वे उस स्रोत को ज़रा भी न रोक सके। कही से फिर आ गया बैलगाड़ियो मे भर-भरकर पुआल, बांस, धान, चावल। ठूंस-ठूंसकर गांववाले लाकर दे जाते। अँधेरे-अँधेरे मे माटी रौंधकर गारा बना लेते, दीवारें खड़ी हो जाती। किसी ने किसी को नही कहा कि आओ, श्रमदान करो। विराट् आश्रमघर खड़ा किया गया, फिर क्रमवार घर-द्वार बनाये गये।

बाद मे गांव के उधर उस ख़ूब सघन अमराई में वह जो ताण्डव-लीला हुई! वहां आस-पास के गांवो से आकर कोई दस हज़ार औरत-मरद जमा हुए होंगे। किसी के हाथ में छड़ी का टुकड़ा भी न था। बस चेहरे की दृढ़ता, छाती का बल था। और उनके आगे दल-के-दल क़तार-कतार में लाठीवाली पुलिस, बन्दूकधारी पुलिस। मोटी तोंदवाला अधेड़ रघुराम डिप्टी घोड़े पर से हुकम दे रहा था। सार्जण्ट साहब एक-एक को खींच लाता, नंगा कर पीटता। फिर पीछे से आवाज आती, "रघुवा नना, नुण मरा हेला पछकु अना" (रघुवा दादा, लूण बनाया पीछे देख!)। दांत किटकिटाकर घोड़ा भगाये दौड़ा जाता रघुराम डिपटी। डण्डा उठाकर हुकुम देता, "लाठी चलाओ! सालो को सीधा कर दो।" सीधे हुए नही। फिर अगली बार आये डिप्टी भीमादास। लोगों का कहना था कि वह कोई पत्थर तोड़नेवाली मशीन थी या सड़क कूटनेवाला रोलर। उस बार गोली चली। तीन जन लुढ़क पड़े। कितने ही बांधे गये। गांव को घेरकर कड़ा पहरा खड़ा कर दिया गया। फिर कुछ दिन जाने के बाद तेज हो उठा। तब आये थे डिपटी अल्ला बख़्श। "बेंत चलाओ।" उन्होंने हुक्म दिया। चली थी। ख़ुद घोड़े पर सवार बार-बार चीख़ते रहे, "और···और···और भी जोर से—!"

ऐसे ही कितनी जगह इस रास्ते के किनारे-किनारे।

कितने लोग पकड़े जाकर जेल गये। वैसे ही पकड़कर उन्हें भी जेल ले गये। आज आरत पण्डा कहने पर कौन पहचानेगा?

परन्तु तब आरत पण्डा नाम का सचमुच था कोई आदमी! केवल पुलिस के चक्कर में नही, इस माटी मे उसकी जड़ें थी। इसी इलाके के पाटेली गांव के किसी पीढ़ी के अच्छे-खासे ब्राह्मण-परिवार में जन्मे, इस गांव के वे हितकारी भाई। चौकीदारी टिक्कस चौदह आने, पथ-कर का राजस्व सात रुपया सात आना, निष्कर बाहाल बारह एकड़, केवल बाग-बाड़ी तीन एकड़, दो एकड़ मे पोखरी, ठाकुरजी का खेत पांच एकड़। राधामाधव ठाकुरजी के मार्फतदार थे। कितनी पीढ़ी का भरा घर। ऐसे जी-हुज़ूरे बनकर और भी कई लोग गुज़ारा करते। माँगने पर मिलता। चेहरे दिख जाते है। उनकी माँ, पत्नी लक्ष्मी, लव-कुश दोनो बेटे, उनसे छोटी बेटी—

मानव-समाज। वहाँ धन के लिए एक छटपटाता नहीं होगा, ग़रीब छटपटाता होगा मन की ख़ातिर, भाईचारे के लिए। हो सकता है, उस पवित्र महानदी का जन्म हुआ है किसी पानी से लबालब खेत से। अतः उसने आश्रम से बाहर पैर निकाला है।

चमड़ी पर रेशमी धूप, सनसनाती हवा। वसन्त स्वागत कर रहा है। आकाश मेघमुक्त है। हिलती-डुलती छाया और झिलमिलाती रोशनी का वही पुराना अनभूला दृश्य। जो दिख रहा है और जो नहीं दिखता, सब एक-एक कर याद पड़ जाता है। धान कटाई के बाद ढोया जा रहा है। जगह-जगह धान के ढेर पर कबूतर और चिड़ियों की भीड़। जगह-जगह नाटक-तमाशों की धूम, कहीं पाला-गायकों की आवाज़, झांझ-मृदंग। गाय-गोरुओं की देह चिकनी दिख रही है। छान से छीका झूलता होगा, भीत पर अल्पना बनी होगी, और चलते-चलते अचानक छन् से लगता है, दृष्टि ठहर जाती है—दूर धुँधली ललाई पर, सब दृश्य वहाँ घुल-मिल गये हैं, टँगा है खाली शून्य। वहाँ एक अवगुण्ठन झूल रहा है। उसी के पीछे उनका अतीत है। उसी शून्य के अन्दर ही एक चेहरा दिख जाता है, फिर उसके पास और तीन छोटे-छोटे चेहरे। याद आता है कि इसी किनारे-किनारे वे घर लौट रहे थे, आज भी हैं इसी किनारे-किनारे। किसी को देखेंगे ?

दीर्घ साँस से छाती फूल उठती है। फिर उस छुपी हूक को दबाये रखते हैं। सचमुच जैसे अपनी छाती को निर्देश देते हों कि छाती तू पत्थर हो जा ! और एक ढंग से स्मृति को याद करते। एक को दबाते ही दूसरी निकलकर ऊपर आती। एक नहीं करोड़ों-करोड़, एक का मोह काटकर उन्होंने उन करोड़ों के प्रति मोह को अपने हृदय में स्थान दिया था, वही तो रास्ता दिखा रहा है। जहाँ भी गिर पड़े, देश के भाई होंगे उठा लेने के लिए, नहीं तो इस देह को अर्थी पर लाद देने के लिए।

वो रहा गाँव। धान कट गया होगा। खेत के उधर वो जो बाँस का वन दिखायी पड़ रहा है उसके उस पार है। इस गाँव में तीस तकुवे चलाये गये थे, खादी का कपड़ा बुनने के लिए यह गाँव हुआ था एक केन्द्र। दो ने नौकरी छोड़ी। कई बच्चों ने स्कूल की पढ़ाई छोड़ी और देश के काम के लिए निकल आये थे। औरतों ने चरखा चलाया। कितना उत्साह तब था ! और फिर घर जलानेवाले पुलिस साहब ने रातों-रात छुपकर गाँव में आग लगा दी। हाँ तो, यही फागुन के अन्तिम दिनों की ही तो बात है ! कितनी विकलता ! घर राख हो गये, पर अकड़ तिल-भर भी नहीं मिटी। पहले से अधिक तगड़ा संगठन खड़ा हुआ। उसके पीछे थे इस इलाके-भर के लोग। यही उस समय की विशेषता थी। ऊपर जितनी दिख रही थी उतनी ही नहीं, वह तो एक हस्ताक्षर था, समूचा देवल नहीं; देवल के सामने की पताका-भर थी। और अँगरेज़ सरकार बारम्बार भूल कर

रही थी उसे अपने आकार में सीमित मानकर। तब खादी केवल एक प्रकार का मोटा कपड़ा ही नही थी, वह एक पवित्र आकांक्षा और आदर्श का प्रतीक थी। वैसे ही महात्माजी। वे सारे भारतवर्ष के प्रतीक थे।

गाँव-भर जलाकर राख कर वे उस स्रोत को जरा भी न रोक सके। कही से फिर आ गया बैलगाड़ियों में भर-भरकर पुआल, बाँस, धान, चावल। ठूँस-ठूँसकर गाँववाले लाकर दे जाते। अँधेरे-अँधेरे में माटी रौंदकर गारा बना लेते, दीवारें खड़ी हो जाती। किसी ने किसी को नहीं कहा कि आओ, श्रमदान करो। विराट् आश्रमघर खड़ा किया गया, फिर क्रमवार घर-द्वार बनाये गये।

बाद में गाँव के उधर उस खूब सघन अमराई में वह जो ताण्डव-लीला हुई! वहाँ आस-पास के गाँवों से आकर कोई दस हजार औरत-मरद जमा हुए होंगे। किसी के हाथ में छड़ी का टुकड़ा भी न था। बस चेहरे की दृढ़ता, छाती का बल था। और उनके आगे दल-के-दल क़तार-कतार में लाठीवाली पुलिस, बन्दूकधारी *पुलिस। मोटी तोंदवाला अधेड़ रघुराम डिप्टी घोड़े पर से हुकम दे रहा था।* सार्जेण्ट साहब एक-एक को खींच लाता, नंगा कर पीटता। फिर पीछे से आवाज आती, "रघुवा नना, नुण मरा हेला पछकु अना" (रघुवा दादा, लूण बनाया पीछे देख!)। दाँत किटकिटाकर घोड़ा भगाये दौड़ा जाता रघुराम डिपटी। डण्डा उठाकर हुकुम देता, "लाठी चलाओ! सालो को सीधा कर दो।" सीधे हुए नहीं। फिर अगली बार आये डिप्टी भीमादास। लोगो का कहना था कि वह कोई पत्थर तोड़नेवाली मशीन थी या सड़क कूटनेवाला रोलर। उस बार गोली चली। तीन जन लुढ़क पड़े। कितने ही बाँधे गये। गाँव को घेरकर कड़ा पहरा खड़ा कर दिया गया। फिर कुछ दिन जाने के बाद तेज हो उठा। तब आये थे डिपटी अल्ला बख़्श। "बेत चलाओ।" उन्होंने हुक्म दिया। चली थी। ख़ुद घोड़े *पर सवार बार-बार चीख़ते रहे, "और···और···और भी ज़ोर से—!"*

ऐसे ही कितनी जगह इस रास्ते के किनारे-किनारे।

कितने लोग पकड़े जाकर जेल गये। वैसे ही पकड़कर उन्हें भी जेल ले गये। आज आरत पण्डा कहने पर कौन पहचानेगा?

परन्तु तब आरत पण्डा नाम का सचमुच था कोई आदमी! केवल पुलिस के चक्कर में नहीं, इस माटी में उसकी जड़ें थी। इसी इलाके के पाटेली गाँव के किसी पीढी के अच्छे-खासे ब्राह्मण-परिवार में जन्मे, इस गाँव के वे हितकारी भाई। चौकी-दारी टिक्कस चौदह आने, पथ-कर का राजस्व सात रुपया सात आना, निष्कर बाहाल बारह एकड़, केवल बाग-बाड़ी तीन एकड़, दो एकड़ में पोखरी, ठाकुरजी का खेत पाँच एकड़। राधामाधव ठाकुरजी के मार्फ़तदार थे। कितनी पीढ़ी का भरा घर। *ऐसे जी-हुजूरे बनकर और भी कई लोग गुजारा करते। माँगने पर मिलता।* चेहरे दिख जाते हैं। उनकी माँ, पत्नी लक्ष्मी, लव-कुश दोनों बेटे, उनसे छोटी बेटी—

सरस्वती। उनके जेल जाने के बाद स्त्री मर गयी, फिर गयी माँ। बच्चों को मामू ने ले जाकर पाला, सरस्वती का दो वर्ष बाद कहीं ब्याह हो गया, उसकी गोद में नन्ही एक बच्ची। घर टूट गया, ज़मीन-बाड़ी सब चला गया, गाँव से नाम डूब गया, जेल से लौटकर वन-ही-वन में इतने बरस बिता दिये, आज इतने दिनों बाद इस सोन्ही माटी पर पैर रख रहे हैं। चौंका दे रही है जीवन-स्मृति कि यह क्या हो गया है! मूँछ-दाढ़ी भिगोती धार बहती जा रही है कि कहाँ गया उनका सयम।

ख़ुद को सँभालने की चेष्टा करते-करते वे किनारे के नीचे कछार पर चले जाकर एक घने कुचला के पेड़ तले खड़े नदी की बालू की ओर चुपचाप देख रहे हैं। ख़ुद को मन-ही-मन समझाने लगे—वे सयमी हैं, वे अमर आत्मा, आत्मा के गुण नहीं, आसक्ति नहीं, यह व्यक्तित्व सिर्फ़ प्राकृतिक है, यह ससारी खेल केवल माया है। शोक करना उनका काम नहीं, जैसे कि आनन्द करना भी अनुचित है।

नदी के किनारे की हवा चेहरे को छू रही है। तपतपाती धूप में छाया और हवा से आलस्य-सा लग रहा है। आँसू सूख गये हैं। पेड़ के तने के सहारे झुककर आँखें मूँद लीं। मन-ही-मन सोचा, आये चाहे और कोई धारणा, ख़ुद को छोड़कर और कुछ···यह मन इस व्यक्तित्व के बन्धन से मुक्ति पाये!

आगे कुछ दिखा नहीं। और फिर दिख गये पहाड़ों की मालाएँ, जो झोपड़ी वे छोड़ आये हैं, बाद में और एक घर, चबूतरे की सीढ़ियाँ, चौरा, रास्ते की ओर का दरवाज़ा, नारियल के पेड़, पिछवाड़े की बाड़, भीत, छान-छप्पर, कपड़े सूख रहे हैं, साड़ी और फिर वह लक्ष्मी, माँ, तीनों बच्चे। एक घनी बेर की झाड़ी!

आँखें खोलीं! फिर पलकें मुँद रही हैं। दिमाग़ में चल रहा है मानव-स्वर का सगीत। पत्नी किसी से कुछ कह रही है। बच्चे धमाधम दौड़ रहे हैं। माँ किसी से ज़ोर-ज़ोर से कह रही है। बछिया रँभा रही है और गाय उसका उत्तर दे रही है। बस्ती से किसी की बातचीत सुनायी पड़ रही है। दरवाज़े पर कोई आवाज़ दे रहा है। 'जी वे घर पर है।' पत्नी कुछ कह रही है। फिर आँखें खोल दीं।

ऐसे कितनी ही बार गहरे ध्यान में भी यह स्वर-लहरी चली आती और हिचकोले खाती। और कोई रोक-टोक रखी नहीं। सहज भाव से स्वयं को छोड़ दिया उस स्मृति के ऊपर तैरने के लिए।

लक्ष्मी! चिकनी, काली, छरहरी, मानो मक्खन चुपड़ा हो, काले पत्थर की मूर्ति हो, जीवन पाकर चचल हो उठी! धनु-सी बाँकी भौंहें, खुली-खुली शान्त आँखों की जोड़ी, उसकी नजर कहती कि वह सब समझती है, सारी बातों में उसका समर्थन है, उसे कोई क्लान्ति नहीं या भय नहीं। पतली नाक, पतले-पतले होठ। हलकी-सी हँसी। पैर दोनों कितने छोटे-छोटे। माँ कहती साक्षात् लक्ष्मी के-से पाँव हैं। अलता लगाने पर थूहर के फूल-से दिखते। छोटी-छोटी हथेलियाँ,

मांसल, नरम-नरम। कूँदी हुई-सी अँगुलियाँ, मुंदरी लगे पाँव में चाँदी की पाज़ेब, नूपुर। भरे-पूरे सुगठित हाथ-पाँव। चंचल चाल। सदा काम में लगी रहती। माँ कहती, यह बहू न होती—

लक्ष्मी ! उसकी देह की पहचानी महक याद आ रही है। घने चिकने बाल घुटनों तक लटकते रहते, और वह अपने हाथ में कंघी लिये बाल सँवारती रहती खड़ी-खड़ी, काम-धाम की बात छेड़े रहती। नाना अलंकारों से देह भरी रहती। नाक में सोने का फूल, नुणा, कानों में कटहल की कली-जैसा फूल, गले में तीन लड़ का हार। हाथों में सोने का अनन्त, पाँच-पाँच सोने की चूड़ियाँ, मगरमुँहा सोने के कंगन, चूड़ा और कमर में तागड़ी। माँ कहती, पहनने के लिए ही तो होते हैं गहने, थोड़े ही डाबापेई में सहेजकर रखने के लिए ?

और दिख जाता है। वे स्वयं जब देश के काम में लग पड़े थे, लक्ष्मी के गहने एक-एक उतरकर चले गये देश के काम की खातिर। लक्ष्मी ने कभी आपत्ति न की, उसके चेहरे पर विराज रही थी एक नयी तृप्ति। नीम की सींक पहन खादी ओढ़ सहज सरल सौन्दर्य से उसपर नयी आभा की झलक खिल उठी। तुम देखना, जरूर महात्माजी जीतेंगे, ये दुश्मन छोड़कर चले जायेंगे। अपना देश स्वाधीन होगा—वह कहा करती।

स्वाधीनता आने तक वह इन्तज़ार न कर सकी। माँ नहीं रह सकी। फिर आँखों से धार बह निकली। वह जाये, चुक जाये यह काम भी, यहीं इस कुचला के पेड़ तले—उन्होंने सोचा। फिर आँखें मूँद लीं। सारे चेहरे एक साथ दिख जाते हैं, माँ, उसकी लक्ष्मी, तीनों बच्चे !

और दिख रहा है आख़िरी बार पकड़े जाकर विदाई की वेला का वह दृश्य। बारम्बार दिख जाता है। कब रात से आकर पिछवाड़े में छुपे रहे थे। सुबह होने से पहले दिख गया—डिपटी बाबू, पुलिस साहब, कतार में खड़ी बन्दूकधारी फौज, लाल पगड़ी बाँधे टोपी पहने बाबू लोग। पालतू कुत्ता भूँकता-भूँकता दाँत दिखा रहा था। लाठी दिखाते ही हट जाता, फिर लपककर आता। लव चार बरस का हुआ था, मुट्ठी ऊँचा कर दौड़ा। सीधी हथकड़ियाँ। डर था कि कहीं भाग जायेगा या गाँववाले ज़ोर लगाकर छुड़ा लेंगे। माँ रो रही थी। लक्ष्मी फफक रही थी। तीनों बच्चे बिलबिलाकर चीख़ रहे थे। गाँव के लोग एक-एक कर झुंड में खड़े थे।

पीछे मुड़कर उसने उन्हें आश्वासन दिया—"रोओ नहीं, धीरज रखो, मन को मज़बूत करो।"

सबको अभय देकर उसने उत्तेजित ध्वनि लगायी थी—"भारतमाता की जय ! महात्मा गांधी की जय !"

और घर की तरफ़ पीठ किये सामने मुँह किये उस दल के साथ-साथ वे चले आये थे।

उस बार इतनी अकुलाहट के साथ क्यों रो रही थी माँ और लक्ष्मी ? वे क्या जान गयी थी कि अब और भेंट नही होगी ?

वे दोनों पवित्र आत्माएँ मुक्त हो ! उन्हे पुनर्जन्म न लेना पड़े।

फिर वे लम्बे-लम्बे डग भरने लगे थे।

धू-धू हवा, रुक-रुककर बह रही है; उसमे एक स्वतन्त्र ताल है, सगीत है। हर ऋतु में हवा ताल बदलती है, हवा का संगीत भिन्न हो जाता है, फिर उसका अँधेरी रात का सगीत चाँदनी रात के सगीत से भिन्न होता है। तपतपाते दोपहर की हवा मे जो सगीत उन्होने सुना है वह भी भोर के संगीत से अलग है। दूर वन के भीतर पहाडी खोह में, उस झोंपडी मे हवा की आवाज को बरस-दर-बरस कान लगाये सुनते-सुनते वे उसको भाँति-भाँति के ताल और राग-रागिणियो के साथ परिचित हो गये है जैसे ऊँची-नीची, टीले-गड्ढो से पूर्ण, वसुधा की स्मृति पर दृष्टि देते-देते वे देखते है—छाया और रोशनी मे अरूप के भीतर नाना रूप। ऐसे ही यह अक्षय भण्डार पड़ा है, सचमुच जैसे रूप-रस-गन्ध का अनन्त समुद्र हो, जिसे जो लेना हो ले, जितने दिन जिसका जैसा पात्र हो तदनुसार। कितने ही आये है इस चेतना के अन्दर, कोई ससारी सम्बन्धो मे, किसी के साथ मन का तो किसी के साथ कल्पना का सम्बन्ध। वे चले गये है, फिर नये सम्बन्ध नये सम्पर्क लग रहे है। रग लगे है, झरे है, फिर भी स्वयं मे रहता आया है आकाश की तरह जीवन, वहाँ कहाँ है अपनी पसन्द की रुचि या अरुचि ?

वसन्त जला रहा है फूलो की रोशनी। उसी खोह मे भरी होगी फूलो की सुगन्ध, महुए के फूलों की भी। और कुछ देर बाद चल पड़ेगा चैत का उत्सव। मधु-नाच-शिकार और पागलों की तरह लेना-पकड़ना। साँप भी केंचुल छोडकर छरहरा हुआ है, तटबन्ध के पास छप्पर पर से कोई केंचुल फर्र-फर्र उड़ रही है। खुरदरी माटी मे घास के झाटो पर भी, अनाप-शनाप गुल्मो की फुनगियो पर भी छोटे-छोटे फूल खिले हैं।

परन्तु हवा के सगीत मे उदासी भरी है। हवा शोक कर रही है। एक साथ इतने फूल खिलकर झर पड़ेंगे। एक साथ फलप्रसू इतने पेड, इतने जीव-जन्तु झट-पट-झटपट विस्मृति के अतल गर्भ की ओर ढलान-ही-ढलान मे दौड़ जायेंगे और थोड़ी दूर। इतने रग, इतना उत्पादन, इतना भोग—कितने दिन के लिए ?

रह गयी कहाँ ? लक्ष्मी—। फिर चेतना पाकर स्वय को सँभालने की चेष्टा की। आकाश मे, धरती की स्मृति मे, रग मे, निर्जन तपस्या की धारणा में, भावो मे चाहे जितनी दूर उसे झटकने पर भी लक्ष्मी रह गयी है। इस अन्तर में वँसी-

की-वैसी !

जेल का समय बीता। स्वाधीनता आयी। देश में अपार उत्साह। इतने ज़माने का सपना सच हुआ। हमारा देश, हम स्वाधीन हैं। जो आदर्श आँखों के सामने रखकर हम रास्ते पर चल पडे थे, काम कर रहे थे, स्नेह प्रीति-मैत्री का जीवन, सत्य-अहिंसा और चरित्र बल पर प्रतिष्ठित, सर्वोदय, ग्रामोद्योग, खादी, ग्रामस्वराज, सेवा, त्याग, श्रम की नीव पर गढा जाकर निरीह निष्पाप, सरल, आडम्बरहीन, पूर्ण विकसित समाज, जहाँ अभाव नही, अज्ञान नही, कलह-झगडा नही, लूट नही, शोषण नही, भय नही। जहाँ शान्ति, आनन्द, सरलता और सद्-गुणो से भरा उन्नत चिन्तन और पूर्ण विकास का भूस्वर्ग झिलमिलाकर सारी पृथ्वी का आदर्श बनेगा और प्रेरणा देगा। वही सपना देखते थे उसी गाँव के चासी-मजूर अघोरी-द्वारी जब महात्माजी और भारतमाता को एक साथ रखकर वो ध्यान करते, और भगवान् से पुकार कहते कि विदेशी राज जाये, रामराज आये। आ गया है अब वही समय—वैसा ही होगा !

और फिर ? किधर बढते-बढते किधर दिशाचक्र घूम गया। आ गयी हत्या-विभीषिका की ताण्डवलीला, देश के टुकडे हुए : भारत, पाकिस्तान। लाखो लोग पुराने घर-बार से जडे उखाड़ इधर-से-उधर, उधर-से-इधर हुए। भारत का नाम छोडकर लोगो ने दुहाई मचायी अपनी भाषा-भाषी इलाके का नाम लेकर। चीज़ों के भाव बढ गये। एक नया शब्द घिसकर पुराना पड गया—काला बाजार; लगी रही एक-पर-एक हिलोर, और जिधर देखो उधर क्षमता की लड़ाई, दाँव-पेंच-भर गया समाज के हर स्तर पर, हर क्षेत्र में। बस क्षमता और स्वार्थ। उसी के लिए दल गढना, प्रतिद्वन्द्विता, निष्ठुरता, असहिष्णुता, झूठे भेष, औरो को दबाने के लिए, औरो से बढ जाने के लिए तीव्र तुमुल वेग। विद्या या बुद्धि या विचार—नयी-नयी उद्भावनाएँ, यन्त्र, उपकरण, सब नियोजित होने है सिर्फ उसी उद्देश्य के लिए। पुरानी मन्थर दुनिया जाग उठी है, चारो ओर गति, नयी सृष्टि, रास्ते, मकान, जायदाद, यान-वाहन, कल-कारखाने; परन्तु सचमुच जैसे डील बढने पर भी माथा खराब हो गया है, पुराने शब्दकोश के कई शब्द लुप्त होते आ रहे हैं—सत्य, न्याय, मर्यादाज्ञान, मित्रता, नि:स्वार्थ स्नेह, आत्मत्याग, सरलता, शान्ति। एक दूसरे को उकसा रहा है, भरमा रहा है, उदाहरण दिखाकर या कुरेद-कुरेद-कर। एक खडा हुआ तो दूसरा उसकी टाँग खीचता है। उसे फिर तीसरा खीचता है, अकेला या दल बनाकर। बस सब जगह यही रूप, यही प्रवृत्ति। किसी सूरत में क्षमता हासिल ही करनी पडेगी, वरना स्वार्थ का दायरा बढेगा नही, क्षमता पाने के लिए किसी भी नीति या आदर्श की बलि देना यथेष्ट नही है, जो जरूरत पडी किया जायेगा, उसी प्रकार फिर क्षमता को जकड रखने के लिए भी फ़साद, चिन्ता, ठगाई, घूस, झूठ, शत्रुओ का दमन, मित्रों से छल और मित्रो का सर्वनाश,

यहाँ तक कि जरूरत पड़ी तो उनकी हत्या तक। आदमी के मन में मानो यही एक चिन्ता है, बस घर-घर में परिवार छिन्न-भिन्न; और वे विशाल-विशाल हवेलियाँ नहीं दिखायी पड़ती। गाँव में अपने-अपने अलग-अलग गुट। एक-एक छोटी-छोटी बात पर दल गढना, केवल सामयिक सुविधा पाने के लिए दल बढ़ाकर छीना-झपटी करना। और फिर उस दल की एकता भी दो दिन की होती। इस दल के लोग दूसरे दल में मिलेंगे, चल पड़ा आया राम-गया राम का सिलसिला, और नये-नये दल। कोई दल अन्तिम नहीं, कोई फ़ैसला आख़िरी नहीं, कोई अवस्था स्थिर नहीं, सामाजिक अस्थिरता के समुद्र से निकल रहे हैं असंख्य बुलबुलों की तरह नाना रंग, नाना प्रकार के दो दिन टिकाऊ दल। गुट टूट रहे हैं, बदल रहे हैं, फिर नया रूप लेकर गढ़े जा रहे हैं दुबारा फिर तोड़ने के लिए। स्वार्थ और हिंसा का विष जिनकी नस-नस में फैला हुआ है, जिसकी प्रवृत्ति ही क्षमता हासिल करने की है, चारों ओर से जुटा-जुटूकर लाकर अपने मुँह के पास जमा करने की है, जिसका मार्ग केवल भोग का है—त्याग से बहुत दूर, जिसका उपाय ही शोषण, दमन, दूसरों की रुचि, विचार और दृष्टिकोण की स्वाधीनता का भी अपहरण कर उन्हें अपने मत में पिछलगू या सहायक मशीन में परिणत करना है, जो अपने मतलब की सार्थकता के लिए बहुरूपिया बन सकता है, मायावी हो सकता है, उपाय या उपादान की पवित्रता-अपवित्रता को लेकर मगज-पच्ची करता नहीं, वह क्या आदर्श दिखायेगा? क्या परम्परा, कैसे उत्तराधिकारी पैदा करेगा? कैसी शान्ति की स्थापना होगी? सम्मान और विश्वास किसका कितने दिन के लिए प्राप्त करेगा? कोई डर-भय से उसे भला-भला कहेंगे, स्तुति करेंगे, साथ देंगे, कोई पार्टी थामेंगे अपने स्वार्थ के लिए, परन्तु छल की प्रतिक्रिया होगी छल, कपट-की-कपट, लगी हुई खींचा-तानी की उठा-पटक, छीना-झपटी, धर-पकड़। आदमी झोपड़ी में रहे, महल में रहे, लँगोटी बाँधे या पोशाक पहने, घर में अण्डी के तेल का दीया जलाये या नीयन की बत्ती, पैदल चले या हवाई जहाज से उड़े, नीति-आदर्श डुबो देने पर व्यक्ति हो या समाज वह सिर्फ़ तूफ़ान में नाव की तरह है, उसे शान्ति नहीं, चैन नहीं, अभाव नहीं, आनन्द नहीं। वे लोग ख़ुद अपने लिए आतंक और दुनिया-भर के लोगों के लिए भी आतंक हैं!

यही बात तो कहते थे महात्माजी!

पर सुनी किसने?

वहीं कुचला के पेड़ तले दूर देखते खड़े-खड़े आरत पण्डा मानो पत्थर बन गये हैं। बारम्बार मन-ही-मन कितनी आलोचना हो चुकी है उन बातों की, गाँव की

माटी पर पैर रखते ही स्वतः याद आ जाती है। तब कितना उत्साह, कितना उन्माद था! आँखों के आगे कैसा सपना झूल गया था! और फिर देखते-ही-देखते समय बदल गया!

और कई तरह की युक्तियो से लोग अपने परिवर्तन की यथार्थता बखानने लगे। कुछ ने कहा—परिस्थिति बदल गयी है, पुरानी नीति, आदर्श को जकड़े रहने से कोई लाभ नही, समय और परिस्थिति के मेल खाने लायक अपने विचारों को भी बदले बिना हम पीछे पड जायेंगे, और लोग रौंदते आगे बढ जायेंगे। कुछेक ने कहा—नारे लगाने, भाषण देने, जुलूस निकालने के समय की बात और है, अपने कन्धे पर जुआ वहन कर खीचने के समय और। ऋषियो का आदर्श पकडने पर फल-मूल खाकर पर्णकुटी में रहने के लिए वन में चला जाना पड़ेगा, मशीनीकरण से जटिल बीसवी शताब्दी मे उन सारे उपायों से दुनिया नही चल सकेगी। कइयो ने कहा—जो क्षत्रिय वृत्ति करेगा, वह ब्राह्मण का आदर्श मानेगा तो चल नही सकेगा। तेज़ बुद्धि से बनी संसारी बातें। वो तो आदर्श की बातें नही है, सहज रास्ते, सुविधा और दुनियादारी में सफलता की बातें, नीति की बातें तो नही। ठेठ आदिम मानव मे भी थी खाने, भोग करने के अलावा और कुछ सूक्ष्मतर चेतना। सभ्यता का अर्थ क्या स्वयं मे उसे भी अस्वीकार करना है?

हवाई जहाज में बैठकर कुत्ते-चूहे भी उड़े। धरती का आकाश पार कर ग्रह-उपग्रहोंवाले महाशून्य में उनकी देह घूम-घूमकर धरती पर लौटी, पर उससे उनके विचार या आत्मा का क्या परिवर्तन हुआ?

कुत्ता कुत्ता ही रहा, चूहा चूहा ही।

जड विज्ञान, यन्त्र और कारीगरी आदमी की ऐन्द्रिक भूख मिटा सकेंगे, परन्तु उसके मन के अन्दर का अभाव वे नही मिटा सकेंगे। केवल चीज़ों का उत्पादन बढने, सुख-स्वाच्छन्द्य के लिए उपकरण बढने से उसके मन में स्नेह-सौहार्द, शान्ति, आनन्द, नीति, आदर्श नही बढता। आदमी की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति और उसके अनुरूप और सहायक होने की तरह समाज का सगठन और आभिमुख्य गढना हो तो उसके लिए निष्ठावान् बनकर कार्य करना पड़ेगा। उसी उद्देश्य से विज्ञान को भी आदमी कार्य मे लगाता, ताकि लोहे का कोई खाण्डा न बनाकर हल की फाल बनाता। शुरू से यही परिकल्पना तो थी।

अटक गया। चले—आरत पण्डा ने सोचा—इधर यह पगडण्डी, बैठने पर जड़ फैलेगी, फिर मेरा घर, मेरी बाड़ी, मेरा मित्र, मेरा दल, एक घर छोडकर चले आने पर कही दूसरा घर। हो सकता है वह और बड़ा हो, और मज़बूत हो।

जैसे कार्यकर्ता हरिदास है: ऊँची डाक्टरी पढ़ते-पढ़ते पास करने को बस आख़िरी परीक्षा बाकी थी कि कानो मे पड़ी देश की पुकार—बस, पढ़ाई छोड़कर वह निकले। बार-बार जेल गये, पिछली बार जेल मे एक साथ थे वे और आरत

पण्डा। लाठी, गोली की मार खाये लोगों की चिकित्सा करते-करते हाथ में यश है—नाम हो गया, नाना रोगी आये, घर ही मानो अस्पताल बन गया। पूँजी भी हो जाती, मन करता तो मोटी रकम जमा भी हो जाती, गण्य-मान्यों की सूची में हरिदास भी एक हो सकता था। परन्तु युवक हरिदास मे तब पवित्र होमाग्नि जल रही थी। जब बडे शहर मे इतनी ख्याति फैल रही थी, तब वे सब-कुछ छोड़-छाड़कर वन प्रदेश की ओर चल पडे, पहाडों मे घूम-फिर आदिमवासी भाई-बहनो की सेवा करने, क्षय और कुष्ट पीडितों की चिकित्सा करने। वे त्यागी हरिदास, तपस्वी हरिदास।

बाद मे कैसे हुआ उनमें यह परिवर्तन ? ऐसे होता कैसे है ? कन्ध गाँव मे जो छोटी-सी झोपडी उनका आश्रय-स्थल या आश्रम था, धीरे-धीरे उसी की श्रीवृद्धि में मानो उन्होने अधिक-से-अधिक ध्यान लगाया। आँगन मे सीमेण्ट बिछी, दीवारें ईंट की बनी। पिछवाड़े मे बगीचा हुआ। पहाड की ढलान मे उनका अरहर का खेत बना। मुर्गा पालना और हंस पालना शुरू हुआ। आश्रमघर के पिछवाडे चबूतरे पर छान से भीगी साडी झूलकर सूखी, गुहाल मे गाय रँभाने लगी। बरामदे के नीचे घना सूर्यमुखी मिरच के पौधे, उनपर मुट्ठी-की-मुट्ठी लम्बी-लम्बी कच्ची मिरच लगी हुई। केले के झाडो से छोटा-मोटा वन ही हो गया। पालतू बिल्ली ने म्याऊँ की, पलतू कुत्ते ने पहरा दिया, घर के फ़र्श पर फ़सल भरकर रखी गयी टोकरी, ओवरी, बोरे। छीके मे रहे कुम्हड़े और कद्दू झूलकर, वह बना एक स्वस्थ, सफल चासी का घर। अघोरी, तपस्वी, कर्मी हरिदास का व्यक्तित्व उन्ही सबमें कही छुप गया !

बाद मे लुढकते गये और एक सीढी नीचे। लोहा-सीमेण्ट या कपडा-चीनी का काला-बाजार करने की सुविधा न थी, परन्तु मगसिर महीने मे कन्धो से खरीदा धान, मण्डिया आषाढ-श्रावण मे उन्हे ही बाढी लगाकर ड्योढे मे ब्याज पाने का अपना सुयोग क्यो छोड़ने, पूरी मात्रा मे सुविधा उठायी, बिना तय किये दर पर रुपये उधार दे फिर उनके बदले बेगार करवाने के लिए उन्हे टहलुए मिल गये। प्रकाश्य राजनीति मे न घुसने पर भी वे, उसी कन्ध गाँव मे दो तरफ़ के घरो मे कलह लगा, दोनों दलो को कब्ज़े मे रख गाँव के मामलातकार बने। अब वे कार्यकर्ता हरिदास नही, सेठ हरिदासजी है, टाउटर हरिदास है। आस-पास के गाँव-गली मे लन्द-फन्द, कलह-झगड़े, मुकदमेबाजी—सबमे उनका हाथ होता। किसी दिन उनके पुराने साथी उन्हे सचमुच जैसे 'पलाशपत्रदह' कर चुके है। जहाँ वे एक दिन सम्मानित और आदृत हुए थे, वहाँ अब घृण्य है। फिर भी वही आदमी तो है वे। वही चेहरा-मोहरा, वही चाल !

वो हरिदास और ये हरिदास ! सोचा भी नही जा सकता। देह काँप उठती है। आँखों के आगे तैर गयी एक-एक कर सारी छवियाँ। कितने प्रकार की—

कैसी-कैसी। जो देह भूख-प्यास को गौरव मानती थी वह फिर खोजने लगी विलास। जो व्यक्तित्व निर्यातन-अत्याचार में तपकर खालिस सोने की तरह चमक उठा था—प्रणाम, खुशामद, भेंट-मिलन, फूल-माला आदि में डूबकर वह हो गया खोखला, गन्दा, दुर्बल, लडखडाता, सिर्फ ढेले या लग्गी का निशाना !

हो सकता है, युवक हरिदास सचमुच व्रतधारी नहीं हुए थे, उनकी देह या मन तपस्या में डूबा न था, किशोरपन की भाव-प्रवणता ने सामयिक विराट् आह्वान में भभककर उन्हें कुछ दिन के लिए अपने अन्दर से धकेल दिया था महान् आदर्शवाद के बहाव में, साधारण आदमी की आँखों में देवता बन कार्य करने के लिए। अपने अन्दर की आग शीतल हो गयी, चला कुछ दिन तक देवता-देवता का अभिनय, बाद में उसमें क्लान्ति आ गयी, कपूर उड गया—कपूर की महक भी उड़ गयी, बाद में खाली रूमाल। लोभ-मोह-दुर्बल मन मामूली-सा आदमी, वह भी अभिमान कर कहता, "मुझसे तुम क्यों यह आशा करते हो कि मैं देवता बना रहूँगा ? तुम क्यों स्वयं देवता बनते नहीं ?"

परन्तु ?—

सोचते-सोचते उसी कगार पर पहुँच दूर देखते हुए आरत पण्डा मानो अस्थिर हो रहे हैं। हृदय में कचोट-सी होने लगती है।

जो आदर्श तब उन हरिदास की चेतना को आच्छन्न किये था, उनके मुँह को भाषा दी थी, उनके हाथों कार्य करवाया था, सारी विपदों का सामना करने के लिए बार-बार उन्हें खींच लिया था आराम की अवस्था से खाली उजाड की तरफ, क्या वह झूठ है ? दीप बेकार हो गया। बत्ती नहीं, तेल नहीं, अतः जो दीप एक दिन दप-दप जल रहा था वह आज बुझ गया है। चिलिका के कूल पर दीपदाण्डिया पहाड़[1] पर अब वह विराट् दीप नहीं जलता। तो भी आज रोशनी खो नहीं गयी है। आदमी के अन्तर में जो सद्विचार अब भी झकमका उठता है, एक दिन फिर वह बढ जायेगा, बिन्दु-बिन्दु आलोक एकत्र होकर बन जायेगा आलोक का झरना, युग बीत सकता है, एक देह, एक उम्र, समय के अनन्त प्रवाह में परम्परा की धारा में वह कितनी बार उगकर अस्त होता होगा, परन्तु शेष में यह मानव-जाति पूर्णता पायेगी, अँधेरा हारेगा, प्रकाश जीतेगा।

जेल से लौट, आँखों को दिखता हो ऐसे कर्मक्षेत्र से हटकर जब कि बिना नाम के जीवन को अपनाकर अपने विवेक और विचार के अनुसार जीवन बिताते-बिताते घूमते रहे इतने साल। तब अपनी परीक्षा कर चिन्तनधारा को सँवारते समय

---

१. दीपदाण्डिया पहाड—जगन्नाथ मन्दिर (पुरी) के शिखरबन्ध पर कुछ विशिष्ट पर्वों पर विशाल दीप जलाते हैं। चिलिका के 'दीपदाण्डिया पहाडों' की चोटी पर भी उस समय विशाल दीप जलाते थे कि पुरी मन्दिर के शिखरबन्ध से इतनी मील दूर होने पर भी दिख जाया करता था।

आख़िर में यह विचार मन मे आया था बारम्बार, यह विश्वास जीवन-साथी बन-कर रहा, अब भी है ।

आरत पण्डा सोच रहे थे—विपद् को पहचानना जरूरी है कार्यकर्ता के लिए । तीर्थ कर आये, और भात पका, खाकर हाण्डी वही पटक आने की विधि है, अब मेरा-मेरा कहकर यह सचय करने को मन, अपने लिए सचय करने का मन । अपने लिए सचय करते-करते हिंसा, द्वेष, बढता जायेगा, फिर रोका नही जा सकेगा ।

पैर चल पडे । फिर रास्ता ।

गाँव के झुरमुटो के किनारे-किनारे, नदी के तटबन्ध के सहारे-सहारे । गाढा नीला हो दपदपाती धूप मे पानी कितना सुन्दर दिख रहा है । कटे हुए पोड-पिठऊ के रग की भीत पर केलो का झुरमुट और उसके बीच पुआल की छावनी से बनी सुनहली छात, हरे और नीले रग के हलके सघन विभिन्न रगो के विभिन्न पेड-पौधों की शोभा, उसी के सहारे-सहारे मानो उनका अपना प्रिय विचार और धारणाएँ शोभा-बहुल होकर सजे है, तटबन्ध के सहारे जामुन में लाल कोपलें खिल गयी है, जगह-जगह घने हरे किशोर पेड के सिर पर रखे होने की तरह एक-एक लाल पत्ता । इन्ही से क्या कभी किशोर कृष्ण की परिकल्पना की थी कवि ने ?

सचमुच जैसे वासन्ती रास चल रहा है । भरी दुपहरी, नदी के किनारे-किनारे, कछार मे, रास्ते मे, सब जगह । नीचे देखने पर बरुनी की तरह नन्ही-नन्ही लताएँ, सब्ज, बैंजनी, नीली, धीमी हवा मे डुलकती-सी, नाचती-सी । नन्हे-नन्हे नाको पर रग-बिरगे फूलो का थिरकता कर्ण-महोच्छव । वहाँ भी कितनी प्रकार की रंग-बिरगी छोटी-छोटी तितलियाँ । ऊपर की ओर देखने पर सिर्फ जामुन ही नही, ललवाँस कोया और हलके तोतई पत्तो से सजा-धजा छरहरी किशोरी की तरह नीम का पेड भी खडा है । बीच-बीच मे पलास के पत्ते दिखायी नही पड़ते, बित्ते-बित्ते-भर मे बड़े-बड़े रक्तिम लाल फूल, लाल-सब्ज कलियाँ बाँकी-टेढी सफेद डाल पर गुँथे होने की तरह लदे है सारे पेड पर, मानो पेड़ लाल होकर जल उठा है । पेड से निकलकर लाल धांस चारो ओर छिटक रही है । लगता है जैसे ये सब फूल न हो, लाल-लाल चिड़ियाँ है जो वसन्त के महोत्सव मे शामिल होने यहाँ एकत्रित हुई है, सफ़ेद डाल को चोच मे दबाये थिरक-थिरककर झूल रही हैं पास-पास सटकर ।

बरोहें लटकाकर विराट्-विराट् खम्भो पर कितनी ऊँची विराट् सब्ज छात टेकें जगह-जगह जो बरगद किस पीढी से खडे है, कोई बीघा कोई दस बीघा जमीन घेरे, घर की तरह वहाँ है, वहाँ नये पत्ते नयी बरोहें निकलकर नया स्थापत्य खिल रहा है । नदी के किनारे-किनारे इस तरह घर की तरह कितने ही बरगद, किसी के तने मे सिन्दूर लगाकर ठाकुरजी बैठे है, कही पत्थर की कारीगरी से पूर्ण ठाकुर-जी के भग्नाश एकत्र जमा किये गये हैं, और देवस्थान बनाया गया है, और कही

पर कोई दूसरी मूर्ति पड़ी है। यही जैसे—

रास्ते के किनारे नरसिंगो गाँव का बरगद—बारह एकड़ जमीन घेरे चौवालीस मोथों पर खड़ा विशाल बरगद, उसके नीचे हनुमानजी की मूर्ति। एक के बाद एक गाँव लगे हुए हैं, तटबन्ध के सहारे-सहारे, फिर खेतों के उस पार, नदी के उस ओर, धुंधले वनों की ओट में। फीते की तरह पतली पगडण्डी, और बैलगाडी की लीक ताजा दिख रही है। रास्ता और उगाये गये पेड़ और खेत, कछार, सब याद करा देता है आदमी और उसके समाज को।

ये दिख रहा है गाँव का समूचा रूप। कोई आडम्बर नहीं, घूरकर देखने लायक कोई सज्जा नहीं। वह आदमी अपने को बड़ा मानता नहीं या दूसरे को बड़ा समझता नहीं। बड़ा सिर्फ ठाकुरजी को समझता है, जो इस सृष्टि के हेतु हैं, आधार हैं। कितनी नीति, आदर्श लेकर आदमी यहाँ स्वच्छन्द जीवन बिता निश्चिन्त हुआ है। गुण में भला होने का यहाँ नियम है, इसके लिए कोई नाम नहीं खोजता, उससे बाहर होने पर बात चलती है।

परन्तु इतने युग की नीतिमत्ता होकर भी यह क्या हुआ? एक-दूसरे का शोषण करता है। स्नेह-प्रीति डूब गये, लामलाती चलन समाप्त हो गया, टाउटरी बढ़ गयी। लोग दूसरों को क्या देंगे, अपने बाप-भाइयों को भी दो मुट्ठी देने में हिचकने लगे। पुरानी जाति-भेद की बात ढीली हुई तो नये धन का भेद-भाव शुरू हुआ। जमींदार-मुकद्दम गये तो आये धन या क्षमतावान् लोग, औरों के झुण्ड को काबू में रखने। नये-नये तरीके निकले। गाँव का चेहरा बचा है, वरना अपने पैरों खुद, कोई किसी को न पूछता है न कहता है, समूह-कल्याण की बात—सर्वे भवन्तु सुखिन:—सिर्फ मन्त्र पढ़ते समय के लिए रह गया है। आदमी की दृष्टि में एकमात्र प्रश्न बचा है—कि इससे कितने पैसे मिल सकते हैं? अतः स्नेह का नाता उड़ ही गया, लोग परायों की क्या मदद करेंगे, अपने बाप-भाइयों को मुट्ठी-भर दाने देने में भी पीछे हट रहे हैं। परिवार कहने पर बस स्वामी, स्त्री और बाल-बच्चे। जिन्होंने पढ़ाई की, उन्होंने गाँव छोड़ा। गाँव में जो रहे वे आपस में लड़ने-झगड़ने में रहे, मुकदमा-कचहरी में लगे, गाँव शहर को भी टप गया। सबों ने दोष दिया। फिर सबने कहा, ये तो होने की बात, अब अवस्था बदली है, भाव बढ़े हैं, मशीन कारीगरी का जमाना आ गया, कृषि-युग के समाज में जो नीति और अभ्यास थे, औद्योगिक समाज का चलन सबसे भिन्न है, अतः पुराने जमाने की दुहाई न देकर आदमी को चिन्ता करनी चाहिए कि इस नये युग के अनुसार सुख-सुविधा कैसे बढ़ेगी; अर्थात् आदमी सिर्फ अपने हित की बात सोचे ताकि उसका रोजगार बढ़े, स्वास्थ्य-सुविधा-विद्या बढ़े, चलन की रूप-गति बढ़े।

पर आरत पण्डा का मन नहीं माना। वे कल-कारखानों या मशीन के विरोधी न थे, वे सोच रहे थे कि आदमी ने कच्ची चीजें खाने के बजाय आग का प्रयोग

जान रसोई बनाकर खाना सीखा, यह भी उद्योग की विजय है, पेड़ से चुगकर लाने की बजाय ज़मीन में हल चलाकर अन्न उपजाया—यह भी तो विज्ञान है, खेती करना भी विज्ञान है, बुद्धि लगाकर विज्ञान का सहारा लेकर मानव-जाति असभ्य से सभ्य बनी है, सभ्यतर हुई है।

जो मशीन आदमी के देह-कष्ट को कम करती है, सुख-सुविधा बढ़ाने में सहायता करती है, वह तो ज़रूरी है। परन्तु वे ये भी सोच रहे थे कि कल-कारखाने, विज्ञान स्वयं देवता नहीं या नीति नहीं। आदमी को सहायता देने के लिए उनकी उत्पत्ति, आदमी के हृदय में स्नेह-प्रीति दया-शान्ति-आनन्द को अटूट रखकर उसके उचित व्यवहार करने की ज़रूरत है; आदमी को कर्कश निष्ठुर स्वार्थी असामाजिक अमानवीय कर गढ़ने के लिए नहीं। वे सोच रहे थे, झोंपड़ी तोड़ मकान बनाने में दोष नहीं है, अतः अधिक-से-अधिक हों, परन्तु मकानों की सुविधा गाँव के सब लोगों को मिलनी चाहिए, केवल एक-दो को ही नहीं। और उन पक्के मकान में रहने पर भी आदमी में उचित स्नेह, प्रीति, नीति और आदर्श रहना चाहिए, सुख-दुख में साथी हों, एक साथ मेहनत करें, बाँट-बूँटकर खायें, अपने स्वार्थ को भुलाकर पहले औरों के हित की सोचें, सचाई से चलें।

वरन् वे जेल से लौटकर देख रहे थे समाज में पुराना रोग और भी ज़ोर पकड़ गया है, अथच जो उत्साह-उद्दीपना नये युग के सपने को निकट लायी थी, वह नहीं है। और इतने दिन बाद वे फिर गाँव लौट रहे हैं एक बड़ी आशा लेकर —विचार बदल रहा है। दायरा जो भी हो, नया विचार वहाँ दिखायी पड़ रहा है। मालभूमि में खूब पुराने चम्पा के पेड़ पर फूल खिलने पर जैसे दूर-दूर तक सुगन्ध फैल जाती है, वैसे ही उसकी सुगन्ध उन्हें खींच लायी है।

कल भी रात में यही बात सोच रहे थे, जब चिकने काले तारों-भरे आकाश तले ऊपर की ओर मुँह किये मैदान में चित लेटे स्वयं को इस सृष्टि के साथ सम्पूर्ण रूप से मिला देने की चेष्टा कर रहे थे। बहुत वर्षों की आदत, वो ही युगों पहले की बात, जब उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि देश स्वाधीन न होने तक वे कुछ विशेष नीतियाँ मानकर चलेंगे। उनमें एक नीति यह भी थी कि वर्षा अथवा हाड़ कँपाते जाड़े को छोड़कर वे हरदम रात के समय खुले में धोती बिछाकर ही सोयेंगे। घर के अन्दर नहीं, या चबूतरे पर नहीं। जहाँ तक सम्भव हो, लोगों के घर-बार से दूर किसी उजाड़ में। नीचे धरती माता ऊपर आकाश, सर्वत्र इसी समन्वय के बीच अटल विश्वास एवं अविचल भरोसा लिये वे रात में अपनी देह को भी अपने स्रष्टा के निमित्त निवेदन कर देते, जब दूसरे दिन भोरे-भोरे नींद टूटती, वे यही अनुभव करते उठते—"मैं स्वेच्छा से या अपने लिए नहीं उठता। उठ रहा हूँ उन्हीं की इच्छा से, उन्हीं का कार्य करने के लिए।"

कल साँझ ढल गयी थी तटबन्ध के पासवाले मशान पर। तटबन्ध के उस ओर

ढलवाँ रास्ता चला गया है कछार की ओर, पास ही एक छोटी-सी तलैया थोड़ी-सी खानी डीह, पास ही आठ-दस पेडो का बगीचा, कुछ हटकर अहीरों का एक घर। साँझ को किनी अहीर ने आकर 'वावाजी' समझ 'पालागन' कही थी, औटाया हुआ दूध कटोरा-भर श्रद्धा से पिलाकर आशीष ले गया था। उसके तीन-तीन बेटों के मरने के बाद एक ही बेटा जीया था, उस बेटे का तीन बरस का एक लडका, देह मे कुछ जाता ही नही, कृमि दोष है, रात मे दांत किटकिटाता है, इधर दाँतो मे कीड़े काटते है। उसी बच्चे के लिए उसे आशीष चाहिए, अपने लिए नही।

"भगवान् मगल करेंगे, वेहेरा भाई, आदमी क्या चीज है।"

बस! प्रसन्नता से भरी दृष्टि थोडी-सी। वेहेरा गद्‌गद हो गया, कृतकृत्य होकर प्रणाम कर कितनी खबरें सुना गया।

वे कह रहे थे कि यह निरबसिया डीह है। पहले इसपर चकर पधान का घर था। चकर-शकर घर-द्वार देखते थे, फिर कितनी से कितनी बढ गयी खेती। गाँव-भर की सारी जमीन मानो उन्हीकी हो। जमीन बढते-बढते जा टकराई शहर के किसी की जमीन के साथ, बस घर मे आया विरामहीन मुकद्दमा। बाद मे हैजा आया और घर के सब चले गये। बूढा चकर पधान बचा। कितना रोया, कितना तड़पा, फिर भी चीमड़ जीवन छूटा नही। चार बरस घसीटे, फिर चले गये। चकर पधान के इस डीह को धुरवा हलवाई ने खरीदा। धुरवा हलवाई का घर भी निरवस हो गया। वेटी थी सो परायी हो गयी। और कोई नही।

आरत पण्डा रात मे वही धरती पर लम्बे पसरे पडे रहे तो याद आया कि पीठ तले ये जो माटी है, वहाँ कोमल शिशु जनम लेकर सोये होंगे। कितने गू-मूत, जूठन, पान की पीक भी यही पड़ी होगी, इसी डीह की माटी पर आदमी की गृहस्थी, यहाँ कितने प्रकार का सम्पर्कमय स्पर्श। बाद मे घर की डीह समतल हुई, बरसा ने कूटा, हवा उडा ले गयी, चौरस हो अब सुन्दर घास का मैदान है। कभी यहाँ सोये-सोये धुरवा हलवाई सोचता होगा कि यह उनका पूर्वादिकाल का घर, यहाँ उन्होंने स्वय जैसे जीवन बिता दिया वैसे हँस-खेल जायें उनके भविष्य की पीढी-पर-पीढी उत्तराधिकारी लोग; उनके वश की डोर अटूट रहे, अचल लक्ष्मी वास करें इस घर मे। शायद यही इसी जगह कितने ब्राह्मणो को भोजन कराया होगा, यहीं तो होम करवाया था। चमचमाती दोपहर मे कितनी ही बार यही अलसाया लेटा पड़ा धुरुव पधान अपने लगाये हुए नारियल के पेडों और तब के उगे बगीचे को देखते होंगे, सोच रहे होंगे कि सहेजकर रखे गये धन की तरह धरती की तरह ये भी उन्ही के बाल-बच्चों के काम आयेंगे, वे ही इन्हे भोगेंगे, और कोई नही—बाद मे चकर पधान, शकर पधान ने भी ठीक इसी तरह सोचा होगा।

चूल्हे पर भात की हण्डी चढी खद-बद खद-बद उबल रही होगी···मानो कि वह शब्द सुनाई पड रहा है। बच्चे दुम-दाम उछलते-कूदते होंगे। घर कितने मच्छर, छज्जे के तले कितने चमगादड, भीत मे कितने खटमल। झमझम करती झांझरें, भीनी-भीनी महक, पिछवाड़े में चम्पा के फूल, पोखरी में नन्ही-नन्ही भांवरें, कल-छल आवाज। आदमी ने कितने सम्पर्क छूटे-जोड़े थे, सहेजे थे। सब पोछकर चला गया। कही गुम हो गया। अब वन बढकर फैल गया है ऊपर, और कही वन माफ कर गांव बस गया है। सचमुच जैसे शून्य मे सब उत्पन्न होता है, शून्य मे सब मिल जाता है। ऊपर काला स्याह आकाश, टिमटिमाते तारे, तब भी थे, वैसे ही अब भी है।

वैसे ही, कल रात मे जुगनू उड रहे थे। सरसराता कब कोई जन्तु चला गया, कभी दौडने की-सी आहट, कभी रुक-रुककर जाने की तरह। सियार भूंका। घास मे से आहिस्ते-आहिस्ते कितने प्राणियो की आवाज पहचान में आ रही है। कान लगाते-लगाते सारी आवाजें एक साथ मिलकर रात की 'झांय-झांय' के बीच कितने सुन्दर सूक्ष्म सगीत की झकार की सृष्टि कर रहे हैं। हवा मे घास एव आलतू-फालतू पौधो की खस-खस मिल जाती है और मिलती है बगीचे के घने पेडो के पत्तो की मर्मर, झींगर की झीं-झीं के साथ अनेक प्राणियो की आवाज। उधर गांव के लोगो की सांस की आवाज भी रात की ही आवाज में कहीं मिल गयी थी। नीद मे आँखें मीच लेने से पूर्व झक् से कोई नयी चेतना उनके व्यक्तित्व का आश्रय ले चुकी थी। उन्होंने सोचा कि वे उलटे महाशून्य पर ही सहारा लिये सोये है, पीछे की ओर माटी कसकर पकडे है, इसी का नाम है माटी की माया, और सब तरफ महाशून्य। मानो वे समुद्र पर औंधे लेटे हुए है। पीठ की ओर से कोई खीचकर पकड़ रहा है किसी नाव से। समय आयेगा जब माटी उनके देह की मिट्टी को अपने साथ मिला लेगी, और जो कुछ है वह सब उस शून्य मे ही मिल जायेगा। होता आया है, होगा ही।

—'मैं-पन' का भेद, सचय, शोषण, स्वार्थ, निष्ठुरता, बडप्पन की डीग, और मोह—सब मिल-जुलकर एक करुण इतिहास।—वे सोच रहे थे।

कल रात मे ही बाद मे उन्होंने असीम आकाश के साथ चेतना मे समन्वय चाहा था। अब वह नही है, चारों ओर सीमाबद्ध आदमी की परम्परा है। तपती धूप मे धू-धू करती हवा। समय को नापना उन्होने किसी जमाने से छोड़ दिया है, घड़ी के साथ उनकी पटती नही। कोई कहता दिन के दो बजे है—परन्तु मन की उत्सुकता मे लगता यह तो भोर है। आगे बाउरी-बस्ती है, उसके उधर तो फूलशरा है। हवा मे मानो आदमियों की बातें तैर आती है, जैसे कभी किसी ने कुछ कहा था, वही बात फैल रही है। धूप और हवा मे जिसके तोतई नये-नये पत्ते रोशनी छिडक-छिड़ककर झटक रहे हैं, उस विशाल पीपल पर भी आदमियो

का ही स्पर्श और स्मृति है। उसके नीचे कितने लोग बैठे होंगे, गये होंगे। नदी की वालू सूनी जरूर पडी है, धूप का ताव वहाँ आग की घास की तरह नाच रहा है, परन्तु उसी बालू मे धार की धार असख्य पद-चिह्न पड़े होंगे। आँखो से न दिखने पर भी पहचान मे आ रहे है, धोती-धोती मे गाँठ बाँधी है और वे फर-फर उड़ रही हैं, पताका की तरह थामे लौट रहे हैं दल। यह जो वीरान-सा दिख रहा है कछार वहीं झुककर काम मे जुटे रहते, नरसों घनी-घनी बढ़ती, फूल खिलाती, गोल-गोल ऊपर उठते तम्बाखू के पौधे घने सब्ज रगवाले। छोटी-छोटी पुआल से छायी गयी झोपडियाँ मेढक के बैठने की तरह तैयार होती, चारो ओर घीया-कद्दू, बैंगन, मिरच के पौधे मिल-जुलकर घना-गहरा वन जाता।

थकते नहीं पैर, वे चल रहे है।

इतनी धूप मे कोई न आये उनके पास, वे स्वय सबके पास है। माँ के पास बच्चा लेटा-लेटा दूध पीता होगा, घर-भर के लोगों के लिए काम करते-करते थककर घरनी चटाई पर लेटी होगी। किताब पढते-पढते किताब पर गाल टिकाये मुंह 'आँ' किये खर्राटे लेती होगी।

जैसे पद्म-पोखरी महकती है, बकुल के फूल महक उठते है, वैसे ही आदमी की चेतना मे कोई महक है सचमुच—उन्होंने सोचा। अतः आदमी की महक आदमी के नाक मे पडती है। आह! बाउरी-बस्ती के रास्ते पर वे चल पड़े। किसी के घर के सहारे वडी बकरी बँधी थी, उन्हें देखकर मिमिया उठी। छोटे-छोटे नग-धड़ग बच्चे उन्हें देख भाग गये।

फूलशरा के पास बाउरी-बस्ती। पहचानी-पहचानी-सी लग रही है। यह क्या वही बाउरी-बस्ती है? फिर कहाँ गया वह सब? इस बाउरी-बस्ती के उस युग के हस्ताक्षर? टूटे-फूटे झोंपड़े, भीत से छान तक झरे हुए लेप, झाँटी, केवड़े की फुनगी, टूटी तलई, फटी चटाई दबी छान के किसी छेद मे टूटी टोकरी ठूँस दी गयी है, तो किसी और छेद में सूखे कद्दू की बेल ख्‌ुद जाली बना रही है। बाहर घर के चारों ओर कूड़े-करकट का ढेर, कही घोंघे के खोल, तो उधर गोवर, गन्दगी। छाजन मे पूर-के-पूर मैले फटे-पुराने चीथड़े। फुरफुराते रूखे बालोवाले आदमी, जीविका के लिए पराये घर घर को बाडी-पिछवाडी ठीक रखते-रखते अपने लिए समय ही नहीं रहता, दूसरों की दया की आस मे रहते-रहते चेहरे के साथ जुड़-सा गया दास्यभाव, उदासी, विषण्णता। मजूरनी स्त्रियाँ, हाथ मे मोटे गिलट के कगन, बिन पोंछे, मैले-गन्दे नग-धड़ग बच्चे, फरफराते सिर मे कुलबुलाती लीख-जूँएँ!…

वह दृश्य बदल गया है! सब जगह मजबूत भीतें, सोने की तरह चिकनाते नयी छपरायी छान। चबूतरा चिकना लिपा-पुता, और चबूतरे से मोने चोरस बनाया गया, ऊबड़-खाबड़ कही नही। भीत पर सब ओर अल्पना अकित है, धान के पौधे, आदमी, चिडियाँ, लता-फूलो के चित्र। घर-बार, रास्ता सब साफ़-सुथरा,

कतार मे छोटे-छोटे नारियल के गाछ उगाये हुए। पक्की बाड के घेरे के उस ओर पिछवाड़े का बगीचा, स्वस्थ पेड़-पौधे, गुहाल भी साफ़-स्वच्छ, वहाँ कतार में गायें बाँधने के खूँटे। कहीं हृष्टपुष्ट बैलों की जोडियाँ छाया तले बँधी विश्राम ले रही है।

बीच मे खुला-खुला कमरा, उस घर से पुराण पढने की आवाज आ रही है। चारों ओर घने कनेर के गाछ बढ गये हैं, घेरा लगाये हैं, छाया किये हैं। घरो मे आगे जगह-जगह छान से बँधी जो साडियाँ सूख रही हैं, वे सब रग-रग की देशी साडियाँ है। जगह-जगह चबूतरे पर जो आदमी बैठे है वे साफ़-सुथरे हैं, साफ़ धोती पहने है, बच्चे भी साफ़-सुथरे, सिर के बालो मे कघी की हुई है। जूठा वरतन माँजने बाउरानियाँ वस्ती के उस सिरे पर नही गयी, बीच आँगन मे—धोने नही बैठी है। बाउरी-वस्ती मे साधारणतया जो हाव-हाव लगी रहती थी, यहाँ उसका लवलेश भी नही। उलटे मानो यहाँ इस छाया तले शान्ति विराज रही है। सबमे सयम है, श्री है।

स्वयं खिंचे जाने की तरह चल पडे वे खुली कोठरी की ओर। आधी दीवार घूम गयी है, दो कतार मे तीसेक लोग फर्श पर बैठे है। खुले के उस तरफ़ एक छोटी-सी कोठरी है; उसी कोठरी में कई ताड-पत्र की पोथियों की गद्दी है, वहाँ कोई बूढा एक ताड-पोथी पढ रहा है। महाभारत पढी जा रही है।

उन्हे देखकर अचानक चचलता फैल गयी।

"आज अहोभाग्य !···पधारिए बाबाजी महाराज !"

"प्रणाम बाबाजी"···"दण्डवत् बाबाजी !"

"पाटे पर चरण रखें, महाराज। ताकि चरण पखारें।"

"जा तो हमारे घर से बिछावन तो लेती आना, री बेटी !"

"गुड़ का पना लेते आना। देखो, दही मिलाकर।"

पाँव धुले, चटाई डाली गयी, बाबाजी महाराज विराजे, बाउरी लोग घेरकर बैठे। कुलवृद्ध अक्रूर बाउरी उठ खडा हुआ। हाथ जोड़कर बोला, "क्षमा माँग रहे है। बाबाजी को गाँजे की जरूरत हो रही होगी, बस हमे इसके लिए क्षमा करें। हमारा दैन्य ! तिरनाथ मेले के नाम पर पहले इस बस्ती में खूब गाँजे की धूम मचा करती थी, जिस दिन से अपना गाँव इस तरह सामलाती हो गया, हमने मण्डल-सभा बुलाकर निष्पत्ति कर डाली कि अब इस गाँव मे और गाँजे का दम नही भरा जाये।"

आरत पण्डा मुग्ध हो चुके थे। कहा, "नही, नही बाबा, मैं गाँजा फूंकनेवाला नही हूँ। बोलो, सब ठीक है तो ? खाना-पीना, देह, चलन—क्यो पहले की तरह ही है, या कुछ बदला भी है ?"

"हाँ महाराज बदला है।" एक-एक कर उनमें से कहता गया। केवल बदला

अकलन अगणित मानव-समाज की बात, कोई बुद्धदेव के प्रभाव से प्रभावान्वित, कोई किसी और महापुरुष के प्रभाव से, किसी-न-किसी अंश तक सफलता पायी थी। बाद में वह समय बीत गया है, वह गोष्ठी खो गयी है, जहाँ एकदा जनाकीर्ण ग्राम या जनपद के पार से नदी की धार बहती, आज वहाँ बना है खेत। वे सोच रहे थे कि राजनीतिक स्वाधीनता अत्यावश्यक है पर अर्थनैतिक स्वाधीनता के बिना गोष्ठी का विनाश ही निश्चित है, परन्तु नैतिक स्वाधीनता न होने तक आदमी जीवन का उपभोग कर सकेगा नहीं, सृष्टि के साथ समन्वय रखने का आनन्द पा सकेगा नहीं। रुककर सोचा, शायद यह भी नहीं, नैतिक या राजनैतिक भी नहीं—सारी नीति सारे नामों के ऊपर है जीवन। उसका आरम्भ नहीं, बीच नहीं, शेष नहीं। उसी के बीच नि:शब्द पत्ता झर जाता है, पत्ते की कली नि:शब्द खिल उठती है, फूल की पखुड़ी खुल जाती है, अलक्ष्य में ही हवा में केशर उड़ जाती है, और कहीं लगकर आरम्भ होता है नयी सृष्टि का। सोचते-सोचते क्या इसी को मानव धर्म का वेश पहनाकर खड़ा किया था उपभोग करने के लिए? किसी ने अगर देह-सुख को लाकर धर्म के साथ गूँथ दिया था तो कोई ले आया था रूप-रस के उल्लास को। यही क्या उस योग-साधना का हेतु था कि जिस उपाय से हो, अपनी चेतना को चारों ओर परिव्याप्त सृष्टि के साथ जोड़कर जीवन को अनुभव किया जाये?

नहीं, यह भी चित्त की ही एक अवस्था है, सीमित, रूपबद्ध, पूर्ण-सत्य नहीं। लगता है, सत्य शायद अनुभव किया जा सकता है, वर्णन उसका नहीं हो सकता।

आरत पण्डा नीचे रास्ते के बीच में रुककर खड़े हो गये। चारों ओर खाली-ख़ाली खेत, फटकर मुँह बाये माटी, बीच में थोड़ी-सी गोचर। वहाँ तनिक छोड़-छोड़कर ऊँची-ऊँची वाम्बियाँ, मानो कोई वाम्बियों की सभा बैठी हो। ध्यानस्थ होकर अतीत के कई योगी बैठे हों। बीच में एक बबूल की झाड़ी गोल होकर डाल-पत्तों से भरी-पूरी है। नारंगी रंग के सूर्यास्त में रंगीन साड़ी बाँधे खड़ी है, ठवनि दिखाकर तरुणी हो रूप का सम्भार खिलाकर वह खड़ी है उन्हीं योगी-ऋषियों के बीच। सामने सूर्य अस्त हो रहे है, ऊपर आधा तो मेघों से ढूबा हुआ है, एक विराट् लाल गोलार्ध दबता-दबता जा रहा है, आकाश में अपरूप वर्णच्छटा। ख़ाली नीचे रास्ते पर नाना रंग ढुलकते जा रहे है, उड़ती-उड़ती जा रही है झुण्ड-की-झुण्ड चिड़ियाँ, क्षण-भर दिख जाती है, अगले क्षण नहीं। क्षितिज पर गाँवों की सघन अमराई दिखायी पड़ रही है। उनके ऊपर रंग-रंग के बादलों के टुकड़े। ऊपर का ढक्कन खुल गया। समूचा सूरज दिख रहा है, सीधे ताक रहे है उधर, सारा अन्तर थरथराकर भेदता जा रहा है एक व्यक्तित्व का स्पर्श। कुछ सोच नहीं पाते!

दूर से धूल उड़ती दिखायी दे रही है, मानो एक धूल की बदली फाँके खुले खेत की विस्तृति पर पसरी दिख रही हो। विराट् हिस्सा घेरे है, अस्त जाते सूरज की किरणों से नारंगी वर्ण, सुनहली और लाल रंग में लथपथ होकर धूलिपटल माया के कोहरे की तरह दिख रहा है। पास आते-आते दिख जाता है मानो उन मायावी कोहरे में मायारूप को धरे खड़े हैं एक-दो ताड़ और खजूर के पेड़। कहीं जगह-जगह अकेला-दुकेला बड़ा और घना पेड़ है, रंगणि धूल की बदली की लहर आहिस्ते-आहिस्ते सूने-ही-सूने में उलट-पुलट होने लगी है। उसके ऊपर नाना रंगों की आड़ी-टेढ़ी लकीरें नाना भावों की छवियों से भरा अनन्त अकलन आकाश।

आरत पण्डा उसी दृश्य को देखते-देखते अचम्भे से भर उठे। क्यों इधर इतनी धूल उड़ रही है? गोधूलि वेला की तो यह धूल है नहीं, वह तो क्षितिज के आगे सारी कतारों में टँगी रहती है।

शान्ति से माटी में मिलकर सोया था टुकड़ा-टुकड़ा अतीत, युग-युग का अतीत, नये रंग से नये प्रकाश से मनलुभा मायारूप बनकर उस दिशा को ढाँपे है। चलते-चलते सचमुच जैसे आरत पण्डा ध्यानस्थ हो गये हैं।

कल्पना में बहते चले गये। ऐसे तो अतीत में कितने ही रौंदते आये थे, कतार-के-क़तार, कदम बढ़ाते राज्य-विजेता आक्रमणकारियों के दल।

कलिंग की छाती पर मगध के राजा अशोक का संहारक अभियान? जलाओ, मारो, काटो, भस्म करो, ध्वंस करो—यही सब!

या कोई कालापहाड़ की मुसलमान-सेना?

समय-समय पर अन्य फिर कोई?

नहीं तो प्रेम और आनन्द के महाभाव में पागल चैतन्य और प्रतापरुद्र (श्री चैतन्य के उड़ीसा आगमन के समय के उड़ीसा के राजा) समेत विराट् जन-समुदाय?

या यह वही—महात्मा गांधी के साथ-साथ इस देश का जन-समुद्र है—भारतमाता की वन्दना गाते-गाते स्वाधीनता की माँग बुलन्द कर छाती-से-छाती मिलाकर एकता में बँधे आ रहे हैं—एक-एक नहीं, टुकड़े-टुकड़े में नहीं—एक उद्‌बुद्ध भारतवर्ष!

प्राचीन धरती की इस जादुई धूल की ओट में छुपा होता है ध्वंस या नूतन सृष्टि, रहता है मृत्यु या जीवन का जुलूस, यह मानो वही युग-युग की तैरती छाया हो, उसका क्रान्तिकारी रंग विह्वल करता है, अपने अंग से न सहने पर उसका तात्पर्य पहचान में नहीं आता—दूर से बढ़ती आ रही ढेर-की-ढेर लहरों की तरह, उनके पीछे और पीछे कतार-की-क़तार, वे उठायेंगे कि पछाड़ेंगी कि लुढ़कायेंगी।

चल रहे हैं दोनों पैर, आगे-ही-आगे, और वह लाठी का पोला, कितने देश

घूमा। कितने दिन, कितनी रात, कितनी ऋतुएँ, कितना धूप-कोहरा भेदते हुए चले आ रहे हैं मानो सन्त मुकद्दम जहानियाँ पीर, मक्का-मदीना से निकल इस धरती का बहुत बड़ा हिस्सा घूम चुकने के बाद सामने वो पवित्र तीर्थ, जहाँ प्राची चन्द्रभागा में घुलकर चित्रोत्पला मिल गयी है समुद्र से। सामने सचमुच तो यही हैं, सामने नाना रंगों का औटा-औटी हुआ सूर्यास्त के समय का वही माया-समुद्र। अबकी वह विख्यात बालिबन्त (टीला) पर लाठी टेककर खड़े हुए देख रहे हैं—सन्त मुकद्दम जहानियाँ। यही क्या यात्रा का अन्त है—कहाँ मिस्र, अरब, मंगोलिया, तिब्बत और उत्तर से दक्षिण सारे भारत में घूम चुकने पर दक्षिण से उत्तर को बढ़ते-बढ़ते अन्त में इसी बालू के टीले पर सन्ध्या। और अन्तर से पुलक से जल रही है सुगन्ध की अमिट धूप-बत्ती, अपनी महक बिछाती जा रही है घुमक्कड़ हवा में। चेहरे पर वही स्नेह-शीतल प्रशान्त अपूर्व ध्वनि, आँखों में वही अविस्मरणीय दृष्टि जिससे दिख जाता कि सब कुछ उँडेलकर इन्होंने सब कुछ पा लिया है, और होठों पर थी उस बाँक में प्रशान्त अनाविल आनन्द और विश्वास की वह विद्युत्-रेखा, जो कहती है—

"आदमी को मैंने देखा है सुख में, दुख में, पहाड़ में, मरुभूमि में, और हरे-भरे खेत में। उसका रंग भिन्न-भिन्न दिखता है, परन्तु उसके अन्तर में वह एक ही ज्योति है, और अखण्ड यह मानव-जाति, एक ईश्वर की सन्तान है, शान्ति और आनन्द उसका जन्मजात अधिकार है, स्नेह और भाईचारा।"

आरत पण्डा ने उसी बालू के टीले पर से नीचे की ओर सामने देखा। इस बालू पर क़तार-के-क़तार काजू के पौधे घुटनों-घुटनों-भर के हो आये हैं। सामने फैली है धरती। उस धरती पर जगह-जगह दो-तीन सौ लोग बिखरे हुए माटी खोद रहे हैं। विराट् एक जगह को घेरकर एक सुन्दर खेत आँखों के आगे तैयार दिखता आ रहा है। उससे तनिक दूर पर दिख रहा है बाग़-बगीचे के झुरमुटों से घिरा गाँव!

तो यही है फूलशरा! छन् से आरत पण्डा के मन में धारणा फैल गयी। पुलक आनन्द से वे देखते रहे। माटी नहीं, जड़ता और अँधेरे के तले से उखाड़-उखाड़कर आदमी यहाँ जमा कर रहे हैं शान्ति, आनन्द। यहाँ जीवन झलक रहा है।

अतीत में खो गया हो पाटेली गाँव में उनका घर। फूलशरा में और भी बड़ा घर है, और ये ही तो उनके बाल-बच्चे हैं, कन्धे-से-कन्धा मिलाये हुए।

काम पूरा होने को आया। काम के बीच वे भी उन्हें कुतूहल से ताक रहे हैं, सूने टीले पर अकेली एक विचित्र मूर्ति को। और थोड़ी देर में तो, काम पूरा हो गया, वे उनके पास आ गये। देखते-ही-देखते जान-पहचान हुई। फिर तो हर्ष-ध्वनि चारों ओर भर गयी।

इस इलाके में आरत पण्डा लौट
आये हैं, आज दिन मे ! कितने गाँवों के
नहीं—आरत पण्डा सोच रहे थे—इन
हैं, अतीत झर नहीं गया है, सहेजा गन
कल्पना, आज उसने रूप धर लिया है
यही तो उसका प्रकाश है। चारों ओर
लहरियाँ उनके चारों ओर खेलती-फिर
हो गये।

लहरें बढ़ी आ रही है, अब छाया
पास-ही-पास घुलती-मिलती, और इतने
ही बने हैं। साँझ हो आयी। छाया लौट
बगीचों की सघनता, घरों की छान, सब

आये हैं ! पाटेली गाँव न जाकर फूलझरा
लोग आज यहाँ जमा हैं। नहीं, कोई अलग
प्रत्येक ओर ये सब मेरे अतीत के स्वप्न
हैं, परन्तु तब यह था मात्र विचार और
इन इतने घटो मे, चेहरो पर, आँखो मे,
मानो समुद्र की अगणित पुलकित किशोर
रही हैं। जहानियाँ पीर उस समुद्र मे लीन

लम्बी हो आयी। एक जगह इतनी छाया
जो मानव-रूप हैं, सब मानो कि छाया से
रही है, छाया के अन्दर, बाँस का वन,
उसी छाया के रूप !

रवि सोया था, अचानक नींद से जाग उ
आरत पण्डा। जितना कहा, घर में नह
चाँदनी ढुलकी हुई है, निरख रही है चुप
अकृत्रिम चेहरे की सोयी हुई आभा को।
मे उसने बहुत सुना है। पाटेली गाँव के आ
स्मृति में अमिट इतिहास बन चुका है,
हैं। लोग सचमुच सोच रहे हैं—इतने ब
लन के पर्याय मे वे जब गाँव-गाँव मे इतन
थे, शायद वे अब और नहीं हैं। सच तो
चली गयी है। तब के लोगों में जो बचे
पर भी उनकी वर्तमान की स्थिति लोगों
वे कहीं नहीं हैं, न किसी गद्दी पर है, न
कोई चुपचाप बाबाजी-सन्यासी की तरह
तो कोई सुक-सुक कर रहा है, किसी से
से बदलकर वह केवल ससारी बुद्धि, ससा
दया का पात्र है। जीवन का बोझ सब
जीवन में उल्लास सबको नहीं मिलता
कितने दिन ?

दीर्घ साँस छोड़कर रवि ने गाँव के

ठा। सब सोये है। बाहर पेड़-तले सोये है
ी ही सोये। उनके जंगल-घिरे चेहरे पर
चाप शान्ति से टूटे हुए त्याग-तपस्या-कृश
तनिक देखकर रवि थम गया। उनके बारे
रत पण्डा का नाम इस इलाके के लोगो की
अथच भुलाये जाकर भी वे अविस्मरणीय
ड़े व्यक्तित्व के तेज से स्वाधीनता-आन्दो-
ी उत्तेजना फैला देते थे, उन्माद भर देते
नाव जैसे दिशा मोडकर मानो घूमकर
हुए है, वे मानो जीवित शहीद हैं। जीने
की स्मृति से लोप हो चुकी है। जुलूस मे
आसन पर। इस जीवन मे होने पर भी
जीवन बिताये चल रहा है, कोई रुग्ण है
मानो कला-हरण हो गयी है। महापुरुष
ी वृत्ति के अनुसार साधारण प्राणी और
ढोते हैं, जिसका जितना रास्ता। परन्तु
। जिसे मिलता भी है, तो कितने क्षण ?

बीच की ओर नज़र घुमायी। पेड़ों की

फुनगियाँ झिलमिलातीं। धरती पर धूप-छाँही हलचल करता, अँधेरे के कोने-कोन में चाँदनी करता हुआ, चन्द्रमा खिला है। रवि अपने अन्दर एक उत्तेजना का अनुभव कर रहा है। कोई उसे खोज रहा है, कोई उसे बिसूर रहा है। याद आ गये माँ, पिता। दोनों का दो प्रकार का स्नेह। एक का पूर्ण आत्म-समर्पण का, और दूसरे का विरोध का। दोनों जगहों पर स्नेह ही है, गहरा स्नेह।

पिता और माँ, चिरन्तन स्नेह के बन्धन की याचना करते दो जोड़ी हाथ। चिरकाल अपने पास उसे सहेज रखना चाहते हैं वे हाथ। अब शिथिल हो धरती पर टिके पड़े होंगे।

वे चाहते थे उसके सुख की खातिर, हित के लिए उसे ब्याहकर संसारी बना देना।

गाल पर हाथ दिये दूर चाँदनी के धुंधले समुद्र की ओर देखते-देखते वह अपने आप पकड़ में आ गया। स्पष्ट समझ गया कि जिसके लिए वह नींद से खिंचकर उत्तेजना में भरा बाहर उठ आया है, वे माँ या पिता नहीं बल्कि छवि है। प्यासी दृष्टि से वह दूर देखता छवि को आँक रहा है, उसकी उस लहर में धीरे-धीरे हिलती-डुलती वह गयी उसकी वे निरीह आँखें। अपनेआप में विभोर होने की तरह वह दृष्टि, जो अचानक छलछला उठती, कौतुक से हँसती। नहीं तो जहाँ अचानक भर जाती थमे तूफानी आकाश में बिजली, तब उसका स्थूल रूप पिघलकर हो जाती एक महाभाव!

जोगी-बस्ती, पाण (डोम)-बस्ती, बीच में पाटेली गाँव के सामलाती में उस दिन शाम को उत्सव हो रहा था। स्वयं रवि सिन्धु चौधरी के घर गया था—उन्हें और छवि को कह आने के लिए। उसका वह जो उत्साह, छाती के अन्दर जो आनन्द की पुलक—फिर वहाँ धक-धक होने लगी। छवि के प्रति उसका इतने दिनों का संचित आवेग फिर अपने अन्दर से निकल उसकी आँखों में माया-अंजन पोत गया। उसी मोह में फिर उसने कल्पना में देखा उसी दृश्य को, और फिर उसके पीछे-पीछे के कई दृश्यों को, मानो बार-बार वे उसकी आँखों के आगे अभिनीत होते जा रहे हैं।

और इस सुनसान रात में, जब वह अपने चरम भाव में तल्लीन है, उसे लग रहा है कि उसके जीवन का वह भाग उधर है, एक साथ हुए बिना इस जीवन की सार्थकता कहाँ? पारद का एक अंश और एक अंश के साथ मिलने से पूर्व शायद ऐसा ही लगता है, उसमें किसी प्रवणता का आलोडन। अपने मन को आधी नींद में टटोलने की तरह वह क्षण-भर सोचता रह गया। और सोचने लगा कि यह क्या उसकी विशिष्ट दुर्बलता है, या किसी स्वस्थ मानव-व्यक्तित्व की बिलकुल साधारण प्रवृत्ति, कोई पाप नहीं, पुण्य नहीं, सिर्फ दैव का इंगित—कि युवक-युवती एक हों, प्रकृति की लीला पूर्ण करो, सृष्टि को चिर श्यामला करो, सतेज

करो !

अपने साथ लडते-लडते वह फिर हाथ उठा लेता है नि.सहाय भाव से, बहाव के तोड मे बहता चला जा रहा है। हर्ज भी क्या है ? वह सोचता है कि ससार तो यही चाहता है, यह अपनी दुर्बलता नही है, यह तो स्वाभाविक परिणति है।

दिख जाता है सामलात की सभा में कितने लोग जुटे थे, स्त्री-पुरुष। वहाँ छवि भी बैठी थी। अब भी देख पा रहा है—हँसते समय उसके होंठो की भगिमा, उन दाँतों की चपल चमक, एक बार कौधकर उसके अन्तर तक मे हलचल मचाकर फिर वह मुँह बन्द हो जाता। उसकी आँखो के भाव-समुद्र में विचित्र प्रकाश, बिना बोले भी कितनी बातें वह कह जाती। कान तले उसके गाल-माथे पर वो थोडी-सी जगह जहाँ लहराती-सी लटे खेलती। गरदन घुमाते समय गले के पीछे की ओर। उसका जरा-जरा-सा हाव-भाव। कब वह दोनों हथेलियों को पास-पास कर अँगुली मे अँगुली फँसा कैसी पागल मुद्रा बना रही है, कभी होंठों की रेखा पर अँगुली का सहारा लगाकर उझकती देख रही है। नासा धीमे से फूल उठता है, दब जाता है। कभी कोने-ही-कोने से देखते-देखते अचानक छवि की नज़र उसकी दृष्टि की पकड में आ जाती है, वह सिर झुका लेती है। कभी उसकी दृष्टि छवि की समस्त देह पर टिक गयी थी, और वह स्वय उसकी आँखो द्वारा पकडा गया है, उसकी देह वाष्पायित हो उठी। दृष्टि मे, कामना मे वही छोटा-छोटा देन-लेन बोझीले विचार और युक्तियों के नीचे दब-दब जाता है, वे सब फिर उसके आगे, ख़ूब बडे-बड़े होकर प्रकट हो रहे है। देह के किसी क्षुब्ध अश या भाव की छटा का ध्यान करते-करते चेतना मे उठ आती है छवि की समग्र देह, वही उसकी अपूर्ण कामना का दूसरा पहलू। उसी को सोचते-बिसूरते उथल-पुथल हो उसके मन मे भिन्न-भिन्न दो प्रकार के भाव आ रहे है, कभी वह कामना आशा मे तेज हो उठती है, परिणति पाती है, अदम्य उल्लास और मनोबल आता है। तब इस ससार की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना उसकी ओर उदार स्नेह से सहायता और सहानुभूति की प्रतिश्रुति मे परिपूर्ण है, सब जगह वह अप्रतिहत है, कभी वह सिर्फ विरही, खिन्न, निराश, खण्डित, बिलकुल अकेला है। जो कुछ देखता है सब रूखा-नि सार है, केवल कर्कश स्वर सूखी बजर ककरीली, अटूट बालूचर है, उसमें कोई वैचित्र्य नही, जीवन नही, बस धधकती छाती है।

कहाँ से तैर आती हे यह ताज़ी वा। इसमें नाना फूलो की महक है, नये पत्तो का कोमल स्पर्श है। चाँद झिलमिला रहा है, नारियल की धीमे-धीमे हिलती फुनगियों के पत्तो की फाँक मे, धूप-छाँही होकर नाना प्रकार के विचित्र पेड खड़े हैं, हलचल मचाती एक जोडी टेंटेई की चोचियाने लगी है। सब प्रतीक्षा कर रहे हैं, चुपचाप खड़े होकर खेल देख रहे है।

अचानक मानो उसे होश आया। वह यहाँ कहाँ आया है ? पीछे की ओर हाथ

वह बन जाये चाँदनी रात में अनचाही जरा-सी छाँह, अदेही, अबाघ, अनजाना, गुनगान।

चिन्तन के उत्तर क्षितिज पर फिर वही चेहरा, वही देह। फिर भी उनकी वही निगाह। परन्तु देखने का ढंग बदल गया है। तनिक पहले जो लालसा और लोलुपता मन में भरी थी, मानो उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया आयी है। अपने ऊपर कठोर विचार, क्षोभ, अनुताप। करुणा में लड़खड़ाता वह विकलतापूर्वक देख रहा है उन देह की ओर। उनकी दृष्टि में, भंगिमा में, चेतना के मोड़ में ठवयुत जैसे वही भावना, मानो किसी तरुण अनभिज्ञ पति को अचानक अभिभूत कर देती है—जब वह पहली बार अन्तःसत्त्वा अनहायी आसन्नप्रसवा स्त्री को देख सिर झुका विकल होकर सोचता है और फो-फो दीर्घ श्वास छोड़ता है, विचारता है कि इस स्त्री में उसके प्रति इतना स्नेह, इतना विश्वास, इतनी निर्भरता है। जब देखो अकुला होकर उसे प्रसन्न करने को सरल मन से इतना आग्रह भरा, इतनी तत्परता। ऐसा ही हुआ उसका परिणाम कि अन्त में उसे जाना पड़ रहा है यम के द्वार पर अपना अनिश्चित भाग्य परखने के लिए ' और तब वह स्वयं से कहता है—पशु, बर्बर, मूर्ख, वैराग्य का गेरुआ ओढ़कर मन-ही-मन कहता है—भाग्य सुधार लेने के लिए।

काश तनिक और सुयोग मिलता, एक बार!

छन् से टूट जाती है यह अवस्था।

मन की फिर नयी स्थिति, चारों ओर एक और ही प्रकार की। नींद टूटने के तनिक देर बाद नींद की ख़ुमारी जैसे टूट जाती है, और लगता है कि मन में जो तुनतुना रहा था, वह तो सपने की बात है, सच नहीं। स्वयं क्षुब्ध होने लायक कुछ भी तो उसने नहीं किया।

तब फिर क्यों?

तो भी उसके मन के अन्दर भीगा-भीगा नरम भाव, और वेदना की अस्पष्ट झंकार उसे समेटे है।

वह भी साफ़ हो गयी, अनुभव कर पा रहा है—यह चाँद, यही वह प्रिय गाँव, उसकी कर्मभूमि, जहाँ भावना ने लिया रूप। अनुभव कर पा रहा है—आज उसी शुभ आरम्भ की सालगिरह। कितने लोग। कितना उत्साह, आनन्द। हँसी-ख़ुशी से झूमते छोटे से लेकर बड़े तक इतने चेहरे पास-पास दिख जाते हैं। किसी को छन-भर का ख़याल नहीं, यह उनके चलन का नया ढंग, जीवन की धारा है। किसी एक ने उसे नहीं गढ़ा, वह तो अपने आप ही मानो अंकुरित हुई है, बढ़ उठी है।—एक मानो दूसरे का अवतार, सब अवतार हैं उस एक ही भावना के—शान्ति के।

"वे मुझे चाहते हैं।" किनारा तोड़ती बाढ़ की तरह घूँ-घूँ करता उल्लास

आनन्द उसकी चेतना मे प्रवेश कर रहा है। वह खुल रहा है, बिछा जा रहा है।

दिखायी पड़ते जा रहे हैं और कितने गाँव, कितने आदमी, आदमियों की दुनिया-भर मे धारणाएँ वह गयी हैं। वह ख़ुद एक नही, अनेक है।

रात कितनी होगी? तीन या दो? गहरी नीद मे सोये हैं सब। कितनी संघर्ष-चेतना! कितनी समस्याओं के दाग, जलती सलाख से दागने की तरह। अब वे सब सोये होंगे।

आदमी का आकार या चेहरा आदमी नही, घर है। कोई वामन, कोई असुर की तरह—देखकर आँखों को भ्रम हो जाता है। सचमुच जैसे यह देह घर नहीं, देह ही स्वयं आदमी है। परन्तु घर के भीतर का आदमी भी कभी-कभी पहचान में आ जाता है, रक्त-मास के नीचे छुपा व्यक्तित्व। कभी लगता—असुर की तरह चेहरे के अन्दर दुर्बल शिशु की तरह आदमी, या नाटे शिशु के अन्दर किसी मैं मजबूत आदमी, निडर, विचारपूर्ण। परन्तु कितने हैं वैसे? अस्थिर, लड़खड़ाते, अशान्त आदमी। जीवन में सुख-शान्ति क्या है उसे पहचानने से पूर्व ही उम्र पूरी हो जाती। पल-भर शान्ति और चैन पाने के लिए सारे जीवन-भर भरमक लड़ना। स्वयं शंका कर वह संसार की भीति-आशंका बढ़ाता, ख़ुद स्वयं को साज-सहेजकर बढ़ाता है स्वार्थ, द्वेष, भाग्य की अनिश्चितता। घर बसाने जाकर बना डालता है मशान। उसकी तेज बुद्धि से बना विज्ञान का उपयोग होता है उसी के विनाश के काम में। अत्यन्त विज्ञता से निर्मित समाज हो जाता है विशृंखल जंगली समाज, जहाँ एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध खाद्य-खादक का है। स्वार्थ, नीचता, क्रूरता, अनीति चल रहे हैं एक साथ मिल-जुलकर, मानव-जाति के ध्वंस के लिए, प्रलय-हुताशन बनने की खातिर। चेत उठना ही होगा, रुँधना पड़ेगा, क्योंकि आदमी को चाहिए—शान्ति!

शान्ति!

कितनी बातें हैं उस एक ही शब्द मे!

जितने, जहाँ, जो जन्मे होंगे, सबके मुँह के लिए आधार होगा। सबके रहने के लिए छत होगी। सबके लिए समान अवसर, ताकि वे पढ़-लिख सकेंगे, आदमी बनेंगे, श्रम को कार्य मे लगाने की सुविधा पायेंगे, बीमार होने पर चिकित्सा की सुविधा पा सकेंगे, जब काम कर चुके होंगे तो पायेंगे साज-सँभाल, सेवा-आदर, चैन से, आनन्द से जी सकेंगे, मर सकेंगे।

ताकि कोई उनका ख़ून न चूस सके, कोई कन्धे पर सवार न हो सके, कोई लाल आँख न दिखा सके, नाक-भौंह सिकोड न सके, भेद-भाव न कर सके, कोई 'वे' कह न सके, 'हट्' भी न कह पाये!

स्नेह, विश्वास का देन-लेन, समझ-बूझ और ठोस भाईचारे के अन्दर गुँथी-बँधी एक धरती, एक घर। जीवन वहाँ सरल, सुन्दर, आशा-आनन्द में उज्ज्वल;

नित्य नये विकास में वैचित्र्यपूर्ण।

उसी का नाम—शान्ति।

कैसे होगी ?

शान्ति-शान्ति का मन्त्र जपने से तो कुछ होगा नहीं। शान्ति का अभिनय करने से तो अशान्ति ही बढ़ी है। अनन्त काल से कितनी बार हुआ है शान्ति के लिए उद्यम पर यह चिरस्थायी नहीं हो सका।

होगी, किसी-न-किसी दिन। अवश्य होगी।

नहीं तो यह मानव-जाति बचेगी कैसे ?

यह पृथ्वी जलकर राख जो हो जायेगी!

चाँद अस्त होता आ रहा है, दूर कतार-की-कतार नारियल के पेड़ों पर उतरता जा रहा है। उत्तेजित होकर रवि मन-ही-मन सोच रहा है—होगी, अवश्य होगी, केवल ये हाथ-पैर चलते-फिरते रहने की जरूरत है।

सचमुच जैसे वह निरन्तर चलता रहा है—उतार-चढ़ाव, धूप-छाँही रास्ते पर।

मुड़कर देख रहा है। छवि आ रही है उसके पीछे-पीछे।

और अब उसके मन में धुक-धुक नहीं है। शान्त हो वह चला गया और फिर सो रहा।

चिलचिलाती दुपहरिया!

पाटेली गाँव में अगणिराय दस जगह सिली मैली धोती बाँधे, सिर पर भीगा डोरिया गमछा डाले तटबन्ध के ऊपर चढ़ रहा था। उसका घर वहाँ से थोड़ी ही दूर है, बीच में बाँस का झुरमुट न होता तो उसकी छान दिखती। उसे कहीं जाना न था, पर खा चुकने के बाद ठूँठ की तरह अकेले अपने दरवाजे पर बैठे-बैठे खीझ-सी लगी। पहले इसी चिलचिलाती दोपहरिया में कितनी ओर घूमना होता, लोग अपना कलह का थैला खोलकर दिखाते, पैसा देकर बुद्धि लेते। उसी तरह प्रत्येक उत्तेजना को रास्ता दिखाकर हर चौथे-पाँचवें दिन शहर जाना पड़ता। पीछे-पीछे अपनी तरफ की कहानी लिये-दिये लोग उत्साह में जाते। हाकिम के आगे क्या कहना पड़ेगा, जिरह होने पर क्या कहना पड़ेगा, इसी तरह का गहरा सलाह-मशविरा चलता। राह-खर्च, खाना-पीना, शहर घूमना सब उन्हीं पर। घर लौटते समय कोट की जेब में नोट होते, पक्षवाले देते, पक्ष को जिसके पास जुटाते वह भी देता, दूसरा पक्ष भी कभी-कभी देता।

कहाँ गये वे दिन! हूक-सी उठ रही थी अगणिराय के मन-ही-मन में। सचमुच,

और वे दिन नहीं आयेंगे। कलह लगता, कहाँ-कहाँ से लोग आते और आपस में मेटकर चले जाते है, मुकदमा होना ही नहीं। लोग आते ही नहीं। घर चलता नहीं।

असहाय दृष्टि से नदी को धू-धू करती बालू को देखते हुए अगणिराय ने हवा में पेड़-पौधों की सांय-सांय, झांय-झांय सुनी, बायीं ओर देखा, तटबन्ध के तले इमली के पेड़ की जड़ में कोई बैठे है, उसे साथी चाहिए। उधर ही चल पड़ा।

इमली के नीचे तने का सहारा लेकर बैठा है बूढ़ा किणेई ओझा। नदी की ओर दृष्टि, सिर थोड़ा झुक गया है, माथे के बाल, आँखों की पलकें, छाती के बाल सब जूट हो चुके। बूढ़े की ठुड्डी पर चार अंगुल की रुपहली दाढ़ी। उस समय अगणिराय के विकल मन में बूढ़े के चेहरे को गौर से देखने की इच्छा हुई। पहलेवाली बात होती तो सदा की तरह सोचते—इस बूढ़े के सिर का मोल तो एक कौड़ी भी नहीं, जरा-सी बात पर आग-बबूला हो जाता है—न बुद्धि न विचार। परन्तु अब वह दिख रहा है—ऋषि की तरह, निश्चल, ध्यान में लीन-जैसा। बूढ़े का और उसका एक ही विचार है—सामलाती को लेकर, एक साथ मिलकर गाली दी जा सकती है, चाहे कोई सुननेवाला न हो!

पर श्रोता भी दो जन सुन रहे है। विका मुदुली खुरपी से तटबन्ध पर घास छील रहा है धीमे-धीमे, धनुआ केवट ने हाथ में लिया है एक छोटे जाल का काम। बैठा-बैठा बुन रहा है। विका मुदुली को अगणिराय की लिहाज नहीं। माई नहीं या कि गाय नहीं कि जिधर हिला दो झूल जायेगा, सही श्रोता। परन्तु धनुआ केवट कैसा तो अड़बगा-सा है। जो जिद पकड़ लेगा बस वही। समझते-बूझते लोगों के बीच भी अरणे, अबूझे, अड़बगे लोग होते है—अगणिराय ने सोचा, अपने खीझे हुए चेहरे की भौहे दिखा दी। अगणिराय उधर ही चलने लगा।

और पाँच घर कल सामलाती मे चले गये। धनुआ केवट ने उधर देखे बिना ही कहा। मजाक़ के लहजे मे पूछा, "बताना तो कौन-कौन है?"

विका मुदुली ने खुरपी से खोदते हुए कहा, "जानता हूँ!"

किणेई ओझा ने कुछ नहीं कहा, कछार पर जो पीपल का पेड़ खड़ा है उसकी डाल हवा में झूल रही है, अधर में नाना ढग से वह हिल रही है, नाच रही है। किणेई ओझा की निगाह मानो वहीं अटक गयी हो—धुंधले आकाश के आगे एक हिलती पुरानी डाल। धनुआ केवट का प्रश्न···फिर अगणिराय ने मुँह बिदकाया। कहा, "पाँच हुए तो क्या, और पचास हुए तो क्या?"

विका मुदुली ने कहा, "वही तो।"

अगणिराय ने धनुआ केवट से पूछा, "तुम कब सामलाती मे मिल रहे हो?"

धनुआ केवट ने गुप्त रहस्य के बारे में चर्चा करने के ढग से कहा, "जाल की

चुनाई तो चल रही है, देखते हो।"

अगणिराय में उत्साह न था। और कुछ बोले बिना वह चुपचाप नदी की ओर देखता किणेई ओझा के पास बैठे रहा। उनकी भंगिमा में क्लान्ति और पराजय के चिह्न थे।

मन-ही-मन जितना चाहे, पर समय उनकी मुट्ठी से खिसकता जा रहा है, स्वत. तृप्ति नहीं जा रही है, कहा न माननेवाले और मनमानी करनेवाले दल बढ़ उठे हैं, गुट बाँधकर उसकी जड काट दी है। उसे और कुछ कहना नही।

हवा में तैर आयी मृदंग की आवाज, और साथ में रुक-रुककर छन्दमाला की पंक्ति का गाना। किणेई ओझा अचानक सीधा होकर बिलबिला उठा—

"सुनो, रावण वध !"

"रावण वध, या सीता-वनवास, कैसे जाना ?"

सिर हिला-हिलाकर किणेई ओझा ने कहा, "ना, ना, रावण-वध।"

धनुआ केवट ने कहा, "अपने बचपन से हमने देखा है खुद उस तख्ते रावण नाचता है, जान नही सकेंगे क्यों ? सचमुच आज साँझ को सामलाती में रावण-वध करेंगे।"

उसमें भी अगणिराय को उत्साह नही। उपहास की-सी सूखी हँसी में कहा, "हूँ !"

परन्तु किणेई ओझा कान लगाये रहा, मानो एक ही झटके में वह उस भूले अतीत की ओर लौट गया है। झटका चला गया, बाद में वह विकल होकर असहाय भाव से अपनी दुर्बल बाँहों को उठा हाथ की ओर देखने लगा। कलाई मरोड़ी, हथेली उलट-पलट की, देखा, केवल नस-नस और झुर्रीदार चमडी। उसने एक गहरी साँस छोड़ी। वह सोच रहा था, तब प्रतापी लकेश्वर बनकर मच पर खडा हो जाता तो भीड़ में हलचल मच जाती, परन्तु वो तो कब की बात हो गयी, उसके बाद तो कितने ही लोग रावण बनकर नाच चुके हैं, उसके दिन तो कभी के चुक गये !

और साथ-साथ वे पुराने दिन भी लद गये हैं। इस ज़माने में तो छोकरे बने हैं मुरब्बी, पुराना चलन भी गया कही नहाने, छोटा-बडा, छूत-अछूत सबका विचार डूब गया। निजी या अपना कहने लायक कोई बात ही नही रही, बस गुट, सामलाती, औरतें बीच बाजार घूमती फिरेंगी, मरदों की तरह काम-धन्धा करेंगी, मान-अपमान रह ही नहीं गया !

दो दिन के खेल की तरह सामलाती टूट जाती तो वह उसे हँसी में उडा देता और उन लोगों को कहता, "तब तो मेरी बात में गन्ध आ रही थी, मैंने कहा था कि नहीं ?"

पुरानी देह का और भरोसा भी तो नहीं रहा, वह सुख देखना अब और भाग

मे नही। उन्ही का बल बढ रहा है, जिधर सुनो, उन्हीं की बात होती है। बस उन्ही की जयजयकार, ये कान और कितना सुनेंगे ?

दूर से दिखता है—कोई आ रहा है। दुर्बल, लडखडाता, एकदम बुढ़ऊ, शुकुटि पण्डित। शुकुटि पण्डित उत्तेजित है।

"किधर गये थे पण्डितजी ?" धनुआ केवट ने पूछा।

"अपना सराध करने।"

"आपका सराध ?"

"और किसका? ये देखो न, पूजा करने को कह रहा था, समझा-बुझा, लिखा-बताकर आया था, सारी व्यवस्था तो लिखवा दी थी, तालिका के मुताबिक सामान आता सात रुपयो का, मुझे ले-देकर और खरचा होता दो-तीन रुपये। आज कहता है क्या न कि ये तीन रुपये निकाले है, ढाई मे विधि-विधान से पूजा करवा दे, और आप लें दो पावली। तीन रुपये मे दुनिया-भर के देवी-देवताओ का वरण कर राजी कर विदा करूँगा। हे रे बेटे! कहने लगा तीन रुपये नही तीन सौ नये पैसे है, पूरे न पड़े तो न सही, और है भी नही।"

"किसकी बात कह रहे है पण्डितजी ?" अगणिराय पूछ रहे थे।

"अरे, वो हटिया···हटिया और कौन? पूजा नही करवानी थी तो ये इतना तमाशा लगाकर मुझे घाम-ही-घाम दौड़ाने की क्या जरूरत थी ?"

अगणिराय ने मुसकराकर कहा, "आप वैसे हो, तभी तो इतनी बात। नही तो कमर कसकर दफ़ा-पर-दफ़ा लगा देते कि बस बाप को मौसा कहकर बुलाना पड़ता—वह तो चीज ही क्या है? पर आप क्यों सुनने लगे हमारी बात ?"

शुकुटि पण्डित कहने लगे, "जाने दो, बाबा, जो जैसा करेगा, वह वैसा ही फल पायेगा। पूजा-मनौती बोलेगा क्यों और हँसी-ठट्ठा करवाये क्यों? न करवायी, न दिया कुछ, उस बात का कोई विचार मेरे मन मे नही है, ग्रह जानें, ठाकुरजी जानें, वे जानें, अपनी बात ख़ुद समझेंगे।"

विका मुदुली ने एक ही बात कही, "ठीक, बिलकुल ठीक।"

धनुआ केवट ने कहा, "ठीक-ठीक नही, गधे की टाँग। सुनिए पण्डितजी, चिढना नही। देखें। ठाकुरजी, देवता अब आपके रास्ते से बातें सुनते ही नही। हाथ-पैर चलाने पर, पसीना बहाकर काम करने से वे सुनते है। तभी पूजा-ऊजा मे लोगों का उतना पहले की तरह आग्रह नही रहा। पहले मैं ही कोई कम मानता था ?"

शुकुटि पण्डित बोले, "अरे, इस लोक में ना जीतेगा, उस लोक मे तातो वैतरणी पार होगा कैसे ?"

अगणिराय हँसकर बोला, "वो चिन्ता तब होगी। वैतरणी के ऊपर भी आदमी जाने के लिए पुल बन जायेगा।"

बात घुमाकर शुकुटि पण्डित ने कहा, "ओह ! ये जो घाम है !"
पेड़ के नीचे बैठ गये । कहने लगे, "किस घड़ी में आज आदमी निकल
धेला भी नहीं !"
अर्गणिराय कहने लगा, "आठ आना ही सही, मिल रहा था, ले
क्यों कर आये ? अगली वार के लिए मन करता तो खींचतान करते !"
बिका मुदुली ने कहा, "हाँ, ठीक-ठीक !"
शुकुटि पण्डित ने कुछ नहीं कहा ।
बैठे रहे पेड़ के नीचे वे तीनों, गाँव का पुरोहित, गाँव का टाउटर
दिनों में गाँव की दलबन्दी का नेता ।
कभी धर्म के नाम पर, कभी क़ानून और अधिकार के नाम पर,
स्वार्थ के लिए या ऐंठ के लिए कितनी बार उठाया है, गिराया है इस
कितने टूटे हैं, कितनों मे कितने कलह लगे हैं । अब यहाँ सब शान्ति है । न
नया मन है । उनका अब और जोर नहीं चलता, उनकी तरफ़ लोग नहीं
असर नहीं होता । युद्ध में जो नेता थे, शान्ति मे वे अख्यात हो गये ।
बड़े बने थे, प्रकाश में वे कुछ भी न रहे । जाल बुनना रोककर धनुआ
अपनी गरदन मोड़कर उपेक्षा मे उनके चेहरे की ओर देखा । उनके बारे
लगा ।
तब वे दूर देख रहे थे, वहाँ जहाँ कछार टूटकर दो पुरसा गहरा
की बालू चली गयी है, उसी कछार के कगार पर जगह-जगह एकाध
पहर की तपन में हिल रहा है, उसके उधर खाली खुला पड़ा है ।
धुँधला-सा हो गया । छाया उतर रही थी । कुण्डों की राख-सा
अकेले पेड़ के उस ओर बालू उड़ाता घूमाल उठा, पेड़ मानो मुड़-माड़कर
लग गये हों ।
तभी खुरपी रखकर बिका मुदुली तटबन्ध के ऊपर हाथ दिखा
चिल्ला "ओ···!" ··· वह सतरा कोम की पव
क ···
की पर ···
गयीं, ···
सिन्धु चौधरी की बेटी छवि, चांद, ···
और सबके पीछे रोहीनाथ की स्त्री दूस ।
बिका मुदुली ने हँसकर पीछे से पुकारा, "किधर ?"
दूस ने बताया, "तम्बीकूल !"
अर्गणिराय ने टोकते हुए कहा, "अरे, पगली, इस जलती दोपहर में
रास्ता तम्बीकूल, कहाँ री ?"
अमोघवाक : : भाग दो

दूल ने कहा, "उनके गाँव से हमें लेने जो आयी हैं। चार जनी गयीं, देखा नहीं ? हमारे यहाँ जैसा हुआ, उनके वहाँ वैसा शुरू किया है, सो हमें बुलाया है।"

अगणिराय ने आपत्ति कर कहा, "बुलाया तो क्या औरतें अपना घर-द्वार छोड़ चिलचिलाती दुपहरिया में पैदल जायें ! दो कोन ?"

दूल हँस पड़ी। बोली, "क्यों नहीं जायेंगी ?" वह दल से पिछड़ गयी थी। पीछे की ओर देखे बिना फुदकती-कुदकती चली गयी। किणेई ओझा चुपचाप बैठा था, अचानक सिर झटकाकर वह बोला, "कैसे ?"

यही उसका आक्रमण से पूर्व का संकेत है। परन्तु उस स्वर में अब ओर बल न था। वह आवाज उनके कानों तक पहुँची नहीं। वो चली जा रही है, देवदारु के जोड़े के नजदीक तक पहुँच गयी होगी। हवा के कारण साड़ी के आँचल फूल गये हैं। खूब उत्साह से जा रही है। मानो अनेक पाल उड़ाता-उड़ाता कोई बोहित जा रहा है।

किणेई ओझा ने दुर्बल आवाज में खँखारकर कहा, "देखते हो इनकी बात ! क्या समय आ गया !" हाँफ-हाँफकर कह गया, "गाँव-भर को पागलपन लगा है, जात-कुजात नहीं, स्त्रियाँ रास्ते पर फिरने लगीं, अपतिया गया, मागुणिया गया, गाँव के लोगों की बुद्धि नाश हो गयी। सब सत्यानाश हो गया है !"

भृकुटि पण्डित ने चीं-चीं कर कहा, "धरम-करम तो गया, आचार-विचार डूबा, सब उजड़ा, सब उलट गया !"

धनुआ केवट उठ खड़ा हुआ। कहने लगा, "क्यों, फ़ालतू बैठे 'गया-गया' चीखते हो ? क्या बिगड़ गया ? अच्छे आदमी हो ! हाथ से तिनका तो टूटे नहीं और बातें तीसमारखाँ की ! लम्बी-चौड़ी !"

"कैसे ?" किणेई ओझा चिहुँक उठे।

अगणिराय कहने लगे, "रहने दो, उसे कहने दो, भई !"

धनुआ केवट कह रहा था, "अच्छी तरह कहूँगा। जो आपकी बातें मानते थे वो सब सयाने लड़के तो हो गये ख़राब। आपके विचार आपकी अपनी सुविधा के लिए हैं। अब का विचार सबकी सुविधा की ख़ातिर। यही है आपके लिए अड़चन। और अब गँदला पानी नहीं कि मछली मारने का मौक़ा मिले। सब इसीलिए खड़खड़ा रहे हैं। आप लोग एक-एक जन्तु हैं, एक-एक जंगली सूअर !"

वह चला गया।

आगे तण्डीकल, यह नीला रास्ता पार करने के बाद। बगीचे का झुरमुट दिखायी पड़ रहा है। रास्ते में धुन्ध टूटकर धूप चिलकी थी, उसमें से दे- चिप-चिपा रही थी। घाम की चमक मुरझा गयी थी, आँखों के सहने लायक़ हो चुकी। पैरों को धूल अब और गरम नहीं लगती। वे चल रही थीं।

उस रास्ते के उधर थोड़ा-सा हरा-भरा। घने-घने बकुल के पेड़ घेरकर विमान

की तरह छोटा-सा पुराना मन्दिर दिख रहा है—ऊपर त्रिशूल ! उसके उधर सुन्दर पत्थर के रंग की तरह गाढा सब्ज थोडा-सा पानी। बायीं ओर दिख जाता है रास्ते पर सेमल का पेड़, लाल-लाल फूल झर रहे हैं और उसके पीछे गाँव तक आम का बग़ीचा लगा हुआ है।

आगे-आगे जा रही थी छवि। पीछे से सवारी मे किसी की वहू आयी। 'हाकुम देवोला हाकुम देवोला' कहते-कहते पालकी के कहार फुदक-फुदककर आगे चले गये। पीछे मे खिलखिलाहट सुनायी पड रही है। वात-चीत की आवाज़ आ रही है, साथ की औरतें सवारी के बारे मे बातें कर रही हैं।

मन्दिर पास आता जा रहा है। अब दिख रहा है, सीधे केवड़े की क़तारों के वीच गाँव को रास्ता गया है। पालकी गाँव के छोर तक हो चुकी होगी। नारियल के पेडों की छाया तले गाँव की बस्ती कुछ-कुछ दिख रही है। पालकी देख लोगों की भीड बढ गयी है। फिर भी वह दूर है। ढेर सारे पत्ते और धूल की भँवर घुमाता-घुमाता चला आ रहा है बगूला। सचमुच वह भी जैसे कोई अकेला बटोही हो।

कहते है—यही रास्ता जाता है फूलशरा।

कितनी दूर ? छवि उसी सूखे धूल-भरे रास्ते की ओर ताकती हुई तनिक रुक गयी। वे पीछे रह गयी हैं। बाद में, मुडकर चली गयी देवल के आगे बकुल की छाया तले। कोई कपोत गुटरगूँ-गुटरगूँ कर रहा था जो चुप होकर उसके चेहरे की ओर देख थोडी दूर उड़ गया। पोखरी के किनारे सफ़ेद गाय चर रही है।

छाया तले, बकुल के फूलों की महक, देह को हवा छू रही है। पलकें बोझिल-बोझिल-सी लग रही हैं। छवि ने झुककर बकुल के कुछ फूल उठा लिये और अँजुरी भरकर खडी हो गयी। उसके चेहरे पर हँसी भरी थी। मन-ही-मन वह देख रही थी रवि को !

पीछे से उनकी बात-चीत ने चुप्पी टूट गयी।

किसी एक ने कहा, "चल री, राह के किनारे छाया देख रुकने पर यहीं है" रह न जायें कहीं।"

हमारे अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यास

अमृता प्रीतम : चुने हुए उपन्यास	अमृता प्रीतम	90.00
कोरे कागज़	,,	15.00
कहां पाऊं उसे	समरेश वसु	75.00
वन्द दरवाज़े	सुमगल प्रकाश	50.00
कथा एक प्रान्तर की (पुरस्कृत)	एस. के. पोट्टेक्काट	50.00
मृत्युंजय (पुरस्कृत)	वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य	35.00
मृत्युंजय (तृ. स.)	शिवाजी सावत	75.00
अमृता	रघुवीर चौधरी	35.00
गोमटेश गाथा	नीरज जैन	25.00
शब्दो के पीजरे मे	असीम रॉय	20.00
छिन्न पत्र	सुरेश जोशी	12.00
स्वामी (द्वि. सं.)	रणजित देसाई	35.00
मूकज्जी (पुरस्कृत) (द्वि. सं.)	शिवराम कारन्त	27.00
सुवर्णलता (तृ. स.)	आशापूर्णा देवी	45.00
बकुल-कथा (तृ. स.)	,,	45.00
अवतार वरिष्ठाय	विवेकरजन भट्टाचार्य	10.00
भ्रमभग	देवेश ठाकुर	13.00
बारूद और चिनगारी	सुमगल प्रकाश	20.00
जय पराजय	,,	20.00
आधा पुल (द्वि. सं.)	जगदीशचन्द्र	14.00
मुट्ठी भर कांकर	,,	32.00
छाया मत छूना मन (द्वि. सं.)	हिमांशु जोशी	12.00
कगार की आग (द्वि. स.)	,,	14.00
पुरुष पुराण	विवेकीराय	8.00
माटीमटाल भाग 1 (पुर., तृ. स.)	गोपीनाथ महान्ती	40.00
माटीमटाल भाग 2 (पुर., तृ. सं.)	,,	40.00
देवेश : एक जीवनी	सत्यपाल विद्यालंकार	15.00
धूप और दरिया	जगजीत बराड़	6.00
समुद्र सगम	भोलाशंकर व्यास	17.00
पूर्णावतार (द्वि. स.)	प्रमथनाथ बिशी	25.00
दायरे आस्थाओं के	स. लि. भैरप्पा	9.00

नमक का पुतला सागर मे (द्वि. सं.)	धनंजय वैरागी	18.00
तीसरा प्रसग	लक्ष्मीकात वर्मा	
टेराकोट (द्वि. स.)	,,	
आईने अकेले है	कृश्नचन्दर	5.00
कही कुछ और	गंगाप्रसाद विमल	7.00
मेरी आँखो मे प्यास	वाणी राय	10.00
विपात्र (च. स.)	ग. मा. मुक्तिबोध	5.50
सहस्रफण (द्वि. स.)	वी. सत्यनारायण	16.00
रणागण	विश्राम वेडेकर	3.50
कृष्णकली (छठा स.)	शिवानी — पिपरबैक	20.00
	शिवानी — लाइब्रेरी	28.00
हँसली बाँक की उपकथा (द्वि. स.)	ताराशकर वन्द्योपाध्याय	25.00
गणदेवता (पुरस्कृत, छठा स.)	,,	42.00
अस्तगता (द्वि. स.)	'भिक्खु'	9.00
महाश्रमण सुनें ! (द्वि. स.)	,,	4.00
अठारह सूरज के पौधे (द्वि. सं.)	रमेश बक्षी	12.00
जुलूस (प. स.)	फणीश्वरनाथ 'रेणु' — पिपरबैक	8.00
	फणीश्वरनाथ 'रेणु' — लाइब्रेरी	12.00
जो (द्वि. स.)	प्रभाकर माचवे	4.00
गुनाहों का देवता (अठारहवाँ स.)	धर्मवीर भारती	20.00
सूरज का सातवाँ घोडा (दसवाँ स.)	पिपरबैक	6.50
	लाइब्रेरी	10 00
पीले गुलाब की आत्मा (द्वि. सं.)	विश्वम्भर मानव	6.00
अपने-अपने अजनबी (छठा स.)	अज्ञेय — पेपर बैक	5.50
	अज्ञेय — लाइब्रेरी	8.50
पलासी का युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	5.00
ग्यारह सपनों का देश (द्वि. स.)	सं. लक्ष्मीचन्द्र जैन	7.00
राजसी	देवेशदास, आई. सी. एस.	5.00
रक्त-राग (द्वि. स.)	,,	5.00
शतरज के मोहरे (पुरस्कृत, च. स.)	अमृतलाल नागर	12.00
तीसरा नेत्र (द्वि. स.)	आनन्दप्रकाश जैन	4.50
मुक्तिदूत (पुरस्कृत, च. सं.)	वीरेन्द्रकुमार जैन	13.00

□